अज्झप्प-सुत्ताणि

आचार्य वसुनंदी मुनि

ग्रंथ :

अज्झप्प-सुत्ताणि

मंगल आशीर्वाद :

परम पूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

ग्रंथकार :

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन एवं भावार्थ :

आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2022)

प्रतियाँ : 1000

ISBN : 978-93-94199-25-5

मूल्य : सदुपयोग

प्राप्ति स्थान :

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति
E-16, सै. 51, नोएडा (गौतमबुद्ध नगर) - 201301
मो.: 9971548889, 9867557668

मुद्रण व्यवस्था :

पारस प्रकाशन, दिल्ली
मो.: 9811374961, 9811363613 | ई-मेल : pkjainparas@gmail.com

सम्पादकीय

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेष बहिष्कृता।
भूतार्थ कथने यस्य स्थिरा स्यात् सरस्वती॥

(कल्हण राजतरंगिणी, 2/7)

वही मनुष्य गुणवान् श्लाघनीय है जिसकी वाणी राग-द्वेषों का बहिष्कार कर एक न्यायमूर्ति के समान भूतार्थ (सत्यार्थ) घटनावलियों को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करती है।

को णो जाणदि लोए विणा चंदं अक्कं जलं सिंधुं।
णेव जुण्हा पयासो, सीयलत्तं रयणाणि तहा॥

अज्झप्प विज्जं विणा, अप्पणाणं विहवं सुहं लहिदुं।
को अवि णेव समत्थो, वंदणीय-मज्झप्पणाणं॥

(आचार्य वसुनंदि मुनि)

लोक में कौन इस बात को नहीं जानता कि चंद्र के बिना चाँदनी, सूर्योदय के बिना सूर्य का प्रकाश, पुष्प के बिना उसकी गंध, इक्षुदंड के बिना उसका रस, चंदन के बिना चंदन की सुगंध, जल के बिना उसकी शीतलता, रत्नाकर के बिना रत्नों का सद्भाव असंभव होता है उसी प्रकार अध्यात्म ज्ञान के बिना कोई भी जीव आत्म-वैभव, आत्मसुख, आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। आध्यात्मिक विद्या का प्रज्ज्वलित दीप हाथ में लिए बिना आत्मा तक पहुँचना असंभव होता है।

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है लेकिन वह आधि-व्याधि, उपाधि से पीड़ित है। इनसे मुक्त होकर समाधि की अवस्था अर्थात् समता भाव की स्थिति में आना ही निराकुल सुख है। जिस प्रकार शारीरिक व्याधि अर्थात् रोगों का उपचार औषधि से किया जाता है उसी प्रकार आधि अर्थात् मानसिक व्याधि, अशांति से छुटकारा पाने का उपाय अध्यात्म का मार्ग है। अध्यात्म से मोह रहित ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य वास्तविक सुख पाता है।

आध्यात्मिक विद्या विश्व की सर्वोच्च विद्या इसलिए कही जाती है क्योंकि यह चेतना की शुद्ध शक्तियों के प्रकटीकरण का साक्षात् हेतु है। ज्यों-ज्यों किसी संसार-शरीर-भोगों से विरक्त भव्य जीव की चेतना रूपी क्षितिज पर अध्यात्म का मार्तण्ड उदित हो जाता है त्यों-त्यों चेतना में से मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम का अंधकार तिरोहित हो जाता है। ये आध्यात्मिकता का सूर्य चित्त को विकसित करने वाला है, आत्मगुणों में उस प्रकार शुद्धता व मधुरता प्रस्फुटित करता है जिस प्रकार सूर्य का ताप फलों में मिठास व परिपक्वता देता है।

आध्यात्मिक विद्या का महत्व किसी भी काल व क्षेत्र में कम नहीं होता। यह गणित के सर्वोत्कृष्ट अंक 9 की तरह आत्मा के अखंड, शाश्वत, शुद्ध वैभव का प्रतीक है। आध्यात्मिक विद्या चेतना की समग्र शक्तियों को प्रकट करने के लिए बीज की तरह से है किन्तु ये आध्यात्मिकता का बीज, सम्यक्त्व की भूमि, सम्यग्ज्ञान के नीर, सम्यक् वैराग्य की खाद, सम्यक् चारित्र की सुरक्षा एवं सम्यक् तप रूपी सूर्य की तपन तथा आत्मध्यान की CO_2 से विकसित, पुष्पित, पल्लवित एवं फलित होता है।

आध्यात्मिक विद्या पुरावैदिक काल से ऋषियों के द्वारा सिद्ध करने योग्य रही है। सभी तीर्थंकरों ने इसी आध्यात्मिक विद्या के बल से सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, परमवीतरागता, अनंत सुख एवं अनंत शक्तियों को प्राप्त किया है। आध्यात्मिक विद्या को मोक्षमार्ग की चेतना भी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक विद्या के बिना परम ऋषीश्वर प्राणहीन की तरह अप्रशंसनीय व अग्राह्य, अनुपादेय होते हैं। इस आध्यात्मिक विद्या का उपदेश गृह, भवन, मंदिर, वसतिका, ग्राम व बस्ती, बाजार वा कांतार प्रदेश, गिरि, शिखर, सरिता तट, मरुभूमि व समुद्र के किनारे कहीं भी दिया जाए, आत्मा आनंद से सराबोर हो जाती है। ये आध्यात्मिकता का उपदेश मिशरी की डली की तरह सर्वत्र सर्वदा एवं सार्वजनिक व सार्वभौमिक मिष्टता का ही हेतु है। जिस प्रकार ज्वर के रोगियों को मिष्ट पदार्थ रुचिकर नहीं लगते, शर्करा युक्त दूध भी कड़वा लगता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों को रत्नत्रययुक्त आत्मा का उपदेश भी अरुचिकर लगता है। जिस पुरुष की नासिका, कर्ण, ओष्ठ भंग हों, नेत्र ज्योतिविहीन या मंदज्योति युक्त हो, उस व्यक्ति को दर्पण दिखाएँ तो वह अपने अशुभ रूप को देखकर दर्पण पर कुपित होकर उसे ही तोड़ने दौड़ता है इसी तरह जो जीव पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त, पाप क्रियाओं में संलिप्त, कषाय के उद्रेक से परिपूरित एवं मिथ्यात्व के परिणामों के साथ अविनाभावी संबंध बनाकर जी रहा है उस दीर्घ संसारी को इन आध्यात्मिक सूत्रों को पढ़कर, सुनकर, देखकर संक्लेशता ही उत्पन्न होगी किन्तु आसन्न भव्य जीवों को ये लघुकाय कृति पथ प्रदर्शक दीपिका वा पथ का पाथेय या वृद्ध पुरुष के हाथ में लाठी या पंगु की वैशाखी अथवा अंधकार में गमन करने वाले मंदज्योति से युक्त पुरुष के लिए प्रकाश पुंज ही सिद्ध होगी।

यह ग्रंथ **'अज्झप्प सुत्ताणि'** आध्यात्मविद्या के पिपासु चातक के लिए स्वाति बूँद की तरह, रत्नत्रय युक्त भव्य रूपी सीप में निर्दोष मुक्ता की तरह एवं अनादिकालीन रोगी (जिसे अपने रोग व औषधि का पूर्ण भान हो चुका है ऐसे जीव) के लिए परम पीयूष समान औषधि होगी।

हमारा आपसे इतना विनम्र अनुरोध है कि इन सूत्रों का सम्यक् चिन्तन कर अपनी आत्मा में आसन्न भव्यता की पात्रता प्रकट करें तथा उत्तम समाधि को प्राप्त करने के लिए अहर्निश निष्पक्ष शुद्ध चित्त से यथार्थ चिंतन करें।

आचार्य श्री आध्यात्म और साधना के उच्चशिखर पर सदैव विराजमान रहते हैं किन्तु दूसरों की मानवीय भावभूमि से वे सर्वथा पृथक नहीं हैं। और यही कारण है जो आचार्य श्री विविध विषयों के विशेषज्ञ भी हैं। आज इस युग में प्राकृत साहित्य को जीवंतता प्रदान करने वाले श्रमणों में आचार्य श्री अग्रणीय हैं। निरंतर प्राकृतभाषा में ग्रंथों का लेखन करते हुए प्राकृत साहित्य के लिए तो वे वरदान रूप हैं हीं साथ ही कभी अध्यात्म तो कभी नीति, कभी श्रमण व श्रावक चर्या तो कभी प्रथमानुयोग, कभी सिद्धान्त तो कभी न्याय, कभी ज्योतिष तो कभी वास्तु, कभी समाधि के विषय में अहर्निश उनकी लेखनी प्रवर्तमान है।

यद्यपि मुझ अल्पमति के द्वारा ग्रंथ का भावार्थ लिखना संभव नहीं है किंतु यह जो कुछ भी आपके समक्ष है वह पूज्य आचार्य गुरुवर का ही प्रसाद है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में कमल विकसित हो जाते हैं किन्तु यह प्रकाश सूर्य का ही है कमलों का नहीं। उसी प्रकार यत्किंचित् भी जो लिखा गया है वह गुरु रूपी सूर्य का ही प्रभाव है। यदि इस ग्रंथ 'अज्झप्प सुत्ताणि' के भावार्थ या संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विद्वज्जन हंसवत् क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें। दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों।

हमें विश्वास है कि यह ग्रंथ आप सभी लोगों के ज्ञान की वृद्धि व आचरण को परिशुद्ध करने में समर्थ होगा। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के संयम तप, ज्ञान, साधना का सौरभ सहस्र वर्षों तक सम्पूर्ण विश्व को सुरक्षित करता रहे। उन्हें आरोग्य की प्राप्ति हो एवं अपने लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करें। परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री के चरणों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति सहित अनंत बार नमोस्तु.... नमोस्तु.... नमोस्तु....!

जैनम् जयतु शासनम्

ॐ अर्हं नमः
आर्यिका वर्धस्व नंदनी

श्री शुभमिति अश्विन कृष्ण अमावस
श्री वीर निर्वाण संवत् 2548
श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर
आहूरा नगर, सूरत (गुजरात)

संकेत सूची

अन.ध.	अनगार धर्मामृत
अ.वि.	अप्पविहवो
क.स.	कम्म सहावो
क.पा	कषाय पाहुड़
का.अ.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा
कुन्द.श्रा.	कुन्दकुन्द श्रावकाचार
गो.जी./जी.प्र.	गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीव तत्त्व प्रदीपिका
ज्ञा.	ज्ञानार्णव
त.ज्ञा.त.	तत्त्व ज्ञान तरंगिणी
ति.प.	तिलोय पण्णत्ति
द्र.सं.	द्रव्य संग्रह
द्र.सं.टी.	द्रव्य संग्रह टीका
ध.	धवला जी
न.च.वृ.	नयचक्र वृत्ति
नि.सा.टी	नियमसार टीका
नि.सा./ता.वृ.	नियमसार/तात्पर्यवृत्ति
पं.सं.	पंच संग्रह
पं.धं.	पंचाध्यायी
पं.का.	पंचास्तिकाय
पं.वि.	पद्मनंदि पंच विंशतिका
प.प्र.टी.	परमात्म प्रकाश टीका
पार्श्व. स्तो.	पार्श्वनाथ स्तोत्र
पु.सि.	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
प्र.सा.	प्रवचनसार
प्र.सा./त.प्र.	प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका

बा.अ.	बारसाणु वेक्खा
भ.आ.	भगवती आराधना
भ.आ./वि.	भगवती आराधना/ विजयोदय टीका
मू.आ.	मूल आराधना
मो.पा.टी.	मोक्ष पाहुड़ टीका
यश.चं.	यशस्तिलक चंपू
यो.सा.अ.	योगसार अमितगति आचार्य कृत
र.क.श्रा.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
रा.वा.	राजवार्तिक
व.प.	वयण पमाणत्तं
वै.म.	वैराग्य मणिमाला
सं.न.	संस्कृत नय चक्र
स.सा.	समयसार
स.टी.ज.आ.	समयसार टीका जयसेन आचार्य कृत
स.तं.	समाधितंत्र
स.श./टी.	समाधि शतक टीका
स.सि.	सर्वार्थ सिद्धि
स.श्लो.सं.	सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह
सु.र.सं.	सुभाषित रत्न संदोह
सू.मु.	सूक्ति मुक्तावली
स्या.मं.	स्याद्वाद मंजरी
स्व.भू.स्तो.टी.	स्वयंभू स्तोत्र टीका

आचार्य श्री वसुनंदी मुनि विरचित

अज्झप्प-सुत्ताणि

पढमाहियारो

णमो सव्व-णिक्कम्माणं॥1॥

अर्थ–सभी निष्कर्म अर्थात् सिद्धों को नमस्कार हो।

भावार्थ–श्री जिनेन्द्र प्रभु इष्ट आराध्य देव को नमस्कार कर ग्रंथ का प्रारंभ करना सदैव से आचार्यों की परंपरा रही है। निर्विघ्न रूप से कार्य की समाप्ति, पुण्य की संप्राप्ति, पाप वा अमंगल के विनाश, गुरुओं के प्रति कृतज्ञता का भाव इत्यादि के लिए मंगलाचरण किया जाता है। यह ग्रंथ के प्रति असीम आस्था को भी व्यक्त करता है। मंगल के विषय में आचार्य भगवन् श्री यतिवृषभ स्वामी ने तिलोय-पण्णत्ति में कहा है–

पावं मलं ति भण्णइ, उवचारसरूवएण जीवाणं।
तं गालेदि विणासं, णेदि त्ति भणंति मंगलं केई॥17॥

जीवों के पाप को उपचार से मल कहा जाता है। उसे यह मंगल गलाता है, विनाश को प्राप्त कराता है, इस कारण भी कोई आचार्य इसे मंगल कहते हैं।

अथवा यह 'मंग' अर्थात् सुख या पुण्य को लाता है, इसलिए भी इसे मंगल जानना चाहिए। अथवा यह पाप वा कर्मादि मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है इसलिए मंगल है।[1]

यहाँ ग्रंथकार ने अपने सूत्र रूप ग्रंथ में सूत्र रूप निबद्ध मंगलाचरण कर ग्रंथ का प्रारंभ किया। यहाँ उन्होंने सभी कर्मों से रहित सिद्धों के लिए नमस्कार किया है। जैसा कि ग्रंथ के नाम 'अज्झप्प-सुत्ताणि' अर्थात् अध्यात्म-सूत्र से ही ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ अध्यात्म निधि को प्रदर्शित करने वाला है। और जब भी आचार्य भगवन् किसी ग्रंथ का प्रारंभ करते हैं तो सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार करते हैं, जिन्होंने आत्मा की शुद्धावस्था को प्राप्त कर लिया उन शुद्ध सिद्धात्माओं को नमस्कार करते हैं, जिससे वे स्वयं के परम व चरम लक्ष्य को साधते हुए अपने उसी स्वरूप का भी चिंतन करते हैं।

1. तिलोय पण्णत्ति गाथा 15-9

हे तत्त्ववेत्ता! आप भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकें अतः उन शुद्धात्माओं को त्रियोग से नमस्कार कर निज परिणामों को निर्मल, निर्मलतर व निर्मलतम करें। निर्मल परिणामों के साथ ही सिद्धों के पथ पर गति संभव है।

ग्रंथकार आचार्य भगवन् श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने यहाँ सिद्धों को नमस्कार हो ऐसा न कहकर कर्मों से रहित, विहीन अर्थात् निष्कर्म अवस्था को प्राप्त सभी के लिए नमस्कार हो, ये कहा। ऐसा कहने से सिद्ध है कि अष्ट कर्मों से आवृत जीव शुद्ध मुक्त सिद्ध पर्याय को प्रकट नहीं कर पाता। कर्मों की समस्त प्रवृत्ति को जिन्होंने क्षय कर दिया है, वे ही मुक्त सिद्ध हैं, उन्हीं सिद्धों को यहाँ नमस्कार किया है। मुक्त, सिद्धावस्था के विषय में आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धभक्ति में कहा है–

सिद्धानुद्धूत - कर्मप्रकृति - समुदयान् साधितात्मस्वभावान्,
वन्दे सिद्धि-प्रसिद्ध्यै तदनुपम - गुण - प्रग्रहाकृष्टितुष्टः।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुण-गणोच्छादि-दोषापहाराद्,
योग्योपादान - युक्त्या दृषद् इह यथा हेम - भावोपलब्धिः॥1॥

सिद्ध भगवान् के उन प्रसिद्ध उपमातीत गुण रूपी रस्सी के आकर्षण से संतुष्ट हुआ मैं स्वात्मा की सिद्धि हेतु उन सिद्धों को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने अष्टकर्मों की प्रकृतियों के समूह को नष्ट कर दिया है, जिन्होंने आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव को प्राप्त कर लिया है। इस लोक में जिस प्रकार योग्य उपादान व निमित्त अथवा अंतरंग-बहिरंग कारणों की संयोजना से स्वर्णपाषाण स्वर्ण पर्याय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार श्रेष्ठतम ज्ञानादि गुणों के समूह को आवृत करने वाले ज्ञानावरणादि कर्मों अथवा राग-द्वेष-मोह आदि दोषों के क्षय हो जाने से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप, वीतराग, सर्वज्ञ, अविनाशी, अनन्त आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाना मुक्त अवस्था कही गयी है।

राजवार्तिक में भी कहा है **''निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः''** जिनके द्रव्य व भाव दोनों कर्म नष्ट हो गए हैं वे मुक्त हैं।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने नियमसार में कहा है–

णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति॥72॥

आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे आठ महागुणों सहित, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य; वे सिद्ध होते हैं। कलिकाल सर्वज्ञ आ. भगवन् श्री वीरसेन स्वामी जी ने धवला जी पु. 1 में कहा है–

णिहयविविहट्ठकम्मा, तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा।
सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्च - अट्ठगुणा॥

जिन्होंने नानाभेद रूप आठ कर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शेखर स्वरूप हैं, दु:खों से रहित हैं, सुख रूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं वे सिद्ध हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! सर्व कर्मों से रहित सिद्धों को नमस्कार कर उन जैसे बनने की भावना से ओतप्रोत होकर उनके शुभ पंथ पर अग्रसर होओ। अपने स्वभाव को प्राप्त करने हेतु पुरुषार्थरत होओ।

णमो जिणाणं॥2॥

अर्थ–सभी जिनेंद्र भगवंतों को नमस्कार हो।

भावार्थ–सिद्धों को नमस्कार करने के पश्चात् ग्रंथकार सभी जिनों को नमस्कार करते हैं। सर्व इंद्रियों को जीतने वाले होने से ये जिन कहलाते हैं।

"जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति"

क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लेने के कारण अर्हन्त भगवान् जिन हैं।

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है–

"अनेकजन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः"।

अनेक जन्म रूपी अटवी को प्राप्त कराने के हेतुभूत समस्त मोह, राग, द्वेषादि को जो जीत लेता है, वह जिन है।

पंचास्तिकाय की तात्पर्य वृत्ति में भी निरूपित है–

"अनेकभवगहनविषयव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः"

अनेक भवों के गहन विषयों रूप संकटों की प्राप्ति के कारण भूत कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है, वह जिन है।

घातिया कर्मों से रहित, अनंत चतुष्टय से युक्त, अष्ट प्रातिहार्य से सुशोभित अरिहंतों को यहाँ नमस्कार किया गया है।

हे तत्त्ववेत्ता! निज कषायादि को जीतने वा नष्ट करने की भावना से सर्व जिनों को नमस्कार करो क्योंकि 'जिन' को नमस्कार करने वाला ही अजयी, अजर व अमर होता है अर्थात् निज परम शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है।

णमो सव्वणिग्गंथाणं।।3।।

अर्थ–सर्व निर्ग्रंथ साधुओं को नमस्कार हो।

भावार्थ–सिद्धों व अरिहंतों को नमस्कार करने के पश्चात् आचार्य श्री यहाँ सर्व निर्ग्रन्थ साधुओं को नमस्कार करते हैं। ग्रन्थ का अर्थ होता है–संग वा परिग्रह। इस संग व परिग्रह से रहित या हीनता से युक्त ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। धवला जी पु. 9 में कहा है कि व्यवहार नय की अपेक्षा क्षेत्रादि बाह्य ग्रन्थ हैं क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थ (मिथ्यात्वादि) के कारण हैं और इनका त्याग निर्ग्रन्थता है। निश्चय नय की अपेक्षा मिथ्यात्वादि (अभ्यंतर) ग्रन्थ हैं क्योंकि वे कर्म बंध के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

ग्रन्थि का अर्थ गाँठ भी होता है। अर्थात् जिनके बाह्य में वस्त्र रहित होने से कोई ग्रन्थि नहीं है और अंतरंग में सरल, सहज, विशुद्ध परिणामी होने से कोई ग्रंथि नहीं है, ऐसे उभय ग्रंथ से रहित निर्ग्रन्थ होते हैं। ऐसे यथाजात रूप धारी निर्ग्रन्थ गुरुओं को यहाँ नमस्कार किया गया है। ढाई द्वीप में विराजमान समस्त आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है।

यूँ तो 'निर्ग्रन्थ' शब्द से सयोग व अयोग केवली का भी ग्रहण हो जाता है किन्तु उन्हें ग्रंथकार पूर्व में ही पृथक् रूपेण नमस्कार कर चुके हैं। अत: यहाँ छठें गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक सभी साधुओं, क्षपकों वा उपशामकों को नमस्कार करते हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! उत्कृष्ट संयम को धारण करने वाले मुनियों की आत्मा निरन्तर तप में, नियम में, संयम में और सम्यक्‌चारित्र में स्थिर रहती है। वे बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख रहते हैं। उन्होंने समस्त इंद्रियों के व्यापार को जीत लिया है और आगामी जिनेंद्र अवस्था को प्राप्त होने वाले हैं। निकट भविष्य में उस वीतराग अवस्था को प्राप्त करेंगे, उनको नमस्कार कर उन्हीं के समान सहज-स्वाभाविक समता रस के आस्वादन हेतु निज आत्म तत्त्व में लीन होओ।

णमो बारसंगरूव-जिणवयणाणं।।4।।

अर्थ–द्वादशांग रूप जिनवचनों को नमस्कार हो।

भावार्थ–आचारांग आदि बारह प्रकार के अंग (द्वादशांग) होते हैं। आचारांग में 18,000 पदों में चर्या का विधान, आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि रूप से वर्णित है। सूत्रकृतांग में 36,000 पदों में ज्ञान, विनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य है, छेदोपस्थापनादि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है। स्थानांग में 42,000 पदों में एक-एक, दो-दो आदि के रूप से अर्थों का वर्णन है। समवायांग में 1,64,000 पदों में सब पदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है। जैसे धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इनका द्रव्य रूप से

समवाय कहा जाता है। (इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल व भाव का समवाय जानना।) व्याख्या प्रज्ञप्ति में 2,28,000 पदों में 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं। ज्ञातृधर्म कथा में 5,56,000 पदों में अनेक आख्यान और उपाख्यानों का निरूपण है। उपासकाध्ययन में 11,70,000 पदों में श्रावक धर्म का विशेष विवेचन किया गया है। अन्तकृद्दशांग में 23,28,000 पदों में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में हाने वाले उन दश-दश अन्तःकृत् केवलियों का वर्णन है जिनने भयंकर उपसर्गों को सहकर मुक्ति प्राप्त की।

अनुत्तरोपपादिक दशांग में 92,44,000 पदों में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दश-दश मुनियों का वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गों को सहकर पाँच अनुत्तरों में जन्म लिया। प्रश्न व्याकरण में 93,16,000 पदों में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। विपाक सूत्र में 1,84,00,000 पदों में पुण्य और पाप के विपाक का विचार है। बारहवाँ दृष्टिवाद अंग है जिसमें 10,86,85,605 पदों में 363 मतों का निरूपण पूर्वक खंडन है।

बारहवें दृष्टिवाद के पाँच अधिकार हैं – परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमें से चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति इस प्रकार परिकर्म के पाँच भेद हैं। ''**चंद्र प्रज्ञप्ति**'' नाम का परिकर्म 36,05,000 पदों में चंद्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिंब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है। ''**सूर्य प्रज्ञप्ति**'' 3,03,000 पदों में सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिंब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है ''**जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति**'' 3,25,000 पदों में जंबूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदि का, पर्वत, द्रह, नदी आदि का वर्णन करता है। ''**द्वीप सागर प्रज्ञप्ति**'' 52,36,000 पदों में द्वीप और समुद्र के प्रमाण का तथा द्वीप सागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है। ''**व्याख्या प्रज्ञप्ति**'' 84,36,000 पदों में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव इन सबका वर्णन करता है। ''**सूत्र**'' 88,00,000 पदों में अर्थाधिकार जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्त्ता ही है, अभोक्ता ही है इत्यादि रूप से 363 मतों का पूर्वपक्ष रूप में वर्णन करता है। ''**प्रथमानुयोग**'' 5000 पदों में पुराणों का वर्णन करता है।

पूर्वगत के उत्पाद पूर्वादि 14 भेद इस प्रकार हैं–

1. उत्पाद पूर्व–10 वस्तुगत 200 प्राभृतों के 1 करोड़ पदों द्वारा जीव, पुद्गल व काल द्रव्य के उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य का वर्णन करता है।

2. अग्रायणीय पूर्व–यह 14 वस्तुगत 280 प्राभृतों के 96 लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र अर्थात् परिमाण का कथन करता है।

3. वीर्यानुप्रवाद पूर्व–यह 8 वस्तुगत 108 प्राभृतों के 70 लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्र-भाव व तपवीर्य का वर्णन करता है।

4. अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व–18 वस्तुगत 360 प्राभृतों के 60 लाख पदों द्वारा जीवाजीव के अस्तित्व व नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है।

5. ज्ञान प्रवाद पूर्व–12 वस्तुगत 240 प्राभृतों के 1 कम 1 करोड़ पदों द्वारा 5 ज्ञान, 3 अज्ञानों का वर्णन करता है।

6. सत्य प्रवाद पूर्व–12 वस्तुगत 240 प्राभृतों के 1 करोड़ 6 पदों द्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कार के कारण वचन प्रयोग, 12 प्रकार की भाषा, अनेक विधवक्ता, अनेकविध असत्य वचन, 10 विध सत्यवचन वर्णन करता है।

7. आत्मप्रवाद पूर्व–16 वस्तुगत 320 प्राभृतों के 26 करोड़ पदों द्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है।

8. कर्म प्रवाद पूर्व–20 वस्तुगत 400 प्राभृतों के 1 करोड़ 80 लाख पदों द्वारा 8 प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

9. प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व–30 वस्तुगत 600 प्राभृतों के 84 लाख पदों द्वारा द्रव्यादि की अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमित काल रूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, 5 समिति व 3 गुप्तियों का वर्णन करता है।

10. विद्यानुवाद पूर्व–15 वस्तुगत 300 प्राभृतों के 1 करोड़ 10 लाख पदों द्वारा अंगुष्ठप्रसेनादि 700 अल्पविद्याओं का, रोहिणी आदि 500 महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न इन 8 महानिमित्तों का वर्णन करता है।

11. कल्याणवाद पूर्व–10 वस्तुगत 200 प्राभृतों के 26 करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चंद्र, नक्षत्र व तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा अनेक फलों का, पक्षी के शब्दों का और तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव व चक्रवर्ती आदि के गर्भावतारादि कल्याणकों का वर्णन करता है।

12. प्राणावाय पूर्व–10 वस्तुगत, 200 प्राभृतों में 13 करोड़ पदों द्वारा शरीर चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या व प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

13. क्रियाविशाल पूर्व–10 वस्तुगत 200 प्राभृतों के 9 करोड़ पदों द्वारा लेखनकलादि 72 कलाओं का, स्त्री संबंधी 64 गुणों का, शिल्पकला, काव्यसंबंधी गुण-दोष विधि व छंद निर्माण कला का वर्णन करता है।

14. लोकबिंदुसार पूर्व–10 वस्तुगत 200 प्राभृतों के 12 करोड़ 50 लाख पदों द्वारा 8 प्रकार के व्यवहारों, 4 प्रकार के बीजों, मोक्ष हेतु क्रिया व मोक्ष सुख का वर्णन करता है।

दृष्टिवाद का 5वाँ भेद है—**चूलिका**

जलगता चूलिका—जल में गमन, जलस्तम्भन के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चर्या रूप अतिशय आदि का वर्णन करती है।

स्थलगता चूलिका—पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तु विद्या और भूमि संबंधी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

मायागता चूलिका—इंद्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

रूपगता चूलिका—सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकार रूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण तथा चित्र-काष्ठ-लेप्य-लेन कर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।।

आकाशगता चूलिका—आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

इस प्रकार ये द्वादशांग है। इस समस्त द्वादशांग को यहाँ नमस्कार किया गया है।

णमो उसहसेणाइ-गणहराणं।।5।।

अर्थ—श्री वृषभसेनादि गणधरों को नमस्कार हो।

भावार्थ—यहाँ ग्रन्थकार सभी गणधरों को नमस्कार करते हैं। धवला जी पु. 9 में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने गणधर के विषय में कहा—पाँच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, पाँच समितियों से युक्त, आठ मदों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व संभिन्न श्रोतृत्व बुद्धियों से उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान से युक्त, तप्त तप लब्धि के प्रभाव से मल-मूत्र रहित, दीप्त तप लब्धि के बल से हस्तपुट में गिरे हुए सर्व आहारों को अमृत स्वरूप से परिणाने में समर्थ, महातप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीणमहानस लब्धि के बल से अपने हाथ में गिरे आहार की अक्षयता के उत्पादक, अघोर तप ऋद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन, वचन एवं कायगत समस्त कष्टों के दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा सेवित चरणमूल से संयुक्त, आकाशचारण गुण से सब जीव समूह की रक्षा करने वाले, वचन और मन से समस्त पदार्थों के संपादन करने में समर्थ, अणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देव समूह को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ठ, परोपदेश के बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओं में कुशल, समवशरण में स्थित जनमात्र के रूप के धारी होने से 'हमारी-हमारी भाषाओं से हमको ही कहते हैं' इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले तथा समवशरणस्थ जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधरदेव होते हैं।

श्री ऋषभदेव तीर्थंकर के श्री वृषभसेन आदि 84 गणधरों, श्री अजितनाथ भगवान् के श्री सिंहसेन आदि 90 गणधरों को, श्री संभवनाथ भगवान् के श्री चारुदत्त आदि 105 गणधरों को, श्री

सुमतिनाथ भगवान् के श्री वर्ण आदि 116 गणधरों को, श्री पद्मप्रभ भगवान् के श्री चमर आदि 111 गणधरों को, श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् के श्री बलदत्त आदि 95 गणधरों को, श्री चंद्रप्रभ भगवान् के श्री वैदर्भ आदि 93 गणधरों को, श्री पुष्पदंत भगवान् के श्री नाग (अनगार) आदि 88 गणधरों को, श्री शीतलनाथ भगवान् के श्री कुन्थु आदि 87 गणधरों को, श्री श्रेयांसनाथ भगवान् के श्री धर्म आदि 77 गणधरों को, श्री वासुपूज्य भगवान् के श्री मंदिर आदि 66 गणधरों को, श्री विमलनाथ भगवान् के श्री जय आदि 55 गणधरों को, श्री अनंतनाथ भगवान् के श्री अरिष्ट आदि 50 गणधरों को, श्री धर्मनाथ भगवान् के श्री सेन आदि 43 गणधरों को, श्री शांतिनाथ भगवान् के श्री चक्रायुध आदि 36 गणधरों को, श्री कुन्थुनाथ भगवान् के श्री स्वयंभू आदि 35 गणधरों को, श्री अरनाथ भगवान् के श्री कुंभ आदि 30 गणधरों को, श्री मल्लिनाथ भगवान् के श्री विशाख आदि 28 गणधरों को, श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान् के श्री मल्लि आदि 18 गणधरों को, श्री नमिनाथ भगवान् के श्री सुप्रभ आदि 17 गणधरों को, श्री नेमिनाथ भगवान् के श्री वरदत्तादि 11 गणधरों को, श्री पार्श्वनाथ भगवान् के श्री स्वयंभू आदि 10 गणधरों को, श्री महावीर स्वामी के श्री इंद्रभूति आदि 11 गणधरों को यहाँ नमस्कार किया गया है।

णमो पंचायार-णिउण-कुंदकुंदाइ-सव्वाइरियाणं॥6॥

अर्थ–पंचाचार के पालन करने कराने में निपुण आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी आदि सभी आचार्यों को नमस्कार हो।

भावार्थ–यहाँ ग्रंथकार आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी को प्रमुख कर अनंतर सभी पूर्ववर्ती आचार्यों को नमस्कार करते हैं। आचार्य पंचाचार के पालन करने व कराने में निपुण होते हैं। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ये पाँच प्रकार के आचार कहे जाते हैं। निःशंकित्व, निःकांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढ़दृष्टित्व, उपबृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना स्वरूप दर्शनाचार है।[1] अथवा जो चिदानंदरूप शुद्धात्म तत्त्व है वही सब प्रकार आराधने योग्य है, उससे भिन्न जो पर वस्तु हैं वह सब त्याज्य हैं। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है, उसको सम्यक्त्व कहते हैं। उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है।[2]

स्वाध्याय का काल, मन-वचन-काय से शास्त्र का विनय यत्न से करना, नियम विशेष करके पठन आदि करना, पूजा-सत्कारादि से पाठ करना, अपने पढ़ाने वाले गुरु का तथा पढ़े हुए शास्त्र का नाम प्रगट करना, छिपाना नहीं, वर्ण पद वाक्य की शुद्धि से पढ़ना, अनेकांत स्वरूप अर्थ को शुद्धि अर्थ सहित पाठादिक की शुद्धि होना, इस तरह ज्ञानाचार के आठ भेद हैं।[3] निज स्वरूप

1. प्र.सा./त.प्र. 2. प.प्र./टी. 3. मूलाचार 269

में संशय-विमोह-विभ्रम रहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन है वह (निश्चय) ज्ञानाचार है।[4]

प्राणियों की हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, मैथुन सेवन, परिग्रह इनका त्याग करना वह अहिंसादि पाँच प्रकार का चारित्राचार जानना चाहिए[5]। शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प रहित हो नित्यानंद में निजरस का स्वाद, अनिश्चय अनुभव, वह सम्यक्चारित्र है, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन है वह चारित्राचार है।[6]

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग स्वरूप तपाचार है।[7] समस्त परद्रव्य की इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बारह तप रूप बहिरंग सहकारी कारण से जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चय तपश्चरण है; उनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन है वह निश्चय तपश्चरणाचार है।[8]

अपनी शक्ति को न छिपाते हुए वा अपनी शक्ति प्रकटकर मुनिव्रत का आचरण व्यवहार वीर्याचार है और शुद्धात्म स्वरूप में अपनी शक्ति को प्रकट कर आचरण परिणमन करना वह निश्चय वीर्याचार है।[9]

ऐसे पंचाचार से सहित समस्त आचार्यों को नमस्कार हो। इस वर्तमान काल में भरतक्षेत्र आर्यखंड में आचार्य ही तीर्थंकर प्रभु के समान हैं जिनसे जिनशासन जयवंत है, जो जिनधर्म का प्रवर्तन कर रहे हैं। जैसा कि श्लोकवार्तिक में कहा है कि मंगलाचरण का एक कारण है अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता, श्रद्धा का भाव रखते हुए स्मरण करना क्योंकि उन्हीं के माध्यम से जिनश्रुत की यह धारा अविरल, अविच्छिन्न, अव्याबाध रूप से प्रवाहित होती हुई हम तक पहुँची है।

अतः ग्रन्थकार यहाँ उन सभी पूर्ववर्ती आचार्यों का स्मरण करते हैं जिनके कारण यह श्रमण व श्रावक धर्म जीवंत है, जिनशासन की यह ध्वजा उत्तुंग आकाश में फहरा रही है। पूज्यों को नमस्कार करने से ही पूज्यता की प्राप्ति होती है। अतः हे तत्त्ववेत्ता! जो पंचाचार के पालन करने व कराने में कुशल हैं, उन आचार्यों को नमस्कार कर उन्हीं के जैसे निःस्पृह, सौम्यमूर्ति, सर्व परिग्रह से रहित व आकाश के समान निर्लेप होने की भावना से युक्त हो।

णमो सुद-केवलीणं।।7।।

अर्थ–श्रुत केवलियों को नमस्कार हो।

भावार्थ–समस्त द्रव्यश्रुत अथवा द्वादशांग धारण करने वाले श्रुत केवली कहे जाते हैं। आचार्य भगवन् श्री यतिवृषभ स्वामी ने तिलोयपण्णत्ति में कहा है–

---

4. प.प्र. 5. मू.आ. 6. प.प्र.टी. 7. प्र.सा.. 8. द्र.सं.टी. 9. प.प्र.टी.

सयलागमपारगया, सुदकेवलिणामसुप्पसिद्धा जे।
एदाण बुद्धिरिद्धी, चोद्दसपुव्वित्ति णामेण॥1001॥

जो महर्षि सम्पूर्ण आगम के पारंगत हैं और श्रुत केवली नाम से प्रसिद्ध हैं उनके चौदह पूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है। प्रवचनसार जी में भी कहा है–

जो हि सुदेण विजाणदि, अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा॥33॥

जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक (ज्ञायक स्वभाव) आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषीश्वरगण श्रुतकेवली कहते हैं।

इस प्रकार यहाँ समस्त श्रुत केवलियों को नमस्कार किया गया है।

णमो सिरिसंतिपायसायरजयकित्तिदेसभूसण विज्जाणंदसूरीणं॥8॥

अर्थ–आचार्य श्री शांतिसागर जी, श्री पायसागर जी, श्री जयकीर्ति जी, श्री देशभूषण जी व श्री विद्यानंद जी मुनिराज को नमस्कार हो।

विशेषार्थ–संयम के सुमेरु, शिथिल मुनि परंपरा के प्रक्षालक, शुद्ध परंपरा के जीर्णोद्धारक, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज, अतिशय ध्यानी, महातपस्वी, निरीह वृत्ति, विशिष्ट मनोसंयमी, लगभग त्रिदशक कोटि अपराजित जप कर्त्ता आचार्य श्री पायसागर जी मुनिराज, आध्यात्म योगी, दुर्द्धर तपस्वी, बालयति, परमप्रभावक, मनोज्ञ साधक आचार्य श्री जयकीर्ति जी, राष्ट्र ऋषि, बहु आयामी प्रतिभा के धनी, विश्व क्षेमंकर, श्रुत संवर्द्धक, जिनशासनोन्नतिकरा, शताधिक राजाओं द्वारा पूज्य, भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज, विश्व धर्म सम्प्रेरक, महामनीषी, चलते-फिरते विश्व विद्यालय, लक्षकाव्यकंठधारक, बहु भाषा-भाषी (मराठी, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी) राष्ट्र संत, सिद्धान्त चक्रवर्ती, क्षपकराज शिरोमणि आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को नमस्कार हो।

सुद्धप्पज्झाणस्स जिणुत्त-सुत्ताणि वोच्छामि॥9॥

अर्थ–शुद्धात्म ध्यान के लिए जिनेंद्र भगवान् के द्वारा कहे गए सूत्रों को मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) कहता हूँ।

विशेषार्थ–यह ग्रंथकार का प्रतिज्ञा सूत्र है। यहाँ ग्रन्थकार जिनेंद्र भगवान् के द्वारा कहे गए उन सूत्रों के विवेचन की प्रतिज्ञा करते हैं जो शुद्धात्म ध्यान के कारक हैं। वे सूत्र जो आत्मा के पृथक् स्वरूप का भान करा सकेंगे। स्वजन, परजन, पर वस्तुएँ, देह, विभावादि परिणाम ये सब आत्म-स्वरूप नहीं हैं। ये सब तो आत्मा का पतन करने वाले हैं। अतः आचार्य भगवन् ने यहाँ प्रतिज्ञा की कि वे ग्रंथ में ऐसे सूत्रों को कहेंगे जो शुद्धात्मा का बोध, उसके सम्यक् स्वरूप का ज्ञान कराने में समर्थ होंगे।

हे तत्त्ववेत्ता! आप ही कृत संकल्पित हों कि इन सूत्रों के माध्यम से आत्मा के सम्यक् स्वरूप को जानकर आत्मकल्याण हेतु अग्रसर होओगे। आत्म चिंतन जीव को कर्मों से मुक्त कराने में समर्थ होता है। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने 'अप्प-सत्ती' नामक ग्रंथ में कहा है–

अप्पचिंतणबलेणं, होदि सुदकेवलि-केवली जीवो।
जह तह अक्कपयासो, होज्जा मेहेसु विघडणेसु॥107॥

जैसे मेघों के विघटित होने पर सूर्य का प्रकाश होता है वैसे ही आत्मचिंतन के बल से जीव श्रुतकेवली व केवली होता है।

ग्रन्थकार ने उसी आत्मचिंतन के लिए कुछ सूत्रों का प्रणयन यहाँ 'अज्झप्प-सुत्ताणि' नामक ग्रन्थ में किया है। हे तत्त्ववेत्ता! उन सूत्रों के माध्यम से निज स्वरूप का चिंतन कर सम्यक् पथ पर अग्रसर होओ।

मोहरहिदो हं॥10॥

अर्थ–मेरी आत्मा मोह से रहित है।

विशेषार्थ– हे तत्त्ववेत्ता! जिन कर्मों के कारण यह आत्मा इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है, असह्य दुःख भोग रहा है उन कर्मों का राजा मोहनीय कर्म कहा जाता है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से यह मोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा जाता है। दर्शनमोहनीय जीव के सम्यग्दर्शन का घात करता है और चारित्र मोहनीय जीव के सम्यक्चारित्र का घात करता है। धवला जी पुस्तक 6 में कहा है कि दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। आप्त या आत्मा में, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन (सम्यक्त्व) कहते हैं। उस दर्शन (सम्यक्त्व) को जो मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। पाप रूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये पापरूप क्रियाएँ हैं। इन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं। उस चारित्र को जो मोहित करता है अर्थात् आच्छादित करता है, उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं।

यह मोहनीय कर्म ही आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करने देता। बार-बार आत्मा को दु:ख के गर्त में ढकेल देता है। हे तत्त्ववेत्ता! यदि तुम्हारा कोई सबसे बड़ा शत्रु है तो वह है–मोह। यह मोह रूपी शत्रु ही समस्त दु:खों को इकट्ठा कर आत्मा के पास लेकर आ जाता है, यह मोह ही तुम्हारे हिताहित के विचार को नष्ट कर अहित मार्ग पर प्रवृत्ति करा देता है।

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां, यथामदनकोद्रवैः॥7॥ –इष्टोपदेश

मोह से ढका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है जैसे कि मद पैदा करने वाले कोद्रव (कोंदो) के खाने से नशैल-बेखबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक रूप में नहीं जान पाता है।

''अशेष दु:खप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः''

समस्त दु:खों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा गया है। कोई शिष्य प्रश्न पूछता है कि केवल मोह को ही अरि मान लेने पर शेष कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाता है? तब आचार्य भगवन् उत्तर देते हुए कहते हैं, ऐसा नहीं है, क्योंकि बाकी के समस्त कर्म मोह के अधीन हैं। मोह बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाए जाते हैं, जिससे कि वे स्वतंत्र समझे जाएँ इसलिए सच्चा अरि (शत्रु) मोह ही है और शेष कर्म उसके अधीन हैं। शिष्य पुन: प्रश्न करता है कि मोह के नष्ट हो जाने पर कितने ही काल तक शेष कर्मों की सत्ता रहती है, इसलिए उनको मोह के अधीन मानना उचित नहीं है? तब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं–ऐसे नहीं समझना चाहिए क्योंकि मोह रूप अरि के नष्ट हो जाने पर, जन्म-मरण की परंपरा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से उन कर्मों का सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता है।[1]

जिस प्रकार की स्थिति एक मद्यपायी की होती है जो माँ-बहन-बेटी- पत्नी के मध्य के अंतर को भूल जाता है, जिसे गोमूत्र वा शीतल पेय में अंतर नहीं जान पड़ता वही स्थिति एक मोही जीव की होती है जिसे निज व पर में कोई अंतर नहीं दिखता। कहा भी है–

पर को अपना मान बैठा, निज को पहचाना नहीं,
भूल है यह आपकी जो, आप (स्वयं) को जाना नहीं।
आप के जाने बिना, परमात्म पद पाना नहीं,
परमात्म पद पा करके फिर, संसार में आना नहीं॥

मोही जीव आत्म-गुणों के वैभव को भूल संसार में भटक रहा है, उन्हीं संसारी वस्तुओं को अपना मान रहा है। मानो कोई राजा जो मानसिक संतुलन खोने के कारण समस्त वैभव-निधियों

1. धवला जी, पु. 1

का मालिक होने के बाद भी सड़कों पर भटक रहा है, कंकड़-पत्थर चुन रहा है, वही दशा मोही प्राणी की हो रही है।

हे तत्त्ववेत्ता! इसी मोह के कारण प्राणी घर, रिश्तेदार, परिवारीजन आदि को अपना मानता है। अरे! किस पर मोह करते हो। कहा है–

शरीरं शीर्यते नाशा, गलत्यायुर्न पापधीः।
मोहः स्फुरति नात्मर्थः, पश्य वृत्तं शरीरिणाम्॥2/23॥–ज्ञानार्णव

प्रतिपल शरीर क्षीण हो रहा है किन्तु आशा (तृष्णा) क्षीण नहीं हो रही। आयु तो कम होती जा रही है किन्तु जीव की पाप बुद्धि नहीं घट रही। मोह तो प्रकट होता जा रहा है किन्तु आत्महित के लिए कोई प्रयोजन नहीं हो रहा। अहो! शरीरधारियों की प्रवृत्ति तो देखो!

मोह के द्वारा मोहित यह जीव किस पर मोह करता है? कारागृह के समान उस घर पर, जो आज तक किसी का नहीं हुआ, प्रत्येक व्यक्ति आता है, कुछ समय तक उसमें रहता है और पुनः व्यक्ति चल बसता है, कई बार तो वही मकान उसकी प्राणहानि का कारण बन जाता है। या उस शरीर पर मोह करते हो जो घृणित नव मल द्वारों से युक्त है, जिसके एक अंगुल में 96 रोग हैं, जो प्रतिक्षण गल रहा है। अरे! जिस काया के लिए हिंसापूरित, खूनादि से सने सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग करते हो, न खाने योग्य बहु पापार्जन कराने वाले अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करते हो, उसे सजाने के लिए हिंसायुक्त वस्त्रों को धारण करते हो, जिस शरीर के लिए दिन-रात अपनी आत्मा को कष्ट देने वाले कर्मों का आस्रव कर रहे हो क्या वह शरीर आपका साथ देगा? तब शरीर से पूछते हैं–

सोलह सिंगार विलेपन भूषण, ये निसिवासर तोय सम्हारे।
पुष्ट करी बहु भोजन पानन, धर्म रु कर्म सबै बिसराये॥
सेये मिथ्यात्व अन्याय किये बहु, तो तन कारण जीव संहारे।
भक्ष्य गिने न अभक्ष्य गिने, अब तो चल संग तू काय हमारे॥

तब यह शरीर कुटिल मुस्कान के साथ आत्मा की हँसी उड़ाते हुए कृतघ्नी भाव के साथ कहता है–

क्या अनहोनी कहो यह चेतन, भंग खई कि भये मतवारे।
संग चली न चलूँ कबहूँ लखि, ये ही स्वभाव अनादि हमारे॥
इंद्र नरेन्द्र धरणेन्द्रन के संग, नांहि गई तुम कौन विचारे।
कोटि उपाय करो तुम चेतन, तोहू चलूँ नहिं संग तुम्हारे॥

यह जीव जिन परिवारीजन से मोह करता है वह प्रतिकूलता वा पाप का उदय आते ही साथ छोड़कर चले जाते हैं। जिस संतान को प्रेम से पाला, वही कल शत्रु बनकर सामने खड़ी हो जाती है। वृद्धाश्रमों में माता-पिता को छोड़ आते हैं। अहो तत्त्ववेत्ता! यह मोह संसारी प्राणी के द्वारा बुने गए उस मकड़ी के जाल के समान है जिसमें फँसकर मकड़ी अपने प्राण त्याग देती है। मोह का व्यूह समस्त व्यूहों से भयानक है। तत्त्वानुशासन में कहा है–

ममाऽहंकार-नामानौ, सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदो, मोहव्यूहः प्रवर्तते॥13॥

मोह के जो दो पुत्र हैं ममकार और अहंकार, वे दोनों उस मोह के सेनानायक हैं, जिनके अधीन मोह व्यूह का सैन्यसंनिवेश बहुत ही दुर्भेद बना हुआ है।

हे तत्त्ववेत्ता! सम्यग्ज्ञान रूपी दिव्यास्त्र के माध्यम से इस मोहव्यूह को भेदो। यही ज्ञान का फल है कि जीव मोह नष्ट कर शुद्ध दशा को प्राप्त करे किन्तु मोही जीव को उस ज्ञान का फल भी कुछ और ही दृष्टिगोचर होता है। आत्मानुशासन में कहा है–

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने, ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्य-मन्यदप्यत्र मृग्यते॥175॥

ज्ञान का फल विनश्वर, प्रशंसनीय केवलज्ञान की प्राप्ति है। अरे भाई! मोह का माहात्म्य तो देखो–इस संसार में संसारी प्राणी ज्ञान का फल कुछ और ढूंढ़ता है।

यह मोह अनेक वा अनंत दु:खों का कारण है। अहो तत्त्ववेत्ता! तुम शुद्ध, बुद्ध आत्म स्वरूपी के द्वारा वह सर्वथा नष्ट करने योग्य है। इस लोक में परमाणु मात्र भी तेरा कुछ नहीं है, मात्र आत्म द्रव्य ही तेरा है। सम्यग्ज्ञान रूपी अमृत का रसास्वादन कर आत्म कल्याण की ओर बढ़ो। सम्यग्ज्ञान के बिना वह संभव नहीं है। कहा है–

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्ध जीवः,
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्मः।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो,
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके॥32॥– नियमसार टीका

जो मूढ़ प्राणी सम्यग्ज्ञान रूपी भाव से विमुक्त होकर अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म कर रहा है और मुक्ति का थोड़ा भी मार्ग नहीं जानना चाहता, संसार में उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है।

अहो तत्त्ववेत्ता! अनादिकालीन लक्ष्य हीन यात्रा से विश्राम लो, रुको...ठहरो...जानो...समझो... फिर बढ़ना अपने उस शाश्वत लक्ष्य की ओर। आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी ने भी कहा है–

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्न धाम्नो,
ननुकिमनुपलब्धिर्भातिकिञ्चोपलब्धिः॥34॥–समयसार कलश

हे भव्य! तुझे अन्य निष्प्रयोजन, अप्रयोजनभूत कोलाहल करने से क्या लाभ है? तू इन कषायादि भावों से विरक्त हो और एक चैतन्यमयी आत्मवस्तु में स्वयं निश्चल होकर छः मास तक अभ्यास कर और देख कि अपने हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न जो तेज प्रकाश है, ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं होती।

अहो तत्त्ववेत्ता! यहाँ आचार्य महाराज गारंटी के साथ कह रहे हैं कि यदि तुम आत्मानुभव करना चाहते हो, निज स्वभाव को प्राप्त करना चाहते हो तो बस छः माह तक अभ्यास करो कि मेरा आत्मतत्त्व ही मेरा है उससे अन्य मोह, राग, द्वेष, कषायभाव, परद्रव्य या वस्तु भिन्न है। भेद-विज्ञान का अभ्यास करने से आत्मतत्त्व की प्राप्ति अवश्य होगी।

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं,
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम्।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं,
लब्ध्वा धर्मंपरमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय॥271॥ –आ. पद्मप्रभमलधारि देव

हे मन! तू छोड़ने योग्य स्वर्ण और स्त्री संबंधी मोह को छोड़कर निर्मल सुख के लिए धर्म को प्राप्त कर और फिर शीघ्र ही परमात्मा में प्रवेश कर जो कि नित्य आनन्द रूप है, अनुपम गुणों से अलंकृत है, दिव्यज्ञान से संपन्न है और अव्यग्र रूप है।

पेज्जदोसरहिदो हं॥11॥

अर्थ–मेरी आत्मा राग और द्वेष से रहित है।

भावार्थ–इष्ट विषयों में प्रीति रखना राग है और अनिष्ट विषयों में प्रीति रखना द्वेष है। कहा भी है **''विचित्रचारित्र-मोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ।''** –पं.का/त.प्र.

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो इसके रस विपाक का कारण पाकर इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होते हैं उसका नाम राग-द्वेष है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम तो तत्त्वों को, वस्तु स्वरूप को जानने वाले हो। क्या हेय-उपादेय, हित-अहित विचार नहीं कर सकते? कर सकते हो ना, तब राग-द्वेष में फँसकर क्यों स्वयं को कष्ट दे रहे हो। यह राग-द्वेष करना तेरा स्वभाव नहीं है।

''रागादयः पुनः कार्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः –स.सि.

रागादि तो कर्मों के उदय से होते हैं अतः वे आत्मा का स्वभाव न होने से हेय हैं। ये रागादि शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है यह तो संसारी जीव, अशुद्धात्मा की परिणति है। इन्हीं राग-द्वेष के भंवर में फँसकर तुम अनादिकाल से इस संसार में महादु:ख उठा रहे हो। राग करते समय, उसे वृद्धिंगत करते हुए तो जीव को आनन्द आता है किन्तु वह राग यथार्थ में उसका अहित करने वाला है, उस समय राग के वशीभूत जिन कर्मों का बंध किया वे ही विपाक समय में अतिदु:खदायी होते हैं।

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥150॥–समयसार

रागी जीव कर्मों को बांधता है, वीतरागी कर्मों से छूटता है ऐसा जिनदेव का उपदेश है इसलिए कर्मों से राग मत कर।

राग वश उन रामदत्ता रानी व पुत्र पूर्णचंद्र को देखो कितने भवों तक भव में भ्रमण करते रहे जबकि राजा सिंहचन्द्र आदि ने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

अहो तत्त्ववेत्ता! किससे राग और किससे द्वेष करना है आज जो तुम्हें इष्ट प्रतीत हो रहा है कल वही अनिष्ट प्रतीत होता है और कल जो अनिष्ट लग रहा था आज वही इष्ट लग रहा है। गर्मियों में जो शीतल पेय इष्ट लग रहा था, सर्दियों में वही अनिष्ट लग रहा है, ग्रीष्म ऋतु में जिस ठंडी हवा का आनंद ले रहे थे, शीत ऋतु में वही बाण के समान प्रतिभासित होती है। सत्यता तो यही है कि संसार में कोई वस्तु न इष्ट है न अनिष्ट है। वस्तु जो जैसी है, वैसी ही है। तुम क्यों अनुकूल समय में राग कर व प्रतिकूल समय में द्वेष करके कर्मों का बंध कर व्यर्थ ही संसार के दु:खों को उठा रहे हो।

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः।
न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते॥36॥–यो.सा.अ.

मोह से जिसे इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है, वही इष्ट हो जाता है क्योंकि निश्चय नय से संसार में न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है।

अहो तत्त्ववेत्ता! जब वस्तु इष्टानिष्ट है ही नहीं तो राग-द्वेष क्यों करना। क्या आप अंजना और पवनंजय के विषय में नहीं जानते? वह अंजना पहले पवनंजय के लिए इतनी इष्ट थी कि वह विवाह तक अर्थात् 3 दिन की भी प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। अतः छिपकर अपने मित्र के साथ उसके अवलोकनार्थ उसके महलों तक पहुँचा। पुनः वही अंजना इतनी अनिष्ट रूप हो गई कि उसके प्राणों का अंत करने के लिए आतुर हो गया। मित्र के समझाने पर माना तो विवाह से इंकार कर

लौटने लगा। पिता आदि के समझाने पर विवाह किया तो उस ही अंजना का परित्याग कर दिया और 22 वर्ष बाद वही अंजना पुनः इतनी इष्ट हो गयी कि युद्ध में प्रस्थान करने के बाद वह रात्रि में छिपकर अंजना से मिलने आया। पुनः कलंकित कर सास केतुमति ने जब अंजना को महल से निकाला, पश्चात् जब पवनंजय युद्ध से लौटकर आए तब अंजना को न पाकर अपने प्राण त्यागने को तत्पर हो गए।

अहो तत्त्ववेत्ता! जहाँ-जहाँ राग होता है वहाँ-वहाँ द्वेष भी होता है। ज्ञानार्णव में कहा है-

यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रैति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रामत्यधिकं मनः॥23/25॥

जहाँ-जहाँ राग अपने पद धरता है वहाँ-वहाँ द्वेष भी प्रवर्तता है, यह निश्चय है और इन दोनों का अवलम्बन करके मन भी अधिकतर विकार रूप होता है।

इस राग और द्वेष को छोड़कर साम्यरस का पान करो।

यह राग आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग, निजपद लेइये॥

हे तत्त्ववेत्ता! यह राग की आग है जो प्रतिपल आत्मा को जला रही है अतः समता रूपी अमृत का सेवन करो। जिन विषय-कषायों को अब तक अपना माना है अब तो उनका त्याग करो व स्वात्म पद प्राप्त करो। राग के त्याग के बिना यह शुद्ध पद प्राप्त करना संभव नहीं।

जो अणु-मेत्तु वि राउ, मणि जामण मिल्लई एत्थु।
सो णवि मुच्चइ ताम, जिय जाणंतु वि परमत्थु॥81॥-परमात्म प्रकाश

जो जीव इस संसार में थोड़ा भी राग मन में से नहीं छोड़ देता है तब तक हे जीव! निज शुद्धात्म तत्त्व को शब्द से केवल जानता हुआ भी मुक्त नहीं होता।

हे तत्त्ववेत्ता! जिस वस्तु का, द्रव्य का जैसा स्वरूप है, वैसा ही जानो। जानो... देखो... फँसो मत। उनमें राग-द्वेषादि कर कर्मों का बंध कर संसार का वर्धन मत करो, उस राग-द्वेष के नाश हेतु प्रवृत्त होओ।

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा॥182॥-आत्मानुशासन

जिस प्रकार बीज से जड़ और अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मोह रूपी बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है, उसे ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा उस मोह रूपी बीज को जला देना चाहिए।

निरन्तर निज शुद्ध स्वरूप का चिंतन करते हुए, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चिंतन व वैराग्य के बल से मोह को क्षीण करो। परमात्म द्रव्य को जानकर परद्रव्य से राग-द्वेष मत करो। यह राग-द्वेष तेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। उस राग-द्वेष को नष्ट करने का उपाय बताते हुए कहते हैं-

जावंति केइ संगा, उदीरया होंति रागदोसाणं।
ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो।।264।।-भ.आ.

राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला जो कोई परिग्रह है, उनका त्याग करने वाला मुनि निःसंग होकर राग-द्वेषों को जीतता है।

निज स्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य वस्तुओं का त्याग आवश्यक है। अहो तत्त्ववेत्ता! बाह्य संग छोड़कर पुनः पुनः आत्म तत्त्व का चिंतन करो।

णाणावरणीयकम्मरहिदो हं।।12।।

अर्थ-मेरी आत्मा ज्ञानावरण कर्म से रहित है।

भावार्थ- जीव के ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। धवला जी पुस्तक 6 में कहा है-

''णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इदि एयट्ठो। तमावरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं।'' ज्ञान, अवबोध, अवगमन और परिच्छेद ये सब एकार्थवाचक नाम हैं उस ज्ञान को जो आवरण करता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है। यह ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है- आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यय-ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।

अहो तत्त्ववेत्ता! इस ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होना तेरा स्वभाव नहीं है। तेरी आत्मा अनंत शक्ति स्वरूप परमज्ञानमय है। आत्मा रूपी सूर्य के समक्ष मेघ पटलों के समान छाए इस ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर। अपने स्वभाव को भूलकर विभाव परिणति करते हुए ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध करता है जो तेरे ज्ञान रूपी चक्षु को ढांककर संसार में अंधा बना देता है।

जीव प्रश्न करता है कि क्या प्रधान कारण है जिसके कारण वह इस ज्ञानावरणीय कर्म का बंध करता है। तब बताते हैं आचार्य, उपाध्याय वा अपने गुरु के प्रतिकूल चलना, अकाल में अध्ययन करना, अश्रद्धा होना, अभ्यास में आलस्य होना, अनादर से अर्थ सुनना, तीर्थोपरोध अर्थात् दिव्यध्वनि के समय स्वयं व्याख्या करने लगना, बहुश्रुतपने का गर्व होना, मिथ्योपदेश करना, बहुश्रुत का अपमान करना, स्वपक्ष का दुराग्रह व दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप करना, स्वपक्ष का परित्याग या सूत्र के विरुद्ध बोलना, शास्त्र व ज्ञानादि का विक्रय करना तथा हिंसा आदि ज्ञानावरण के आस्रव के कारण हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! इन सब कारणों का परित्याग कर निरन्तर ज्ञान की भावना करो। आचार्य भगवन् श्री गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में कहते हैं–

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥174॥

आत्मा ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव से च्युति नहीं होना ही स्वभाव की प्राप्ति कहलाती है, अतः जो स्वभाव से अच्युति की इच्छा करता है–यह चाहता है कि हमारा ज्ञान नष्ट न हो तो वह निरन्तर ज्ञान की भावना करे।

ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। क्योंकि गुण- गुणी कभी पृथक्-पृथक् नहीं होते। आत्मा से अलग ज्ञान व ज्ञान से अलग आत्मा नहीं है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने भी कहा है–

णाणं जीवसरूवं, तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि, अप्पादो होदि वदिरित्तं॥170॥–नियमसार

ज्ञान जीव स्वरूप है, आत्मस्वरूप है अतः यह कहना ठीक ही है कि आत्मा (ज्ञान) आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो वह उससे भिन्न हो जाएगा। अथवा **'अप्पा णाणपमाणं'** आत्मा ज्ञान प्रमाण है।

हे तत्त्ववेत्ता! विचार करो कि जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ इंद्रियों के द्वारा देखता हूँ वह मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर स्वाधीन करता हुआ जिस उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञान प्रकाश को अंतरंग में देखता हूँ, अनुभव करता हूँ वही मेरा वास्तविक स्वरूप है।[1] मैं ज्ञानावरण कर्म से सर्वथा रहित हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ।

चिंतय निजदेहस्थं सिद्धम्, आलोचय कायस्थं बुद्धम्।
स्मर पिंडस्थं परम विशुद्धम्, कल केवल केली शिवलब्धम्॥70॥–वै.म.

अपने शरीर रूपी सदन में विराजमान शोभा संपन्न सिद्ध भगवान् का चिंतन करो, शरीर में पाए जाने वाले ज्ञानस्वरूप कर्ममल रहित शुद्धात्मा का आलोचन करो, शरीर में पाए जाने वाले परम विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिंतन कर और अन्त में केवलज्ञानरूपी क्रीड़ा के द्वारा 'मोक्ष' स्थान की प्राप्ति में सफल प्रयत्न होओ॥

1. यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥51॥ –समाधितंत्र

दंसणावरणीयकम्म-रहिदो हं॥13॥

अर्थ–मेरी आत्मा दर्शनावरणीय कर्म से रहित है।

भावार्थ–जीव के दर्शन गुण को आवरण करने वाला दर्शनावरण कर्म कहलाता है। धवला जी पु. 1 में कहा है, ''**अन्तरङ्गार्थ- विषयोपयोगप्रतिबंधकं दर्शनावरणीयम्**'' अन्तरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है। इसके 9 भेद हैं–निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय।

हे तत्त्ववेत्ता! यह दर्शनावरण कर्म से बद्ध होना तुम्हारा स्वभाव नहीं है, तुम अनंतदर्शी हो, सदैव दर्शन स्वभाव से युक्त हो। दर्शन मात्सर्य, दर्शन में अन्तराय, आँखें फोड़ना, इंद्रियों के विपरीत प्रवृत्ति, दृष्टि का गर्व, दीर्घ निद्रा, दिन में सोना, आलस्य, नास्तिकता, सम्यग्दृष्टि में दूषण लगाना, कुतीर्थ की प्रशंसा, हिंसा और यतिजनों के प्रति ग्लानि का भाव आदि दर्शनावरणीय के आस्रव के कारण हैं।

अहो वस्तु स्वरूप को जानने वाले तत्त्ववेत्ता! दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव के कारणों का परित्याग कर आत्मा की आराधना करो। आचार्य भगवन् श्री अमृतचन्द्र स्वामी जी ने कहा है–

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥138॥–समयसार कलश

अनादिसंसार से पद-पद पर निरन्तर मत्त रहने वाले ये रागी पुरुष जहाँ शयन कर रहे हैं वह अपद है–अपना स्थान नहीं है, हे अन्धे प्राणियों! जागो, और इधर आओ, यह तुम्हारा पद है, जिसमें कि अत्यन्त शुद्ध तथा स्वरस से भरा हुआ चैतन्य रूप धातु स्थायीभाव को प्राप्त हो रहा है–निरन्तर रह रहा है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह आत्मा महासत्ता अवलोकन में समर्थ होने से शाश्वत दृशि शक्ति से युक्त है। अतः मैं सकल विभाव भावों का परित्याग कर साम्य रस का पान करते हुए, समस्त पर पदार्थों से राग-द्वेष से हीन होता हुआ निज आत्म गुणों में अवगाहन कर परम उत्कृष्ट अनन्त दर्शन स्वरूप आत्मा के अनुभव का, अनन्त दर्शन के प्रकटीकरण का परम पुरुषार्थ करता हूँ।

एगो मे सासदो आदा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥102॥–नियमसार

मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ, शेष सब मुझसे बाह्य हैं, अन्य से संयोग मात्र मेरा संबंध है।

''ज्ञानदर्शनस्वरूपोऽहम्'' अहो! मैं ज्ञान-दर्शन स्वभावी हूँ। ये कर्म कदापि भी मेरा स्वभाव नहीं हैं।

अंतरायकम्म-रहिदो हं॥14॥

अर्थ–मैं अंतराय कर्म से रहित हूँ।

भावार्थ–जो कर्म विघ्न उत्पन्न करता है वह अन्तराय कर्म कहलाता है। **'विघ्नकरणमन्तरायस्य'** विघ्न करना अन्तराय का कार्य है। यह अंतराय कर्म पाँच प्रकार का होता है–दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। अज्ञानी जीव दूसरों के कार्यों में विघ्न उत्पन्न कर अपनी आत्मा को अंतराय कर्म से बांध कर कष्ट देता है। ज्ञान में पढ़ने-पढ़ाने में विघ्न डालना, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, भूषण, शयन, आसन, भोजन, खाद्य, पेय आदि में विघ्न करना, विभव समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग न करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, अवर्णवाद करना, देवता के लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्य का ग्रहण करना, दूसरे की शक्ति का अपहरण करना, धर्म व्यवच्छेद करना, गुरु-चैत्य की पूजा में विघ्न डालना, बंधन, गुह्य अंगच्छेद, प्राणिवध आदि अंतराय कर्म के कारण हैं।

इन कारणों का त्याग कर अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त कराने का परम पुरुषार्थ करो। हे तत्त्ववेत्ता! सावधान हो जाओ। इन्हीं कर्मों ने तुझ सलौनी, माधुर्य रस से परिपूरित आत्मा को ठग लिया है, अनंत शक्ति का पुंज होते हुए भी भयभीत कर संसार कारागृह में जकड़ा हुआ है। जबकि तुम्हारी आत्मा में इतनी शक्ति है कि तुम जब चाहो तब वैराग्य संयम व शुभ ध्यान के बल से वास्तव में राजा किन्तु कर्मों के वशीभूत हुई निजात्मा को कैवल्यविभूति सम्राट बना सकते हो।

अहो तत्त्ववेत्ता! ईर्ष्या आदि से किसी के पठन-पाठन, यात्रा, पूजन, मंदिर निर्माण आदि शुभ कार्यों में विघ्न मत डालो। अन्यथा कर्मों से जकड़ता हुआ विभाव रूप परिणति करता हुआ तेरा आत्मा अनंत दु:खों को भोगने को मजबूर होगा। तुम्हारे पास तो स्वयं अतुल्य, अनुपम आत्म वैभव है उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील क्यों नहीं होते?

हे जीवो! खमाइ-दह-भावा सव्वदा तुमं हि जाणेहि।
किं णो गुणा ओग्गहसि, कम्म-पासं किं ण णासेसि॥299॥

–अप्पविहवो (आ. वसुनंदी मुनि)

हे जीव! तुम उत्तम क्षमादि दस भावों को सर्वदा ही जानो। तुम गुणों को ग्रहण क्यों नहीं करते हो, कर्म पाश को क्यों नष्ट नहीं करते हो?

तेरी आत्मा का स्वभाव कर्म से बंधना नहीं है। दानान्तराय आदि से रहित होने से तेरी आत्मा अनंत शक्ति स्वरूप है, तेरी आत्मा अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग व अनंत उपभोग से दैदीप्यमान स्वयंभू है। अपनी अनन्त शक्ति युक्त आत्मा को निज पद में स्थापित करने के लिए पुरुषार्थ करो।

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वाबलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण॥112॥–अमृतकलश

यह जीव मोह रूपी मदिरा को पीने से भ्रान्तिरस (अहंकार व ममकार) के वेग से पुण्य-पाप रूप कर्मों के भेद रूपी उन्माद से तिर्यंच गति आदि योनियों में नाचता है। ऐसे प्रकृति प्रदेशादि चार स्वभाव रूप समस्त कर्म को ध्यान के बल से जड़मूल से उखाड़कर अत्यंत सामर्थ्यशाली अखंड ज्ञानज्योति प्रकट हुई है। वह ज्ञान ज्योति ऐसी है कि जिसने अज्ञान रूपी अंधकार का नाश कर दिया है तथा परम पुरुषार्थ से विकास रूपी होती जाती है और केवलज्ञान के साथ उसने क्रीड़ा प्रारंभ की है।

अहो तत्त्ववेत्ता! अपनी शक्ति का भान कर और इन कर्म वन को ध्यान की अग्नि में जलाकर निज शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर। पुनः पुनः आत्म गुणों को प्रकट करने का अभ्यास कर।

तदब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्, तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं, त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥53॥ –स.तं.

उस शुद्ध आत्म स्वरूप का कथन करें, उसे दूसरों को बतायें। उस आत्म स्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से पूछें, उस आत्म स्वरूप की ही इच्छा करें, उसकी प्राप्ति को ही अपना इष्ट बनाएँ और उस आत्म स्वरूप की भावना में सावधान होकर आदर बढ़ावें जिससे यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप छूटकर ज्ञानमय परमात्म स्वरूप की प्राप्ति होवे।

वेयणीयकम्म-रहिदो हं॥15॥

अर्थ–मैं वेदनीय कर्म से रहित हूँ।

भावार्थ–बाह्य सामग्री के संयोग व वियोग द्वारा जीव के बाह्य सुख-दुःख का कारण वेदनीय कर्म माना जाता है। धवला जी पुस्तक 13 में इसे परिभाषित करते हुए कहा है–''**जीवस्स सुह-**

दुक्खुप्पाययं कम्मं वेयणीयं णाम।'' जीव के सुख और दुःख का उत्पादक कर्म वेदनीय है। यह वेदनीय कर्म दो प्रकार का है–साता वेदनीय व असाता वेदनीय।

अरिहंत पूजन करने में तत्परता तथा बाल व वृद्ध तपस्वियों की वैय्यावृत्ति, भूत-अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सरागसंयम, क्षान्ति व शौच आदि ये साता वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, हिंसा, निर्दयता, परनिन्दा, रस्सी, पिंजरा, यंत्र आदि हिंसा साधनों का उत्पादन, ताड़न, तर्जन, आत्म प्रशंसा, जीवन को यों ही बरबाद करना, संक्लेश प्रादुर्भाव, महा आरंभ, अनर्थदंड, विश्वासघात, कुटिलता आदि असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। इन सबको हेय जानकर शुद्धात्म चिंतन में रत हो।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह वेदनीय कर्म भी तेरा स्वभाव नहीं है। बाह्य सामग्री के द्वारा सुख-दुःख का वेदन करना तो अशुद्धात्मा का कार्य है। शुद्धात्मा का तो परमाणु मात्र से भी कोई संबंध नहीं है।

जम्मजरामयरहिदे, तहा दव्वभावणोकम्महीणे।
अणंताणंतकाले, संभवो ण किंचिवि वियारो॥125॥–अप्पविहवो

जन्म-जरा-रोग से रहित तथा द्रव्य, भाव व नोकर्म से हीन जीव में अनंतानंत काल में भी किंचित् भी विकार संभव नहीं है।

यदि आत्मा एक बार शुद्ध हो जाए, स्वभाव को प्राप्त कर ले तो वह पुनः कभी अशुद्ध नहीं होती। अहो तत्त्ववेत्ता! सोच तो सही, यह संसार परिभ्रमण का क्रम चलते अनादिकाल हो गया, क्या अब भी अंधी दौड़ लगानी है। रुको... ठहरो... सम्यक् मार्ग का बोध करो... पुनः आगे बढ़ो।

''शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि''

तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरंजन है। सिद्धों के समान ही तेरा आत्मवैभव है। सिद्धों सा स्वरूप होने पर भी गज भर पृथ्वी, कागज के टुकड़ों के पीछे राग-द्वेष कर क्यों स्वयं को दुःख दे रहा है। क्यों किसी को देखकर निज परिणाम मलिन करता है? अरे! उनका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा अपितु तेरे बिगड़े परिणाम तुझे तेरे स्वभाव से बार-बार च्युत कर देते हैं।

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी,
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्॥74॥–आ. पद्मप्रभमल्लधारि देव

शुद्ध जीवास्तिकाय के सिवाय अन्य सभी पुद्गल द्रव्य मेरे नहीं हैं, जो तत्त्ववेदी इस प्रकार स्पष्ट कहता है वह अपूर्व सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

मैं अखण्डज्ञान रूप, समस्त कर्मों से विहीन, चिदानंद रूप हूँ। अरिहंतों व सिद्धों के समान ही वैभव का धारक हूँ। मैं उसी वैभव की प्राप्ति के लिए पुनः स्वाभाविक सहजानंदी आत्मा का बार-बार चिंतन करता हूँ।

आउकम्म-रहिदो हं॥16॥

अर्थ–मैं आयु कर्म से रहित हूँ।

भावार्थ–जीव के किसी एक शरीर में रहने की अवधि आयु कहलाती है और इसका निमित्तकर्म आयुकर्म कहलाता है। गोम्मटसार कर्मकांड जी में कहा है–

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तेहि।
जीवस्स अवट्ठाणं, करेदि आऊ हलिव्व णरं॥11॥

कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मोह से अनादि चतुर्गति रूप संसार की वृद्धि होती है। ऐसे संसार की चार गतियों में जीव का अवस्थान कराने वाला आयु कर्म है, जैसे काष्ठ का खोड़ा मनुष्य को रोककर रखता है।

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु के भेद से यह आयुकर्म चार प्रकार का है। विभिन्न शुभाशुभ परिणामों से यह आत्मा विभिन्न गतियों में जाकर, विभिन्न आयु प्राप्त कर पुण्य-पाप का फल प्राप्त करता है। यह नरकादि रूप मेरा स्वभाव नहीं है। यह कर्म मोक्षमहल की अर्गला रूप है। इसको नष्ट कर शाश्वत सिद्ध गृह में प्रवेश करने में मैं पुरुषार्थरत होऊँगा। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधितंत्र में कहा है–

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्मन्यते नरम्।
तिर्यंच तिर्यंङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा॥8॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योचलस्थितिः॥9॥

मूढ़ मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यंच, देव शरीर में स्थित आत्मा को देव और नारक शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है किन्तु वास्तव में शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कर्मोपाधि से रहित आत्मा मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीय रूप नहीं है, निश्चयनय से तो यह आत्मा अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त शक्ति रूप वीर्य का धारक है, स्वानुभवगम्य है अर्थात् अपने द्वारा आप अनुभव किए जाने योग्य है और अपने स्वभाव से कभी च्युत न होने वाला, इसमें सदा स्थिर रहने वाला है।

हे तत्त्ववेत्ता! तेरा आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न नारकी है, न तिर्यंच है। इसने सिद्धों के समान अनन्त अनुपम निधि से संयुक्त होने पर भी अपनी शक्ति को न पहचानते हुए आयु कर्म की पराधीनता से विभिन्न शरीर में रहकर संसार में परिभ्रमण कर निज चिदानन्द से अभी तक परिचय को प्राप्त नहीं किया। अहो तत्त्ववेत्ता! यह सब पुण्य-पाप का, शुभ-अशुभ आयु का, कर्म का बंध करना तुम्हारा स्वभाव नहीं है, यह सब तो पुद्गल है। तेरी सलौनी आत्मा का परमाणु मात्र से भी सम्बन्ध नहीं है। इन पुद्गल में राग-द्वेष परिणति को छोड़कर निज स्वभाव को प्राप्त करने हेतु जागरूक हो जाओ।

पुण्य-पाप फल माँहि, हरख बिलखौ मत भाई,
यह पुद्गल परजाय, उपज विनशै फिर थाई।
लाख बात की बात, यही निश्चय उर लाओ,
तोरि सकल जग द्वंद फंद, नित आतम ध्याओ।।–छहढाला

यह कर्मादि का बंध तेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। विभिन्न आयु प्राप्त करना तुम्हारे द्वारा बांधे गए पौद्गलिक कर्मों का फल ही मानो। एक नरकादिक पर्याय के पश्चात् दूसरी पर्याय प्राप्त होती रहती है। अहो तत्त्ववेत्ता! सब बातों का सार तो केवल यही है कि समस्त द्वंद-फंदों को छोड़कर निज शुद्ध आत्मा की आराधना करो।

इस बाह्य पुद्गल से मोह का परित्याग करो और यह तभी संभव है जब अपनी आत्मा के एकत्व स्वरूप को जानने में जीव समर्थ होगा। अरे! जिसके लिए तू पुण्य-पाप कर स्वयं को कर्मों से बांधता है वे सब विपाक के समान तेरा साथ देने वाले नहीं हैं। यह सब तुझे अकेले ही भोगना पड़ता है।

एक्को करेदि पावं, विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।15।।
एक्को करेदि पुण्णं, धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।16।।–बारसाणुवेक्खा

यह जीव विषयों के निमित्त तीव्र लोभ से अकेला ही पाप करता है पुन: पाप के फलस्वरूप नरक व तिर्यंचों में उत्पन्न होकर उसका फल अकेला ही भोगता है और यह जीव धर्म के निमित्त से पात्र दान से अकेला ही पुण्य करता है एवं पुण्य के फलस्वरूप मनुष्य व देवों में उत्पन्न होकर अकेले ही उसका फल भोगता है।

संसार में यह आत्मा अकेला कर्म कर अकेले ही उसका फल भोगता है। अहो तत्त्ववेत्ता! तेरे कर्मों का फल कोई अन्य नहीं भोग सकता है, तू किसी के द्वारा किए गए कर्म का फल नहीं भोगता। अत: विपाक समय साम्य रस का अनुभव करते हुए आत्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए उद्यम करो। यह कर्मादि तुझसे भिन्न हैं। एकत्व सप्तति में कहा है–

आत्माभिन्नस्तदनुगतवत्कर्म भिन्नं तयोर्वा
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं ये,
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत्॥

आत्मा भिन्न है और आत्मा के अनुगामी शरीर की तरह द्रव्यकर्म भी भिन्न हैं, उन दोनों की निकटता से जो विकार होता है वह भी भिन्न हैं। काल, क्षेत्र आदि जो भी पदार्थ हैं वे भी भिन्न हैं। इस प्रकार अपने-अपने गुण और कलाओं से सुशोभित ये सभी द्रव्य भिन्न हैं।

सुनो तत्त्ववेत्ता! तेरी आत्मा आयु कर्मादि से रहित है, उससे भिन्न निराली है। इन सब कर्मादि से भिन्न निज आत्मा की अनुभूति करो। अपने देह मंदिर में विराजमान निज परमात्मा का स्मरण करो।

णामकम्म-रहिदो हं॥17॥

अर्थ—मैं नाम कर्म से रहित हूँ।

भावार्थ—जो निवृत्ति करता है, वह नामकर्म है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है—

नानामिनोति निर्वर्त्तयतीति नाम। जे पोग्गला सरीरसंठाण- संघडणवण्णगंधादिकज्जकारया जीवणिविट्ठा ते णामसण्णिदा होदित्ति उत्तं होदि। —धवला जी पु. 6

जो नाना प्रकार की रचना निवृत्ति करता है, वह नाम कर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्यों के करने वाले जो पुद्‌गल जीव में निविष्ट हैं, वे 'नाम' इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है।

इस नामकर्म की 42 पिंड प्रकृतियाँ हैं। गति, जाति, शरीर, बंधन, संघात, संस्थान, अंगोपांग, संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। यदि गति, जाति, शरीर आदि के उत्तर भेद कर दिए जाएँ तो ये 93 प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

यह नामकर्म तो शरीर की रचना करता है, जो कि आत्मा से भिन्न है। यह नामकर्म मेरा स्वभाव नहीं है। हाँ! नामकर्म के क्षय होने पर जो सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होता है वह मेरा स्वभाव है, मेरा गुण है।

यह नामकर्म शरीर को सुंदर, कुरूप, गौर, कृष्ण, लंबा, बौना आदि बनाता है किन्तु ये सब मेरा रूप नहीं है।

गौरः स्थूलः कृशो, वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं, केवलज्ञप्तिविग्रहम्॥70॥ –समाधितंत्र

मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ अथवा दुबला हूँ इस प्रकार शरीर के साथ अपने को एक रूप न करते हुए सदा ही अपने आत्मा को केवल ज्ञान स्वरूप अथवा रूपादि रहित उपयोग शरीरी अपने चित्त में धारण करें।

अहो तत्त्ववेत्ता! तेरी आत्मा शुद्धजीवत्व स्वभावी है। विकार से उत्पन्न होने वाली बाल्य, यौवन, प्रौढ़ता तथा वार्धक्य आदि अवस्थाएँ, एकेन्द्रिय आदि जाति, वज्रवृषभनाराचादि संहनन, समचतुरस्रादि संस्थान, यशःकीर्ति, सुस्वर, सुभग, शुभ आदि और स्थूलता-कृशता, सुरूप-कुरूप आदि के अनेक भेद भी शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा तेरे नहीं हैं।

तू सहज निश्चय नय की अपेक्षा सदा निरावरण है, शुद्धज्ञान रूप है, सहज चैतन्यशक्तिमय है, सहज दर्शन के विकास से परिपूर्ण है और स्वरूप में अविचल सहज पवित्र है। अतः यह पौद्गलिक शरीरादि तेरा नहीं है। आ. अमृतचंद्र स्वामी ने कहा है–

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥131॥ –समयसार कलश

आज तक जितने सिद्ध हो सके हैं वे सब भेदविज्ञान के द्वारा ही हुए हैं और जो अभी तक संसार में बद्ध हैं वे सब इस भेद ज्ञान के अभाव में बंध को प्राप्त हैं।

अतः हे तत्त्ववेत्ता! इन सभी देहादि से तू भिन्न ही स्वयं को जानना। यही भेदविज्ञान सिद्ध सम शक्ति के धारक इस जीव को सिद्धावस्था तक पहुँचाने में समर्थ होगा।

जैसे चित्रकार विविध प्रकार के चित्रों को बनाता है, वैसे ही नामकर्म के द्वारा जीव शुभ-अशुभ गति, जाति, शरीर आदि को प्राप्त कर दुःखपूरित संसार में परिभ्रमण करता है। जब तक कर्म का संयोग है तब तक संसार है। कर्मोदय से होने वाली जीव की अवस्था विभाव परिणति है तथा कर्म के अभाव से स्वाभाविक गुणों की प्राप्ति जीव का स्वभाव है।

शुभ या अशुभ दोनों ही नामकर्म मेरी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं अतः समस्त अशुभ, खोटे, कुटिल परिणामों का त्यागकर मैं निज स्वभाव की प्राप्ति के लिए शुभ, सरल परिणामों को स्वीकार करता हूँ।

गोदकम्म-रहिदो हं॥18॥

अर्थ–मैं गोत्र कर्म से रहित हूँ।

भावार्थ–जिसके कारण जीव उच्च वा नीच गोत्र प्राप्त करता है वह गोत्र कर्म कहलाता है। जो उच्च-नीच का ज्ञान कराता है वह गोत्र कर्म है।[1] यह गोत्र कर्म उच्च व नीच के भेद से दो प्रकार का होता है, जिसके उदय से लोकपूजित कुलों में जन्म होता है वह उच्चगोत्र है और जिसके उदय से गर्हित कुलों में जन्म होता है वह नीच गोत्र है।[2]

जिस प्रकार कुंभकार छोटे-बड़े घड़ों को बनाता है उसी प्रकार गोत्र कर्म उच्च व नीच गोत्र वा कुल करता है। कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्य पदार्थों से अपने को ऊँचा समझने वाला मनुष्य नीच गोत्र का बंध कर लेता है और आत्मनिन्दा, पर प्रशंसा, आकृष्ट गुण वालों के प्रति नम्रवृत्ति और ज्ञानादि में श्रेष्ठ होते हुए भी उसका अभिमान न करना, ये उच्च गोत्र के आस्रव के हेतु हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! इन उच्च-नीच गोत्र से तुम विहीन हो। तेरा कोई कुल जाति या वंश नहीं है। शुद्ध निश्चय नय से आत्मा का कोई कुल नहीं होता। गोत्र कर्म को नाशकर शुद्ध होने पर आत्मा अनंतानंत सिद्धों के मध्य विराजमान हो जाती है। तू शुद्धात्मा, चिदात्मा, परमात्मा, सहजानंदमयी, नित्यानन्दी, परमोज्ज्वलकीर्ति से सहित, एक अखंड, निर्द्वन्द, निर्मद, निर्मोह, निर्मम आत्मा है।

अरे! क्यों उच्च कुल या वंश की बात करता है, आत्मा का कोई कुल आदि है क्या? जब नहीं है तब किस जाति, कुल आदि का अभिमान करते हो? सर्वोत्तम कुल के धारी तीर्थंकर भी निज वैभव आदि को त्यागकर दिगंबर मुद्रा धारण कर लेते हैं। यदि यह कुल आदि शाश्वत होता तो वे उसका त्याग क्यों करते। हे तत्त्ववेत्ता! सिद्ध भगवान् सब गोत्र बन्ध के परिणामों से रहित होकर निजात्म तत्त्व में लीन हो गए हैं। तू भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सिद्धलोक का वासी है। व्यवहार से कर्मजनित विभाव परिणति से उच्च-नीच गोत्र में भटक रहा है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। तदनुसार प्रथमतः तू दोनों गोत्र के बन्ध के कारणों का परित्याग कर। पुद्गल के प्रति रागादि को छोड़कर आत्मतत्त्व में लीन हो जा।

अयि! कथमपि मृत्वा, तत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्तेः, पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥23॥–समयसार कलश

---

1. गमयत्युच्चनीचमिति गोत्रम् –ध. 13
2. यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्मतदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्मतन्नीचैर्गोत्रम्। –स.सि.

हे भाई! तू किसी प्रकार कष्ट पाकर अथवा मर पचकर भी तत्त्वों का कौतुहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त के लिए पड़ोसी बनकर आत्मानुभव कर; जिससे शरीर से भिन्न जिसका विलास है ऐसी अपनी आत्मा को सर्व द्रव्यों से भिन्न देखकर तू इस शरीरादि पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व रूप मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

जो संसार के परिचय से रहित है तथा संसार के बढ़ाने वाले गुणों के समूह से रहित है वह आत्मा सदैव स्तुत्य है। संसार के बढ़ाने वाले कारणों का परित्याग कर पुनः-पुनः आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिंतन करो।

अहमात्मा सुखाकांक्षी, स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा, भावयामि मुहुर्मुहुः॥207॥–नि.सा.टी.

क्योंकि मैं आत्मा हूँ और आत्म सुख का इच्छुक हूँ अतः आत्मा के द्वारा आत्मा में ही स्थित होकर जन्म-मरण से रहित अपने आत्मा का बार-बार चिन्तवन करता हूँ।

मैं न छोटा हूँ, न बड़ा हूँ, गोत्र कर्म क्षय होने पर प्रकट शाश्वत अगुरुलघु गुण से सहित हूँ। उसी गुण के प्रकटीकरण हेतु मैं निज आत्मतत्त्व का चिंतन करता हूँ।

मिच्छत्तय-रहिदो हं॥19॥

अर्थ–मैं मिथ्यात्व त्रय (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र) से रहित हूँ।

भावार्थ–वस्तु स्वरूप को नहीं जानता हुआ जो स्त्री, पुत्र आदि को अपना मानता है, देह को आत्मरूप मानता है और तदनुसार ही प्रवृत्ति करता है वह जीव मिथ्यादर्शन से युक्त होता है। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है।[1] अथवा भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान मिथ्यादर्शन है।[2] मिथ्यादर्शन का अविनाभावी ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। इसी अनुरूप मार्गाभास का आचरण करना मिथ्याचारित्र है। अथवा स्वकीय शुद्ध आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से विमुख होना मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप अरत्नत्रय है।

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञान - पराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्य वस्यति॥7॥–समाधितंत्र

बहिरात्मा इन्द्रिय द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है इसलिए अपने शरीर को आत्मरूप से निश्चय करता है।

1. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होई अत्थाणं। –भ.आ.
2. भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं। –नि.सा./ता.वृ.

बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि वह है जो इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का सेवन करता रहता है, आत्मा का श्रद्धान नहीं करता।

ज्ञानी तो पूरी तरह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को त्यागकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भाावना करता है। हे तत्त्ववेत्ता! तुमने अनादिकाल से मिथ्यात्व आदि को ग्रहण किया है, उसी को स्वीकार किया है, उसी अनुरूप आचरण किया है। स्वरूप से भ्रष्ट हुए जीव ने निश्चय चारित्र को न प्राप्त कर निश्चय रत्नत्रय का अनुभव कभी नहीं किया है।

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया होंति जीवेण।।90।।–नियमसार

इस जीव ने पहले मिथ्यात्व आदि भावों का चिरकाल तक अनुभव किया है परन्तु सम्यक्त्व आदि भावों का कभी भी अनुभव नहीं किया।

जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र से सर्वदा हीन है। यह कदापि भी इसका स्वभाव नहीं है। मिथ्यात्रय को छोड़ आत्म स्वरूप को प्राप्त करने हेतु रत्नत्रय को धारण करो क्योंकि निज स्वभाव को प्राप्त करने का रत्नत्रय ही एक मात्र उपाय है। ''**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**'' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।

जो जीव पाप रूपी वीर बैरियों की सेना की विजय पताका को लूटने वाले रत्नत्रय को धारण करता है वह निज आत्मा, परमात्मा को जानकर पुनः मुक्ति रमा का वरण कर अनंतकाल तक के लिए शाश्वत सुख का अनुभव करता है।

यदग्राह्यं न गृह्णाति, गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्।। –समाधितंत्र

जो अग्राह्य-ग्रहण करने के अयोग्य रागादि पर पदार्थों को कभी ग्रहण नहीं करता और ग्रहण में आए निज परमभाव को कभी छोड़ता नहीं एवं समस्त पदार्थों को सब प्रकार से जानता है, स्वसंवेद्य स्वरूप मैं उस रूप हूँ, वही हूँ।

जीवो तुमं सुद्धोत्थि, बुद्धो णाणी हीणो देहादो।
दव्व-भाव-कम्मादो, रायद्दोस मिच्छत्तादु य।।282।।–अप्प-विहवो

अहो तत्त्ववेत्ता! शुद्ध निश्चय नय से तू शुद्ध है किन्तु इस शुद्ध पद की प्राप्ति तुझे अभी तक हुई नहीं है अतः उस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए निरंतर आत्म चिंतन करते हुए उसी आत्म तत्त्व में लीन हो।

हे जीव! तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, ज्ञानी हो, देह से हीन हो, द्रव्य-भावकर्म, रागद्वेष और मिथ्यात्व से हीन हो।

सव्वपावपइडि-रहिदो हं॥20॥

अर्थ–मैं सर्व पाप प्रकृतियों से रहित हूँ।

भावार्थ–जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है[1]। अथवा अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिससे होती है वह पाप है[2]। अथवा अशुभ वेदादि के कारण जो अव्रतादि भाव हैं उनको शास्त्र में पाप कहा गया है।[3] बहुत प्रमाद वाली चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिर चित्त स्वभावता, झूठे बाट तराजू आदि रखना, कृत्रिम स्वर्ण-मणि-रत्नादि बनाना, झूठी गवाही, अंगोपांगों का छेदन, पिंजरादि बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा, मिथ्याभाषण, पर द्रव्य हरण, महाआरंभ, महा परिग्रह, रूप का घमंड, कठोर असभ्य भाषण, गाली देना, व्यर्थ बकवाद करना, वशीकरण प्रयोग, दूसरे में कौतूहल उत्पन्न करना, भूषणों में रुचि, मंदिर के गंधमाल्य या धूपादिक को चुराना, लंबी हँसी, ईंटों का भट्टा लगाना, वन में दावाग्नि जलवाना, प्रतिमायतन विनाश, आश्रय विनाश, आराम-उद्यान विनाश, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, अर्हंतादि पूज्य पुरुषों की निन्दा करना, निन्दित आचरणों में प्रेम रखना और पाप कर्म जीविका इत्यादि अशुभ वा पाप प्रकृतियों के आस्रव के कारण हैं।

कर्म की 148 प्रकृतियों में 100 पाप प्रकृति कही गई हैं। ज्ञानावरण की पाँच, अन्तराय की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की 28, इस प्रकार 47 सर्व घातिया कर्म पाप रूप हैं। एक असाता वेदनीय, 1 नरकआयु, 1 नीचगोत्र एवं 50 नाम कर्म प्रकृतियाँ-2 गति, 2 गत्यानुपूर्वी, 4 जाति, आदि के बिना 5 संस्थान, 5 संहनन, 20 स्पर्शादि, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, अपर्याप्त, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, दुर्भग, दुःस्वर, अयशःकीर्ति, अनादेय, अस्थिर और अशुभ। इस प्रकार ये 100 पाप प्रकृतियाँ हैं।

पापाचरण वा निन्दित आचरण से जीव के इन पाप प्रकृतियों का बंध होता है जो संसार में परिभ्रमण कर जीव को असह्य दुःख देती हैं। अहो तत्त्ववेत्ता! तेरा भोला आतमराम अनादिकाल से संसार में दुःख भोग रहा है। जरा ठहरकर स्वकीय कृत्यों पर विचार तो कर। ये पाप तेरी आत्मा को संसार सिंधु में बार-बार बहुत गहरा डुबा रहे हैं। अनंत निधियों का स्वामी होकर भी इन दुष्ट पाप कर्मों के द्वारा संसार में पुनः-पुनः रंक बनाया जा रहा है।

जरा सोचो, यह पाप क्यों और किसके लिए कर रहे हो? तेरी आत्मा तो इन सबसे अत्यंत कष्ट पाती है, चीखती है, चिल्लाती है, तुझे बार-बार पुकारती है, प्रत्येक पाप करने से पूर्व तेरी

1. पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। -स.सि.
2. पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं। -भ.आ./वि.
3. अहवा कारणभूदा तेसिं च वयव्वयाइ इह भणिया।
   ते खलु पुण्णं पावं जाण इमं पवयणे भणियं॥162॥ -न.च.वृ.

आत्मा तुझे सावधान करती है, किन्तु फिर भी विषय-कषायों के वशीभूत हो 'नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुने' अपनी प्यारी सी आत्मा की दशा को न देखता हुआ, उसकी पुकार को न सुनता हुआ पाप में संलिप्त हो जाता है। अहो तत्त्ववेत्ता! विपाक समय में फिर तू रुदन करता है, बहुत पीड़ा, कष्ट का अनुभव करता है। तू तो ज्ञान रूप है ना, तू ज्ञान-दर्शन स्वभावी है फिर दुःख देने वाले इन कृत्यों को क्यों नहीं छोड़ता?

क्षणभर के आनंद के लिए पापार्जन कर सागरों पर्यंत अपनी आत्मा को दुःख की आग में जलाने को मजबूर क्यों कर देता है? ये पाप के निमित्त कार्य, पाप प्रकृतियाँ तेरा स्वभाव किंचित् भी नहीं है। ये सब तुझे तेरे स्वभाव से बहुत दूर ले जाकर संसार अरण्य में पटक देते हैं। फिर निज स्वभाव से अपरिचित सा तू बहुत दुःख उठाता है। यदि निज स्वभाव व निज आत्म वैभव को प्राप्त करना चाहता है, अनंत सुख का उपभोग करना चाहता है तो सर्व पापों के परित्याग का संकल्प ले।

श्री समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य भगवन् कहते हैं-

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्म सिद्धयाभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव।

प्रथम तो जो अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाले हैं इसलिए स्वयमेव अपराध स्वरूप होने से विषकुंभ ही हैं क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं।

किन्तु अनादिकाल से दुःख भोगने के उपरांत भी इस जीव की यह पापप्रवृत्ति-तृष्णा शांत नहीं होती। और इसी कभी न शांत होने वाली तृष्णा की पूर्ति में यह जीव अपने संसार का प्रतिपल वर्द्धन करता रहता है।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीर कामभोगैर्विसंख्यैश्-
चिरतमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित्।20/28।।-ज्ञानार्णव

इस जगत् में समुद्र तो जल के प्रवाहों से तृप्त नहीं होता और अग्नि ईंधनों से तृप्त नहीं होती, सो कदाचित् दैवयोग से किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जायें परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम-भोगादि के भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता।

कभी न अंत को प्राप्त होने वाली यह तृष्णा समस्त पाप की जड़ है क्योंकि यह तृष्णा बढ़ती है तो राग-द्वेष बढ़ता है और यही संसार का मूल है। तृष्णा ही व्यक्ति को पाप के लिए प्रेरित करती है। मनुष्यों के जैसे-जैसे शरीर और धन में आशा फैलती है, तैसे-तैसे कर्म की गाँठ दृढ़ होती है।[1]

1. यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढ़ीभवेत्।।17/2 -ज्ञा.

हे आत्मन्! जब तक तेरे चित्त में आशारूपी अग्नि स्वतंत्रता से नितान्त प्रज्ज्वलित हो रही है तब तक तेरे महादु:खरूपी दाह की शान्ति कहाँ से हो।[1]

अत: हे तत्त्ववेत्ता! इस आशा पाश से छूटने का संयम ही एक उपाय है। तृष्णा का गड्ढा नियंत्रण, संयम से नष्ट होता है अन्यथा उसे भरने का कोई उपाय नहीं है। तीनों लोक की संपत्ति मिलकर भी उसे भर नहीं सकती। इस तृष्णा के कारण दृढ़ हुए राग-द्वेषों के क्षय का उपाय करो जिससे पापादि प्रवृत्ति से रहित निज स्वभाव को प्राप्त कर सको।

मेत्तं माणुस-देहो, संजम-जोग्गो भणिदो जिणसमये।
संजमं किं णो गहसि, भवण्णवे बुड्डदि विणा तं॥290॥–अप्प-विहवो

अहो, जिनशासन में संयम के योग्य मात्र मनुष्य देह कही गई है। मनुष्य देह को पाकर तुम संयम ग्रहण क्यों नहीं करते हो। संयम के बिना जीव संसार सागर में डूब जाता है।

हे तत्त्ववेत्ता! संयम के माध्यम से सर्वप्रथम पाप का निरोध कर तभी स्वात्मोपलब्धि संभव है। यदि तू संसार सागर से पार होना चाहता है, तो मेरे सारभूत वचनों के अनुसार कार्य कर। मोह को छोड़ काम-क्रोध का भी त्याग कर, संयम व सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारम्, चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारम्।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधम्, त्यज भजत्व संयमवरबोधम्॥6॥–वैराग्यमणिमाला

हे तत्त्ववेत्ता! संयम धारण करके, सर्व पापों का परित्याग करके आत्मानुभव की प्राप्ति करो।

सव्वपुण्णपइडि-रहिदो हं॥21॥

अर्थ–मैं सर्व पुण्य प्रकृति से रहित हूँ।

भावार्थ–जीव के दया, पूजा, दानादि रूप शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है। अथवा शुभ परिणाम पुण्य है।[2] अथवा जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है।[3] जिस जीव को प्रशस्त राग है, अनुकंपायुक्त परिणाम हैं, चित्त में कलुषता का अभाव है उस जीव को पुण्यास्रव होता है। धार्मिक स्थानों व धर्मात्माओं के दर्शन करना, आदर-सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसार से डरना, प्रमाद का त्याग करना, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व मध्यस्थ भावना से, अर्हंतादि पंच परमेष्ठियों की भक्ति से, पवित्र चरित्र से प्रीति करने आदि से पुण्य का बंध होता है।

---

1. यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विश्रृंखलः।
   तावत्तव महादु:खदाहशान्तिः कुतस्तनी॥17/12 –ज्ञा.
2. सुहपरिणामो पुण्णं। प्र./सा.
3. पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। स.सि.

पुण्य प्रकृतियाँ 68 होती हैं। स्पर्शादि 20 प्रकृति पुण्य व पाप दोनों रूप होने से दोनों में ही ली गई हैं। 1 साता वेदनीय, नरकायु बिना 3 आयु, उच्चगोत्र एवं नामकर्म की 63 होती हैं–2 गति, 2 गत्यानुपूर्वी, पंचेद्रिय जाति, 5 शरीर, 5 बंधन, 5 संघात, 3 अंगोपांग, 1 संहनन, 1 संस्थान, 20 स्पर्शादि, प्रशस्त विहायोगति, पर्याप्त, त्रस, बादर, प्रत्येक शरीर, सुभग, सुस्वर, यशःकीर्ति, आदेय, स्थिर, शुभ, परघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थंकर, आतप, उद्योत।

शुभ आचरण से जीव इन पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है। किन्तु यह पुण्य भी स्वात्म पद की प्राप्ति में हेय है। परमात्म प्रकाश में कहा है–यह जीव पाप के उदय से नरक गति और तिर्यंच गति पाता है, पुण्य से देव होता है, पुण्य और पाप के मेल से मनुष्य गति को पाता है और दोनों के क्षय से मोक्ष को पाता है।[1] क्योंकि पुण्य भी जीव को संसार में रोके रखता है। आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥146॥–समयसार

जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है, वैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है। इसी प्रकार अपने द्वारा किए गए शुभ व अशुभ दोनों ही कर्म जीव को बांधते हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! यदि तू सिद्ध पद, स्वात्म वैभव चाहता है तो पुण्य-पाप दोनों में प्रीति मत कर क्योंकि यह भी तेरा स्वभाव नहीं है। जैसे माना एक शूद्रा दो पुत्रों को एक साथ जन्म देती है। पुन: उसका एक पुत्र ब्राह्मण गोद ले लेता है और दूसरा उस ही शूद्र के यहाँ पलता है। बड़ा होकर एक पुत्र '**मैं ब्राह्मण हूँ**' इस प्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता और दूसरा '**मैं स्वयं शूद्र हूँ**' ऐसा मानकर नित्य मदिरा से ही स्नान करता है। यद्यपि दोनों साक्षात् शूद्र हैं तथापि वे जाति भेद के भ्रम सहित प्रवृत्ति करते हैं। इसी प्रकार पुण्य व पाप दोनों ही यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार समान हैं फिर भी मोह दृष्टि के कारण भ्रमवश अज्ञानी जीव इनमें भेद देखकर पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा समझता है।[2] क्योंकि ये दोनों ही बंध (संसार) के कारण हैं अत: ये दोनों ही हेय हैं।

पुण्य भी जीव के लिए दु:ख का कारण है। वज्रधर और चक्रधर (इंद्र व चक्रवर्ती) शुभोपयोग मूल भोगों के द्वारा देहादि की पुष्टि करते हैं और भोगों में रत वर्तते हुए सुखों जैसे भासित होते हैं। इस प्रकार यदि पुण्य नाम की कोई वस्तु विद्यमान भी हो तो वह देवों तक के जीवों के विषय तृष्णा उत्पन्न करती है और जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव तृष्णाओं के द्वारा दु:खी होते हुए

1. पावे णारउ तिरिउ जिउ पुण्णे अमरु वियाणु।
   मिस्से माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु॥2/63 –प.प्र.
2. स.सा./आ.

मरण पर्यन्त विषयसुखों को चाहते हैं और दु:खों से सन्तप्त होते हुए और दु:ख दाह को सहन न करते हुए उन्हें भोगते हैं।[1]

अहो तत्त्ववेत्ता! जब कोई भी कर्म तेरा स्वभाव नही है, तेरे स्वभाव से विलक्षण है तब वे सुख का कारण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् कोई भी कर्म जीव को सुख देने वाला नहीं होता। कर्म के क्षय से ही जीव वास्तविक सुख प्राप्त करता है। जिस प्रकार चंदन से उत्पन्न अग्नि भी अवश्य जलाती है उसी प्रकार धर्म से उत्पन्न भी भोग अवश्य दु:ख उत्पन्न करता है।[2]

अहो तत्त्ववेत्ता! परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात यतीश्वर भी संसार से मुक्त होने के लिए पुण्य को छोड़ते हैं। जो पुण्य को भी चाहता है, वह संसार को चाहता है, क्योंकि पुण्य सुगति का कारण है, पुण्य का क्षय होने से ही मोक्ष होता है।[3]

अहो तत्त्ववेत्ता! ये शुभ व अशुभ समस्त ही परिणाम उपाधि सहित होने के कारण बन्ध के हेतु हैं ऐसा जानकर बन्धरूप समस्त शुभाशुभ रागद्वेष का विनाश करने के लिए समस्त रागादि उपाधि से रहित सहजानंद लक्षण वाले सुखामृत स्वभावी निजात्म द्रव्य में भावना करनी चाहिए।

सव्विंदियविसय-रहिदो हं।।22।।

अर्थ–मैं सर्व इंद्रियों के विषयों से रहित हूँ।

भावार्थ–जो आत्मा के सूक्ष्म अस्तित्व का ज्ञान कराने में कारण है उसे इंद्रिय कहते हैं।

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहंति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण।।164।।–गो.जी.

जिस प्रकार अहमिन्द्र बिना किसी विशेषता के 'मैं इंद्र हूँ, मैं इंद्र हूँ' इस प्रकार मानते हुए ऐश्वर्य का स्वतंत्र रूप से अनुभव करते हैं, उसी प्रकार इंद्रियों को जानना चाहिए अर्थात् इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों का सेवन करने में स्वतंत्र हैं।

---

1. कुलिसाउह-चक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
   देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा।।73।।–प्र.सा.
   जदि संति हि पुण्णाणि य, परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
   जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं।।74।।–प्र.सा.
   ते पुण्ण उदिण्णतंण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
   इच्छंति अणुभवंति य, आमरणं दुक्खसंतत्ता।75।। प्र.सा.
2. धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दु:खपरम्परा।
   चन्दनादपि संपन्न: पावक: प्लोषते न किम्।।25।। –यो.सा.अ.
3. पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
   पुण्णं सुगई, हेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं।।410।। –का.अ.

ये मूलतः द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की होती हैं। **'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्'** निर्वृत्ति और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय है। प्रतिनियत चक्षु आदि इंद्रियों के आकार रूप से अवस्थित शुद्धात्म प्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं तथा उन्हीं आत्म प्रदेशों में प्रतिनियत आकार रूप और नामकर्म के उदय से विशेष अवस्था को प्राप्त पुद्गल प्रचय बाह्य निर्वृत्ति है। जो निर्वृत्ति का उपकार करता है वह उपकरण है, यथा नेत्रेंद्रिय में कृष्ण व शुक्ल मंडल आभ्यंतर उपकरण है तथा पलकादि बाह्य उपकरण हैं। **''लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्''** लब्धि व उपयोग रूप भावेन्द्रिय है।

इंन्दियाँ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण के भेद से पाँच प्रकार की कही गयी हैं। आठ स्पर्श (हल्का, भारी, ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम) 5 रस (खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कषायला), पाँच वर्ण (लाल, पीला, नीला, काला, सफेद), दो गन्ध (सुगन्ध, दुर्गन्ध), और सात स्वर ये 27 भेद पाँचों इंद्रियों के विषयों के हैं और एक भेद मन का अनेक विकल्प रूप विषय है। इस प्रकार कुल 28 विषय हैं।

कामा दुवे तिओ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता।
कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया॥1140॥–मू.आ.

दो इंद्रियों के विषय काम हैं, तीन इंद्रियों के विषय भोग हैं; ऐसा विद्वानों ने कहा है। रस और स्पर्श तो काम हैं और गन्ध, रूप, शब्द भोग हैं, ऐसा कहा है।

देखो! इन्हीं काम व भोग में अनुरक्त होते हुए जीव को घोर दुःख उठाना पड़ता है। जीव की भारी भूल तो देखो, जीव विचार करता है कि मैं भोगों को भोग रहा हूँ किन्तु सत्यता यही है कि भोग ही उसको भोगते हैं। इन्हीं काम व भोग में आसक्त हुआ जीव अपने स्वभाव को पहचान नहीं पाता, उसे स्वीकार नहीं कर पाता। अरे तत्त्ववेत्ता! अनादिकाल से पंचेंद्रियों के विषयों को भोगा है, अब पंचेंद्रिय विषयों में आसक्ति का त्याग कर। एक-एक इंद्रिय में आसक्त हुआ भी जीव दुर्गति का पात्र होता है तब पंचेंद्रिय में आसक्त हुए की क्या दशा होगी, क्या तुमने विचारा है? नहीं, यदि विचार किया होता तो यूँ विषयों में आसक्त न होता।

स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में रत हाथी कृत्रिम हथिनी के मोह में महागर्त में जा पड़ता है; पुनः महावत के द्वारा बांध लिया जाता है। अगाध जल में क्रीड़ा करती हुई मछली रसासक्ति से कंटक युक्त आटे को खाकर अपने तालु को छेद मरण को प्राप्त करती है। गंध में आसक्त भ्रमर निराकुल चित्त से कमल में निवास करता है और सूर्यास्त के समय कमल के संकुचित होने पर वह मरण को प्राप्त हो जाता है। चक्षु इंद्रिय के विषय दीप के प्रकाश में आसक्त वह शलभ जैसे ही दीपक में गिरता है अपने प्राणों को त्याग देता है। सात स्वरों के सुनने में आसक्त सर्प या हरिण बंधन, संक्लेशता व अनंत दुःखों को प्राप्त करता है।[1]

1. सिरिसीयलणाहचरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र महाकाव्य) गाथा 108-113 (आचार्य वसुनंदी मुनि)

अहो तत्त्ववेत्ता! जो भी ज्ञानी अपने स्वात्मानंद का त्याग कर जिस-जिस इंद्रिय विषय में आसक्त होता है, उस अनुरूप विभाव परिणति करता है वह उस उस इंद्रिय संबंधी अर्थात् एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्यायों में उत्पन्न होकर संसार के अनंत दु:खों को भोगता है। अरे! जिन विषयों को तू अनंत बार भोग चुका, आश्चर्य है उन्हीं काम-भोग के लिए तू फिर आसक्त है।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला:।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा॥30॥–इष्टोपदेश

मैंने मोहवश बार-बार सभी पुद्गलों को भोगकर छोड़ दिया है। अब ये सभी मेरे उच्छिष्ट (वमन) के समान हैं मेरी इन भोगों में स्पृहा कैसे हो सकती है?

भोयो रोयकारणं, णिविड-पावकम्मबंधणिमित्तं हु।
दुहाण जणगो णिच्चं, धम्मज्झाण-विणासगो तह॥117॥

–सिरिसीयलणाह चरियं

हे तत्त्ववेत्ता! पंचेन्द्रिय विषयों से प्राप्त सुख, सुख नहीं, सुखाभास है, क्षणिक है, नष्ट होने वाला है अत: भोग रोग का कारण है वह निविड पाप कर्मों के बंध का निमित्त है। वह भोग नित्य दु:खों का जनक तथा धर्म ध्यान का विनाशक है।

भोगों में आसक्त मत हो, अव्याबाध, अविनश्वर, आत्मोत्पन्न सुख को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। जरा सोचो, तुम त्रिकालदर्शी, शाश्वत, दर्शन-ज्ञान स्वरूपी हो। अनंत सुख का उपभोग तुम्हारी आत्मा का स्वभाव है, उसके बाद भी इस उच्छिष्ट रूप, सीमित विषय भोगों के पीछे दौड़ रहे हो। एक बार जरा तत्त्वज्ञान के गवाक्ष से देखो तो सही, भेदविज्ञान से परखो तो सही, अपनी शुद्धात्मा का एक बार तो अनुभव करो। उस शुद्धात्मा का दर्शन करो जो चैतन्य रस से परिपूर्ण है, जहाँ सुख का अनंत सागर उमड़ रहा है, जहाँ अनंत गुण रत्न विद्यमान हैं।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इंद्रियों के स्पर्शादि विषय जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणमनमय होने के कारण ये निज आत्म अनुभूति से भिन्न हैं। स्पर्शादि सामान्य परिणाम मात्र भी जीव के नहीं हैं क्योंकि अनुभूति से भिन्न हैं। सिद्धांति देव आचार्य श्री नेमिचंद्र स्वामी ने द्रव्य संग्रह में कहा है–

वण्णरसपंचगंधा, दोफासा अट्ठणिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्तिबंधादो॥7॥

शुद्ध निश्चय नय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध व आठ स्पर्श शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक शुद्ध जीव में नहीं हैं अत: यह जीव अमूर्तिक है।

अहो तत्त्ववेत्ता! एक बार अपने अपूर्व, अनुपम, सर्वोत्तम, अनन्त गुण कोष की ओर दृष्टि करो। तेरी आत्मा में वह निधि है जो संसार में कहीं नहीं है। तू इंद्रिय विषयों से हीन है, यह सब तेरा स्वभाव नहीं है।

वण्ण-रस-गंधफासा, थीपुंणओसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति॥45॥–नियमसार

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक पर्याय, संस्थान और संहनन ये सब जीव के नहीं हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम सहज शुद्धज्ञान रूप हो। परम विशुद्ध, चैतन्य रस युक्त, परम समरसीभाव सहित निज आत्मतत्त्व का सदा चिंतन करो।

सव्वकसायणोकसायरहिदो हं॥23॥

अर्थ–मैं सभी कषाय और नोकषाय से रहित हूँ।

भावार्थ–आत्मा को कसने वाली कषाय कहलाती है। सम्यक्त्व आदि विशुद्ध परिणामों का जो घात करती है उसे कषाय कहते हैं।[1] अथवा क्रोधादि परिणाम आत्मा को कुगति में ले जाने के कारण कषते हैं; आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं अत: ये कषाय हैं।[2] पंचसंग्रह में कहा है–

सुहदुक्खं बहुसस्सं, कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स।
संसारगदी मेरं, तेण कसाओ त्ति णं विंति॥109॥

जो क्रोधादिक जीव के सुख-दु:ख रूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूप खेत को कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा या मेंढ़ रूप हैं, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं।

क्रोध, मान, माया व लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की हैं। ईषत् वा किंचित् कषाय नोकषाय कहलाती है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद व नपुंसक वेद के भेद से ये नोकषाय नौ प्रकार की कही गयी हैं।

यह जीव स्वयं को ही संबोधित करते हुए कहता है अहो तत्त्ववेत्ता! क्रोध करना तेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह तो तुझे तेरे स्वभाव से बहुत दूर कर देता है। यह तुम्हारी विभाव परिणति है। क्रोध जीव के समस्त गुणों का नाश कर देता है। महर्षि वासुपूज्य स्वामी ने ''दान शासन'' में कहा है कि क्रोध जीव के सम्यग्दर्शन तक का घात कर देता है। अन्य भी कहा है–

1. सम्यक्त्वादिविशुद्धात्मपरिणामान् कषति हिनस्ति इति कषाय:।
2. क्रोधादिपरिणाम: कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषाय:। –रा.वा.

क्रोधोऽश्वत्थवदग्निवत् पवनवत् पित्तापहृत् पुण्यहृत्,
नित्यं धूमकृदग्निवद् दुरितकृत् मिथ्याग्रहाकृष्टिकृत्।
मन्त्रीवाशुचिरब्धिवाडव इव श्रीदृग्गिरेर्वज्रवत्,
वृत्तध्यानदवाग्निवल्लसति दुष्कर्माटवीमेघवत्॥–दानशासन 76

क्रोध पीपल के समान अग्नि से युक्त है, वात के समान पित्त को नष्ट करने वाला है, पुण्य को हरने वाला है, अग्नि के समान धूम को करने वाला है, पाप को करने वाला है, मिथ्यात्व रूपी ग्रह को खींचने वाला है, दुष्ट मंत्री के समान है, समुद्र की बड़वानल के समान है, सम्यग्दर्शन रूपी पर्वत को नष्ट करने के लिए वज्र के समान है[1], चारित्र और ध्यान को नष्ट करने के लिए दावानल के समान है और दुष्कर्म रूपी अटवी को हरीभरी रखने के लिए मेघ के समान है।

पुण्यं चितं व्रततपोनियमोपवासैः,
क्रोधः क्षणेन दहतीन्धनवद् हुताशः।
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा,
तस्याभिवृद्धिमुपयाति नरस्य पुण्यम्॥ –सु.र.सं. 23

व्रत, तप, नियम और उपवास के द्वारा संचित पुण्य को क्रोध क्षणभर में ईंधन को अग्नि के समान भस्म कर देता है, ऐसा मानकर जो महानुभाव क्रोध के वशीभूत नहीं होता उस मनुष्य का पुण्य अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है।

अहो, निज स्वभाव को जानने में तत्पर तत्त्ववेत्ता! तुम तो जानते हो जिस पर क्रोध किया जाता है उसे कोई हानि हो या नहीं किन्तु क्रोध करने वाला पहले स्वयं ही क्रोध की अग्नि में जलकर निज गुणों को नष्ट कर देता है। तो तुम्हारे चैतन्य गुणों को नष्ट करने वाले इस क्रोध का परित्याग क्यों नहीं करते। निज धर्म को नष्ट करने वाले, दुःख रूपी अग्नि में जलाने वाले इस क्रोध को छोड़कर अपनी सलौनी आत्मा की रक्षा करो।

अहो तत्त्ववेत्ता! निज स्वरूप को नहीं जानते हुए तुमने अनादिकाल इस विभाव परिणति में व्यतीत कर दिया। जो तुम्हारा नहीं है उस पर अभिमान कर निज आत्मा को कर्मों से निरन्तर बद्ध कर संसार में परिभ्रमण कर रहे हो, संसार के घोर दुःखों को भोगने को परतंत्र हो।

नीतिं निरस्यति विनीतिमुपाकरोति,
कीर्तिं शशांकधवलां मलिनां करोतिं
दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति,
किं किं न दोषमथवा करुतेऽभिमानः॥ –सु.र.सं. 44

1. दुर्गजेषु कुजेष्वग्नौ जातेऽन्योऽन्यप्रघर्षणात्।
दग्धास्त एव दृग्वृक्षं क्रोधवह्निर्दहेद् ध्रुवम्।।–दान शासन 72

अभिमान नीति को नष्ट करता है, स्वच्छंदता को उपस्थित करता है, चंद्रमा के समान धवल कीर्ति को मलिन करता है, दौर्भाग्य को लाता है और कार्य को नष्ट करता है, इस तरह अभिमान किस-किस दोष को नहीं करता।

यह अभिमान जीव के योग्य आचरण को नष्ट कर देता है, उसके धर्म को नष्ट कर देता है। यह अहंकार व्यक्ति के विद्या, दया, दम तथा संयम आदि गुणों को नष्ट कर देता है। जीव किस कुल, जाति, पद-प्रतिष्ठा, रूपसौंदर्य, ज्ञान, धन, बल, ऋद्धि, तप आदि पर अभिमान करता है। ये ज्ञान, बल आदि सब क्षायोपशमिक हैं, इन पर क्या मद करना, यदि कर्म का उदय आया तो सब नष्ट हो जाएगा। यम मुनिराज के विषय मे तो जानते हो जिन्हें राज्यावस्था में ज्ञान का उन्माद था। मुनि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ज्ञान के मद में मुनिराज के अपमान करने से ज्ञान का सब क्षयोपशम जाता रहा। दीर्घकाल में णमोकार मंत्र को भी याद नहीं कर सके। रूप के मद में चूर वह लक्ष्मीमती जिसने मुनि को कड़वी तूंबड़ी का आहार दिया, जिससे मुनिराज समाधिमरण को प्राप्त हुए, फलस्वरूप यह एक सप्ताह में कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गई, मरकर कई बार दुर्गतियों में गमन किया।

अरे! तेरी आत्मा अनंत गुण रत्नों से परिपूरित है, भेद-विज्ञान के झरोखे से ज्ञान-दर्शन स्वभावी अनंत गुण वैभव से परिपूर्ण एक बार तो अपनी आत्मा को देखो। कहाँ तुम्हारी आत्मा का अपरिमित ज्ञान-दर्शन आदि क्षायिक वैभव और कहाँ यह सीमित, अस्पष्ट ज्ञान। कहाँ अतुल्य, अनंत बल और कहाँ यह तुच्छ शारीरिक बल। अहो तत्त्ववेत्ता! वज्रवृषभनाराच संहनन के धारक कर्मों की सर्व प्रकृतियों को चूर करने की सामर्थ्य से युक्त होते हैं। स्वयं के विषय में विचार करो तुम तो सबसे हीन-जघन्य असंप्राप्तासृपाटिका संहनन से युक्त हो। एक भी कर्म प्रकृति क्षय करने में समर्थ नहीं हो तब व्यर्थ का अभिमान किसलिए?

तुझसे पूर्व कितने तपस्वी, शुद्धात्मध्यानी, ज्ञानी हुए। महीनों, महीनों के उपवास किए, संपूर्ण वर्षायोग उपवास सहित व्यतीत कर पुनः पारणा की। तब तुम कुछ उपवास कर क्यों अभिमान करते हो। जो उपवास कर रहे हो, तप कर रहे हो वह स्वयं के कर्म क्षय के लिए ही तो कर रहे हो तब उन पर अभिमान कैसा? ध्यान रखना प्रिय तत्त्ववेत्ता! प्रदर्शन के लिए किया गया तप संसार वृद्धि का ही कारण होता है अतः सावधान रहो। व्यर्थ का अहंकार आत्म-स्वभाव की प्राप्ति में बाधक है। संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है और जो शाश्वत नहीं है, तुम्हारा नहीं है उस पर अहंकार कैसे किया जा सकता है।

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद् रंकायते निश्चितं,
सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणो ह्याशु क्षयं गच्छति।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्री जीवितेद्वे तयोः,
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः॥ -पद्म. पंच. 3/294

निश्चित है कि राजा भी भाग्यवश क्षणमात्र में रंक जैसा हो जाता है और समस्त रोगों से रहित तरुण मनुष्य भी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अन्य वस्तुओं से क्या प्रयोजन है? संसार में लक्ष्मी और जीवन ये दो ही श्रेष्ठता को प्राप्त हैं जब उनकी भी संसार में ऐसी स्थिति है तब विद्वान् को अन्य किसमें मद करना चाहिए।

अहो तत्त्ववेत्ता! अनंत पर्यायों को प्राप्त करते हुए अनादिकाल से संसार में इन्हीं कषायों के कारण कर्मबंध करते हुए परिभ्रमण कर रहे हो। मन में कुछ, वचन में कुछ और काय में कुछ अथवा कुटिल चिंतन, कुटिल वचन व कुटिल क्रिया ये मायाचार की प्रकृति है। व्यक्ति सोचता है कि मैं कितना चतुर हूँ मैंने उसे ठग लिया और उसे पता भी नहीं चला।

पाप और पारा कभी पचता नहीं।
खुद व खुदा से कभी कुछ छिपता नहीं॥

यथार्थ में व्यक्ति किसी को नहीं ठगता बल्कि धोखा आदि देकर कर्मों के द्वारा स्वयं ठगा जाता है। अनंत आत्म वैभव, गुण निधि के सम्राट होने के पश्चात् भी जीव कर्मों के द्वारा ठगा गया है और ऐसा ठगा गया कि अभी तक संसार में दुःखों का बोझ ढो रहा है। अहो तत्त्ववेत्ता! किसी और को ठगने का, किसी के साथ छल आदि करने का भाव भी चित्त में नहीं लाना।

कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसन्ध्यां,
कुगतियुवतिमालां मोहमातंगशालाम्।
शमकमलहिमानीं दुर्यशो राजधानीं,
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम्॥ –सू.मु. 53

जो कुशल क्षेम उत्पन्न करने के लिए वन्ध्या है, सत्य रूपी सूर्य को अस्त करने के लिए सन्ध्या है, कुगति रूप स्त्री का स्वागत करने के लिए माला है, मोह रूपी हाथी की शाला है, प्रशम भाव रूपी कमल को नष्ट करने के लिए हिमानी तुषार-पात है, अपयश की राजधानी है और सैकड़ों कष्टों की सहायक है, उस माया को दूर से छोड़ो।

अहो तत्त्ववेत्ता! विभाव रूप माया का परित्याग कर निज शुद्ध स्वरूप के अवलोकन का प्रयास करो। तीन कषायों को जीतने के पश्चात् चौथी लोभ कषाय पर विजय प्राप्त करो क्योंकि लोभ पाप का बाप कहा जाता है। लोभ उस अग्नि के समान है जिसमें सब कुछ आकर भस्म हो जाता है किन्तु फिर भी उसे तृप्ति नहीं होती। व्यक्ति का आशा रूपी गड्ढा इतना गहरा है कि विश्व परमाणु के समान प्रतीत होता है।[1] सब कुछ भर सकता है किन्तु जीव की तृष्णा की खाई कभी नहीं

1. आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।36।। –आत्मानुशासन

भर सकती। धन आदि के लोभ से यह जीव सर्वप्रकार के पापों को करने के लिए तैयार हो जाता है। यह लोभ ही तो है जो पाप प्रकृतियों से आत्मा को भारी कर संसार सागर में डुबा डालता है।

तेरे अंदर तो संतोष, समता का सागर उमड़ रहा है फिर क्यों जो बाह्य वैभव तेरा नहीं है उसके पीछे भागता हुआ दर-दर का भिखारी बना हुआ है। क्या निजात्म गुणों की प्रजा के सम्राट को उसी अनुरूप आचरण करना स्वीकार नहीं? अहो तत्त्ववेत्ता! एक सम्राट को यह रंक जैसी प्रवृत्ति शोभा नहीं देती। जरा एक क्षण ठहरकर अपने स्वरूप का चिंतन तो करो। यह लोभ जीव के ज्ञान, तप, व्रत, समता, संयम आदि को भस्म करने में समर्थ है।

मूलं मोहविषद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः,
क्रोधाग्नेररणिः प्रतापतरणि प्रच्छादने तोयदः।
क्रीडासद्मकलेर्विवेकशशिनः स्वर्भानुरापन्नदी,
सिन्धुः कीर्ति लताकलापकलभो लोभः पराभूयताम्॥ –सू.मु. 58

जो मोहरूपी विषवृक्ष का मूल है, पुण्य रूपी समुद्र को पीने के लिए अगस्त्य ऋषि है, बोध रूपी अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अरणि है, प्रताप रूपी सूर्य को ढकने के लिए मेघ है, कलिकाल का क्रीड़ागृह है, विवेकरूपी चंद्रमा को ग्रसने के लिए राहु है, आपत्ति रूपी नदियों को आश्रय देने के लिए समुद्र है और कीर्ति रूपी लताओं के समूह को नष्ट करने के लिए कलभ-हाथी का शिशु है ऐसे उस लोभ को नष्ट करना चाहिए।

''ईषत् कषायाः नोकषायः।''[1] ईषत् कषायों को नोकषाय कहते हैं। जिससे हँसी आए, वह हास्य प्रकृति है। जिसके कारण रमे वह रति है। जिसके कारण खिन्न हो वह अरति है। जिसके कारण शोक हो वह शोक है। जिसके कारण अनर्थ से डरे वह भय है। जिसके कारण घृणा आए वह जुगुप्सा है। जिसके कारण अपने को स्त्री मानता हुआ पुरुष में रमण करने की इच्छा हो वह स्त्रीवेद है। जिसके कारण अपने को पुरुष मानता हुआ स्त्री में रमण करने की इच्छा हो वह पुंवेद है। जिसके कारण अपने को नपुंसक मानता हुआ स्त्री व पुरुष दोनों में रमण करने की इच्छा करता है वह नपुंसकवेद है।[2]

अहो तत्त्ववेत्ता! यह सब तुम्हारा स्वभाव नहीं है, तुम इस रूप नहीं हो। यह कषाय तुझ पर शोभायमान नहीं होती। तुम सिद्धों के वंशज हो, अरिहंतों के नंदन हो। अपने कुल का गौरव क्या तुम नहीं जानते। तुम्हारे पूर्वजों ने वैराग्य, समता, संयम, ज्ञान व ध्यानादि के बल से कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर शाश्वत राज्य को प्राप्त किया है। इसी प्रकार तुम्हें भी रत्नत्रय के बल से कर्मों को प्रतिहत करना है, अपनी प्रिय, सहज चिद्विलास रूप लक्षण से युक्त अत्यंत अपूर्व आत्मा को उसके शाश्वत निवास स्थान पर विराजमान करना है।

---

1. धवला जी पु. 13, 2. कर्मप्रकृति

ये चार कषाय व हास्यादि नौ कषाय तेरी विभाव परिणति है। तुम्हारा स्वभाव सिद्ध रूप है। उसी सिद्ध रूप निज स्वभाव के प्रकटीकरण का पुरुषार्थ करो।

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद् - बिम्बाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषि प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः॥55॥–नि.सा./ता.वृ.

हे तत्त्ववेत्ता! यदि तू इस दुःख रूप संसार से सुख चाहता है तो उस आत्मा में बुद्धि क्यों नहीं लगाता जो कि प्रीति अथवा अप्रीति से रहित शाश्वत पद रूप है, जो अन्तर्मुख होकर अभेद रूप से उत्पन्न सुख के द्वारा निर्मित सूर्य के समान प्रकाशमान है, जिसका शरीर-आकार चैतन्य रूपी अमृत से भरा हुआ है और जो केवल बुद्धिमान् मनुष्यों के द्वारा ही जाना जा सकता है।

दंडत्तयरहिदो हं॥24॥

अर्थ–मैं दण्डत्रय (मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड) से रहित हूँ।

भावार्थ–मन, वचन और काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है। मन की दुष्प्रवृत्ति मनोदंड कहलाती है। यह राग, द्वेष व मोह के भेद से तीन प्रकार का है।[1] अहो तत्त्ववेत्ता! मन में प्रति समय कई विचार आते-जाते रहते हैं। कुछ विचार अच्छे भी आते हैं और कुछ बुरे भी आते हैं। मन से ही व्यक्ति सबसे ज्यादा पुण्य भी कर सकता है और मन से ही सबसे अधिक पाप भी कर सकता है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः'

मन ही मनुष्य के लिए बंध व मोक्ष का कारण है। असंज्ञी जीव प्रथम नरक से आगे भी नहीं जा सकता और ऊपर स्वर्गों में भी नहीं जा सकता। मन सहित जीव खोटे एवं क्रूर परिणामों के द्वारा सप्तम नरक भी जा सकता है और मन सहित जीव ही कर्मों को नष्ट कर सिद्धालय में पहुँच सकता है। मन एक अश्व के समान है लगाम कस ली तो गन्तव्य तक पहुँचा देगा और यूँ ही छोड़ दिया तो दुर्गतियों में ले जाकर पटक देगा।

अतः हे तत्त्ववेत्ता! यदि शास्ता बनना चाहते हो तो आत्मानुशासन जरूरी है और आत्मा पर अनुशासन के लिए मन पर अनुशासन जरूरी है।

पीपल के पत्ते के समान यह मन सदैव चंचल बना रहता है। संसार में राग-द्वेष की आंधी से इस मन की रक्षा करो अर्थात् इसे स्वाध्याय, जिनपूजन, गुरुसेवा आदि में रमा दो। धीरे-धीरे अभ्यास के बल से इसे नियंत्रण में करके इस पर सवार होकर मोक्ष महल की यात्रा करो।

1. चारित्रसार

अहो तत्त्ववेत्ता! अभी तो तुम्हारा मन क्षणभर में ही आकुलता से भर जाता है। एक विपरीत क्रिया या विपरीत बात तुम्हारे मन को आकुलित कर देती है। अरे! तुम कोई यंत्र नहीं जो किसी के बुरे व्यवहार आदि से अपना मन बुरा बना लो और अच्छे से अच्छा। तुम्हारा परिणमन स्वतंत्र है, तुम अपने अनुसार अपने मन को चलाओ। अशुभ विचारादि को तजकर स्वात्महितार्थ शुभ विचार करो।

किसी की उन्नति देख ईर्ष्या करना, अपने से श्रेष्ठ को देखकर मात्सर्य करना, यदि कोई व्यापार, पढ़ाई, सर्विस, पद आदि में तुमसे उच्च है तो उसका अनिष्ट सोचना, यह सब मन की दुष्प्रवृत्ति है। अहो भोले चेतन! सभी को अपने-अपने कर्मों का फल स्वयमेव मिलता है, तुम्हारे द्वारा सोचने से उसका अच्छा-बुरा तो होगा नहीं किन्तु तुम अपने परिणामों से ऐसे तीव्र कर्मों का बंध कर लोगे जो तुम्हें दुर्गति में ले जाकार पटक देंगे।

अरे चेतन! अपने भोलेपन के कारण तुम इन कर्मों से ठगे जा रहे हो। इस मन को अशुभ में जाने से रोको। जिस प्रकार माँ अपने पुत्र को गलत कार्य करता देख टोकती है, उसी प्रकार यदि तुम्हारा मन कुछ गलत विचार करे, गलत करने की प्रेरणा दे तो उसे अवश्य टोको, उसे रोको। ध्यान, जाप आदि के माध्यम से उसे शुभ की ओर मोड़ दो, पुनः वह शुभ के अभ्यास से शीघ्र ही शुद्ध रूप हो जाएगा।

अहो तत्त्ववेत्ता! क्या तुम राजा श्वेतवाहन जो धर्मरुचि मुनिराज हुए थे उनके विषय में नहीं जानते। जो किसी कारणवश ऐसे अशुभ परिणामों से युक्त हुए कि यदि उस समय आयु का बंध होता तो नरक आयु का बंध कर लेते किन्तु कुछ ही क्षणों मे मन की दुष्प्रवृत्ति का निरोध कर इतने विशुद्धतम परिणाम किए कि उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। अरे! जब प्रत्येक जीव का अपना स्वतंत्र परिणमन है तो खोटे विचार कर क्यों आत्मा को गर्त में ढकेल देता है। यदि विचार करना है तो अच्छा विचार करो। अच्छे विचार, अच्छी सोच, शुभ परिणाम जीव को स्वस्थ रखते हैं। शारीरिक स्वस्थता भी देते हैं और स्व में स्थित करने में भी हेतु होते हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह मन जड़ है, इस मन के गुलाम नहीं, इसके शहंशाह बनो। मन की दुष्प्रवृत्ति को त्यागकर शुभ परिणामों को करते हुए क्रमशः शुद्ध निजात्म पद को प्राप्त करो।

मुंच मुंच विषयामिषभोगम्, लुंप लुंप निजतृष्णारोगम्।
रुन्ध रुन्ध मानसमातंगं, धर धर जीव विमलतरयोगम्॥69॥–वैराग्यमणिमाला

हे जीव! घृणित विषय रूपी माँस का भोग करना छोड़ अपने तृष्णा रूपी रोग को दूर हटा, मद से मदोन्मत्त (मातंग) मन रूपी हाथी को ज्ञान के अंकुश से वश में कर और अत्यंत विमल, निर्मल योग को धारण कर जिससे निज शाश्वत स्थान को पा सके।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम अनादिकाल से राग-द्वेष करते हुए अपने इस थके हुए मन को विश्राम दो। समीचीन मार्ग पर अग्रसर होओ। परमात्मा, निजात्मा का प्रतिपल स्मरण करो और स्वरूप में स्थिर होने के लिए पुरुषार्थ रत होओ।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम वचन दंड से भी रहित हो। वचन की दुष्प्रवृत्ति वचनदंड कहलाती है। झूठ बोलना, वचन से कहकर किसी के ज्ञान का घात करना, चुगली करना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करने वाला वचन कहना और हिंसा के वचन कहना, यह सात प्रकार का वचन दंड कहलाता है।[1]

वचन (शब्द) पुद्‌गल की पर्याय है, जड़ है, क्षणिक है, अस्थायी है, वर्ण, रस, गंध, रूप से रहित है। शब्द के दो भेद हैं–भाषा रूप और अभाषारूप। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं–प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं– तत, वितत, घन और सौषिर। मेघ आदि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैस्रसिक शब्द हैं। चमड़े से मढ़े हुए पुष्कर, भेरी आदि से उत्पन्न शब्द तत शब्द हैं। ताँत वाले वीणा और सुघोष आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत है। ताल, घंटा और लालन आदि के ताड़न से जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है तथा बांसुरी और शंख आदि के फूँकने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है। शब्द पुद्‌गल दो समय में 14 राजू की गति भी कर सकते हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह सब शब्द भी तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं, ये तुमसे अत्यन्त भिन्न हैं। किन्तु वाणी की, शब्दों की शक्ति भी अद्‌भुत है। शब्दों में जोड़ने की क्षमता भी है और तोड़ने की क्षमता भी है। प्रिय शब्द आत्मीयता उत्पन्न करते हैं तो कठोर शब्द विद्वेष पैदा करते हैं।

गोली से बोली बुरी, जो दिल में लग जाए।
गोली तो सह ले मनुज, बोली सही न जाय॥

शरीर पर लगे घाव तो जल्दी भर जाते हैं किन्तु शब्दों के माध्यम से लगे घाव बहुत गहरे होते हैं। अत: प्रिय आत्मन्! जिस प्रकार के शब्द दूसरों से सुनना चाहते हो उसी प्रकार के शब्द बोलना प्रारंभ करो। तुम सरल-सहज, माधुर्य रस से आपूरित हों, क्या कठोर, निंद्य, परुश वचन बोलना तुम्हें शोभा देता है? नहीं। तुम तो सिद्धों के मार्ग का अनुगमन करने वाले हो फिर दूसरों को कष्ट देने वाले वचनों का प्रयोग कैसे कर सकते हो। निश्चय से तुम तो सहजानंद रूप हो फिर अपनी वाणी से दूसरे की संक्लेशता का कारण कैसे बन सकते हो। तुम अनंत सुख का भोग करने की शक्ति से युक्त हो फिर अपने शब्दों से किसी को दु:खी कैसे कर सकते हो। तुम निश्चय से सत्य रूप हो, शिव हो, फिर असत्य वचनों का प्रयोग कैसे कर सकते हो? नहीं, यह तुम्हारे कुल, प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। क्या तुमने अपने पूर्वज अरिहंतों की सीख को, उनके उपदेश को भुला दिया है? नहीं, उसका स्मरण कर तदनुरूप आचरण करो।

1. चारित्रसार

तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्, तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं, त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥53॥ –स. तं.

यदि चर्चा करनी ही है तो आत्म स्वरूप की चर्चा करें, उसी आत्म स्वरूप को दूसरों से पूछें, उस आत्म-स्वरूप की ही इच्छा करें और उस आत्म-स्वरूप की भावना में सावधान हुए आदर बढ़ावें जिससे यह अज्ञानमय रूप छूटकर ज्ञानमय परमात्म स्वरूप की प्राप्ति होवे।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारे वचन तुम्हारे ज्ञान का भान कराते हैं। तुम ज्ञान प्रमाण हो फिर अज्ञानीवत् यह वचनप्रवृत्ति कैसी? यदि आवश्यक है तो हित-मित व प्रिय वचन ही बोलो, इष्ट-मिष्ट व शिष्ट बोलो। अन्यथा आत्म स्वरूप को जानने व कहने के लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं। अरे! अनादिकाल से जिन रसों का रसना उपभोग कर रही है उन रसों को तो यह रसना कहने में समर्थ नहीं है। यदि मीठा खाया तो वह मीठा कैसा है? आम, गुड़, शक्कर, खांड, मिश्री, इक्षु आदि सबकी मिठास अलग-अलग होती है, उन सबका रसना स्वाद तो लेती है किन्तु कह नहीं सकती। तो फिर जिस आत्मा का वह रसना भोग नहीं करती व भविष्य में कभी कर भी नहीं सकेगी तब उस आत्मा को, आत्म-स्वरूप को कैसे कह सकती है? अर्थात् नहीं कह सकती।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः॥19॥–समाधि तंत्र

मैं उपाध्याय आदिकों से जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा शिष्यादिकों को जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ वह सब मेरी पागलों जैसी चेष्टा है क्योंकि मैं विकल्प रहित हूँ वास्तव में मैं इन सभी वचन विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

जितना बोलेंगे विकल्प उतने अधिक होंगे अतः समस्त बहिरंग-अंतरंग वचनालापों का त्याग कर मौन साधना में प्रवृत्त होओ।

मौन साधना करना प्यारे, मौन सदा सुखदायी है।
आत्मशांति का अनुभव होगा, सुख की यही दवाई है।

हे तत्त्ववेत्ता! यदि यथार्थ में शांति चाहते हो तो मौन साधना प्रारंभ कर दो। और वैसे भी जो मुझे इंद्रियों से दिखाई देता है वह मेरा है नहीं, जड़ है और जो मेरा है, जो मैं चैतन्य रूप हूँ वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देता अतः मैं किसके साथ बात करूँ।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥18॥ –समाधितंत्र

अतः मैं शुद्ध ज्ञायक स्वरूपी आत्मरस का आस्वादन करता हूँ। मैं ना तो जड़ रूप वचनालाप को कहता हूँ और ना ही सुनता हूँ। आत्मलीन होता हुआ शुद्ध चैतन्य ज्ञायक निर्विकल्प स्वभाव की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थरत होता हूँ।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम कायदंड से रहित हो, यह भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है। शरीर की दुष्प्रवृत्ति कायदंड कहलाती है। प्राणियों का वध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परिग्रह रखना, आरंभ करना, ताड़न करना और उग्रवेष (भयानक) धारण करना इस तरह कायदंड भी सात प्रकार का कहलाता है।[1]

समस्त संसारी जीव शरीर से सहित होते हैं। किन्तु शरीरी नहीं अशरीरी होना तुम्हारा स्वभाव है। यह शरीर अत्यन्त अपवित्र, घृणित है।

दुग्गंधं बीभच्छं, कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं, देहं इदि चिंतए णिच्चं॥44॥–बारसाणुवेक्खा

यह शरीर अति दुर्गन्धिपूर्ण, घृणित, घृणित मलादि से भरा हुआ, अचेतन, मूर्त्त और सड़ने-गलने वाले स्वभाव से युक्त है।

अहो तत्त्ववेत्ता! शरीर का यही निंदनीय स्वभाव है किन्तु इस शरीर को पाकर ही जीव शुभ कार्यों के माध्यम से अपने शुद्ध शाश्वत लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस शरीर के माध्यम से शुभ क्रियाएँ कर शुभ गति व परंपरा से निर्वाण के पात्र हो सकते हो या अशुभ-निंदनीय क्रियाएँ कर अनादिकाल के समान ही अनंतकाल तक संसार में भटक सकते हो।

यह शरीर रक्त, हड्डी, मेदा आदि अपवित्र पदार्थों से भरा है किन्तु यदि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाए तो यह अति पवित्र हो जाता है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिः, मता निर्विचिकित्सता॥13॥–रत्नकरंड श्रावकाचार

अहो तत्त्ववेत्ता! मात्र मानव शरीर ही मोक्ष का साधक है। मानव ही रत्नत्रय को, संयम को धारण कर सकता है। यदि इस काय से हिंसादि करें तब इस देह की क्या सार्थकता? यह दुष्कार्य तो आत्मा को कर्म पाश में बांधकर संसार कारागृह में कष्ट देंगे। इसलिए अब मानव शरीर को पाकर श्रेष्ठ व उत्तम कार्य करो। इस शरीर से देवपूजा, वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा आदि करो। रत्नत्रय को धारण कर इसको सफल और सार्थक करो। रत्नत्रय के बल से समस्त कर्मों को नष्ट करने का पुरुषार्थ करो।

मैं समस्त कायिक दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ता हूँ। रत्नत्रय को विशुद्धतर करने का प्रयास व पुरुषार्थ करता हूँ। वास्तव में तो यह शरीर मेरा नहीं है यह आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अहो तत्त्ववेत्ता! शरीरादि को पर मानो। यह शरीर, मन, वचन तीनों आत्मा से पृथक् हैं, ऐसा मानकर निज शुद्धात्म तत्त्व का चिंतन करो।

1. चारित्रसार

स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम्।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥62॥–समाधि तंत्र

जब तक शरीर, वचन और मन इन तीनों को आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जाता है तब तक संसार है और जब इन मन, वचन, काय का आत्मा से भिन्न होने रूप अभ्यास किया जाता है तब मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

सल्लत्तय-रहिदो हं॥25॥

अर्थ–मैं तीन शल्यों से रहित हूँ।

भावार्थ–'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। शल्य का अर्थ है पीड़ा देने वाली वस्तु। जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीड़ाकर भाव हैं उन्हें शल्य शब्द से ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियों को बाधाकर होता है उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधा का कारण होने से कर्मोदय जनित विकार में भी शल्य का उपचार कर लेते हैं। अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं।[1] अर्थात् काँटे की तरह आत्मा को चुभने वाला, आत्मा को कष्ट देने वाला शल्य कहलाता है।

शल्य के तीन भेद हैं–मिथ्यादर्शन शल्य, मायाशल्य और निदान शल्य अथवा द्रव्य शल्य और भाव शल्य के भेद से शल्य के दो भेद भी कहे गए हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग ये भाव शल्य के भेद हैं। तथा सचित्त शल्य अचित्त शल्य और मिश्र शल्य-ये द्रव्य शल्य के तीन भेद हैं।

मिथ्यादर्शन, माया, निदान ऐसे तीन शल्यों की जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्म को द्रव्य शल्य कहते हैं। इनके उदय से जीव के माया, मिथ्या व निदान रूप परिणाम होते हैं वे भावशल्य हैं।

शंका, कांक्षा आदि सम्यग्दर्शन के शल्य हैं। अकाल में पढ़ना और अविनय आदि करना ज्ञान के शल्य हैं। समिति और गुप्तियों में अनादर रहना चारित्र शल्य है। असंयम में प्रवृत्ति होना योग शल्य है। तपश्चरण का चारित्र में ही अन्तर्भाव हो जाता है। दासादिक सचित्त द्रव्य शल्य है, स्वर्ण वगैरह पदार्थ अचित्त शल्य हैं और ग्रामादिक मिश्र शल्य हैं।[2]

अपना निरंजन दोषरहित परमात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व से विलक्षण मिथ्या शल्य कहलाती है।

---

1. सर्वार्थसिद्धि
2. भगवती आराधना व उसकी विजयोदय टीका से।

'निजनिरंजननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचि रूप सम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते।''

हे तत्त्ववेत्ता! अनादिकाल से मोहित हुए तुमने समस्त पर द्रव्य, पर वस्तुओं को अपना माना।

मैं सुखी दु:खी मैं रंक राव,
मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत-तिय मैं सबल दीन,
बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥ –छहढाला

यदि कुछ सांसारिक सुख प्राप्त हुआ तो स्वयं को सुखी मान लिया। दु:ख हुआ तो स्वयं को दु:खी मान लिया। स्वयं को निर्धन अथवा धनी समझा, पुत्र-स्त्री आदि को अपना माना। यह सब मूढ़ बुद्धि से अपना मानता रहा।

तन उपजत अपनी उपज जान,
तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट जे दु:ख देन,
तिन्हीं को सेवत गिनत चेन॥ –छहढाला

यदि देह उत्पन्न हुई तो उस देह उत्पत्ति को ही अपना माना, देह के नष्ट होने पर चार्वाक आदि मिथ्यामत के अनुयायियों के समान आत्मा का ही नाश मान लिया। अभी तक जीव उल्टी, विपरीत धारणा के साथ जीता रहा।

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञान - परांङ्मुख:।
स्फुरित: स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्य वस्यति॥7॥–समाधितंत्र

बहिरात्मा इंद्रिय द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है इसलिए अपने शरीर को आत्मरूप से निश्चय करता है अर्थात् शरीर को आत्मा मानता है।

'अहमिदं ममेदं' 'मैं यह हूँ, यह मेरा है' जो यह सोचता है वह विपरीत बुद्धि से युक्त मूढ़ है, आत्मज्ञान से रहित है। आत्मा के रूप को नहीं जानने वाले पुरुषों के शरीरों में अपनी और पर की आत्म मान्यता से स्त्री-पुत्रादिक विषयक विभ्रम होता है। यह मिथ्यात्व युक्त जीव की धारणा होती है। वह अज्ञानी जीव अविद्या संस्कार को दृढ़ कर पुन: जन्मान्तर में भी शरीर को ही आत्मा मानता है।[3] किन्तु इससे विपरीत वस्तु तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी है।

---

3. स्वपराध्यवसायेन, देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रम: पुंसां, पुत्रभार्यादिगोचर:॥11॥
अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्, संस्कारो जायते दृढ़:।
येन लोकोऽङ्गमेव त्वं, पुनरप्यभिमन्यते॥12॥–स.तं.

मिथ्याशल्य सहित जीव अपने से भिन्न जो परद्रव्य सचित्त-स्त्री, पुत्रादिक, अचित्त- धनधान्यादिक, मिश्र-ग्राम, नगरादि इनको ऐसा समझे कि मैं यह हूँ, ये द्रव्य मुझ स्वरूप हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, ये मेरे पूर्व में थे इनका मैं भी पहले था, ये मेरे भावी काल में होंगे मैं इनका आगामी काल में होऊँगा, जो ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है वह मूढ़ है तथा जो पुरुष परमार्थ वस्तु स्वरूप को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता है, वह मूढ नही, ज्ञानी है।[4]

अहो तत्त्ववेत्ता! निज और पर की पहचान करो। परद्रव्यों व परभावों को पर जानकर छोड़ दो। जब ये समझ आ जाए कि जिन्हें मैं आज तक अपना मानता रहा हूँ वह मेरा नहीं है तब निज आत्मदर्शन पथ सुलभ हो जाएगा।

समयसार जी में उदाहरण दिया है कि जैसे कोई व्यक्ति धोबी के यहाँ से अपना वस्त्र लाया, वह उसे पहनकर चला गया तभी एक व्यक्ति पीछे से आया और उसे पकड़कर कहने लगा–जो वस्त्र तुमने पहने हुए हैं ये उतारो, ये वस्त्र तुम्हारे नहीं, मेरे हैं। वह व्यक्ति कहने लगा–नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है? ये वस्त्र तुम्हारे नहीं हैं, मेरे हैं। मैं धोबी के यहाँ से आज ही लेकर आया हूँ। तब दूसरा व्यक्ति कहता है भाई! तुम्हारा वस्त्र मेरे जैसा होगा, किन्तु ये मेरा ही है और सब चिह्नादि दिखाकर उसे बता दिया कि वह वस्त्र उसका ही था। तब सत्य का ज्ञान होते ही उस व्यक्ति ने उस वस्त्र को शीघ्र त्याग दिया। उसी प्रकार हे तत्त्ववेत्ता! तुम भी परद्रव्य को अभी तक अपना मानकर संसार में परिभ्रमण करते रहे किन्तु अब पर की पहचान करो, परखो। परखो अर्थात् परीक्षा करो कि क्या तुम्हारा है और क्या नहीं? तथा परखो अर्थात् पर खो, पर को खो, पर को त्यागो। यह बाह्य पदार्थ, स्त्री, पुत्र, मित्र, स्वजन, परिजन, धन-संपत्ति, देह इत्यादि भी तुम्हारी नहीं हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! जैसे मिथ्याशल्य से तुम्हारा कोई संबंध नहीं है उसी प्रकार माया शल्य भी तुमसे भिन्न है।

राग के उदय से परस्त्री आदि में वांछा रूप और द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बांधने अथवा छेदने रूप जो मेरा दुर्ध्यान, बुरा परिणाम है उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर निज शुद्धात्मभावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्द रूप एक लक्षण का धारक सुख अमृत रस रूपी निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर जो लोगों को प्रसन्न करता है, वह माया शल्य कहलाती है।[5]

---

4. अहमेदं एदमहं, अहमेदस्सम्हि मम एदं।
   अण्णं जं परदव्वं, सच्चित्ताचित्त-मिस्सं वा।।20।।
   आसि मम पुव्वमेदं, एदस्स अहंपि आसि पुव्वंहि।
   होहिदि पुणोममेदं, एदस्स अहंपि होस्सामि।।21।।
   एयं तु असब्भूदं, आदवियप्पं करेदि संमूढो।
   भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असंमूढो।।22।। –समयसार
5. द्र.सं. टीका

निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन के भेद से माया पाँच प्रकार की कही गई है। धन के विषय में अथवा किसी कार्य के विषय में जिसकी अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्य का जो फँसाने का चातुर्य है उसको निकृति कहते हैं। अच्छे परिणाम को ढककर धर्म के निमित्त से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति करना उपधि संज्ञक माया है। धन के विषय में असत्य बोलना, किसी की धरोहर का कुछ भाग हरण कर लेना, दूषण लगाना अथवा प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है। हीनाधिक कीमत व सदृश वस्तुएँ आपस में मिलाना, तोल और माप के सेर, पसेरी वगैरह राशन पदार्थ कम ज्यादा रखकर लेन-देन करना, सच्चे और झूठे पदार्थ आपस में मिलाना, यह सब प्रणिधि माया है। आलोचना करते समय अपने पाप छिपाना यह प्रतिकुंचन माया है।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह मायाचारी प्राणी के लिए अत्यंत कष्टकारी है। यदि छिपकर कोई गलत काम किया तो क्या कर्मों का बन्ध नहीं होगा, सामने मुस्कुराकर बोलने से और पीठ पीछे उसी की निंदा करने से क्या पापों से बच जाओगे? माना थोड़ा छल कर धन अर्जन कर भी लिया तब क्या वह धन शाश्वत है। छल से आया धन पानी की तरह बह जाता है। आपने सुना होगा उस ग्वालिन के विषय में, जो नदी पार कर लोगों को दूध बेचने आती थी, आते समय उस नदी का पानी दूध में मिलाकर बेचती थी। इस प्रकार धनार्जन कर उसने सोने की नथ बनवायी। एक बार वही नथ पहनकर वह नदी पार कर रही थी, किनारे पर एक बंदर उस पर झपटा जिससे नथ नदी में गिर गयी और उसकी नाक कट गई। तब से एक कहावत प्रसिद्ध हुई–

'पानी का धन पानी में, नाक कटी बेईमानी में।'

कोई व्यक्ति किसी को नहीं ठग सकता, वह तो स्वयं ही कर्मों के द्वारा ठगा जाता है। कर्म उसे बहुत दु:ख देते हैं। अहो तत्त्ववेत्ता! इन सब छल, कपट, माया में, बाह्य प्रपंचों में तेरा कोई स्थान नहीं है। तेरा तो स्वभाव सिद्धों जैसा है। निश्चय से तुम तो सिद्धों के समान अनंत सुख का उपभोग करने वाले हो अत: इस माया शल्य का सदा-सदा के लिए परित्याग करो और सरल शिवावस्था पाने के लिए, सरल-सहज शिवमार्ग पर गति करने के लिए सरल-सहज होओ।

मिथ्या व माया शल्य इस आत्मा का स्वभाव नहीं है और साथ ही निदान शल्य भी चेतना का स्वभाव नहीं है।

दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतं निरन्तरं चित्तं ददाति तन्निदान- शल्यमभिधीयते। देखे-सुने-अनुभव में आए हुए भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा करना निदान शल्य है।

अहो तत्त्ववेत्ता! इस जीव ने तपस्या, साधना आदि कर निज तृष्णा की आपूर्ति हेतु परभव में विभिन्न भोगों की आकांक्षा कर मानो अमूल्य रत्नों को देकर कुछ कंकड़-पत्थरों को इकट्ठा कर लिया हो। नंदीषेण मुनिराज जो वैय्यावृत्ति में प्रसिद्ध हुए तीव्र तपस्या कर उन्हें मोक्ष प्राप्त होने ही वाला था किन्तु निदान से नौवें नारायण श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव हुए। देखो, यह अज्ञानी जीव कहाँ

तो शाश्वत निर्वाण पद को प्राप्त करने वाला होता और कहाँ तुच्छ वैभव की चाह कर संसार का वर्द्धन कर लिया।

कंखासहिदं पुण्णं, संसारवड्ढगं हवेदि कयाइ।
णिक्कंखपुण्णं सया, मोक्खकारणं मुणेदव्वं॥7॥

–पुण्णासव-णिलयो (आचार्य वसुनंदी मुनि)

कांक्षा सहित पुण्य कदाचित् संसारवर्द्धक होता है किन्तु निःकांक्ष पुण्य सदा मोक्ष का कारण जानना चाहिए।

हे तत्त्ववेत्ता! दान, जिनार्चना, वैय्यावृत्ति इत्यादि पुण्यक्रियाओं का फल परंपरा से मोक्ष सुख प्रदान करता है। किन्तु यदि आकांक्षा या निदान कर लिया जाए तो संसार का कारण बन जाता है।

सम्मादिट्ठी पुण्णं, ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं, जइ वि णियाणं ण सो कुणइ॥404॥–भाव संग्रह

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है, मोक्ष का कारण होता है, यदि निदान ना करे।

हे तत्त्ववेत्ता! यह तप, साधना, धर्मानुष्ठान सबको निःकांक्ष भाव से करो। अनेक बार तुमने संसार में भोगों को भोगा है किन्तु फिर भी ये तृष्णा कभी शान्त नहीं हो पायी।

मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे।
तो भी तनिक भये नहीं पूरण, भोग मनोरथ मेरे॥ –वैराग्य भावना

मैं इन सभी भोगाकांक्षाओं से विरक्त होता हुआ निज ज्ञायक स्वरूपी आत्म दर्श के लिए प्रवृत्त होता हूँ।

शल्यत्रयं परित्यज्य, निःशल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम्॥116॥–नि.सा./ता.वृ.

विद्वज्जन तीन शल्यों को छोड़कर निःशल्य रूप परमात्मा में स्थित रहकर सदा शुद्ध आत्मा का चिन्तन करें।

निर्द्वन्दं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं,
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना,
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिन्तामणिम्॥131॥–नियमसार/तात्पर्यवृत्ति

जो निर्द्वन्द है, निरुपद्रव है, नित्य है, स्वकीय आत्मा से समुत्पन्न है एवं अन्य द्रव्य की विभावना से जिसकी उत्पत्ति असंभव है, ऐसे इस निर्मल आनंद रूपी अमृत का पानकर जो पुण्यात्मा मानव पुण्य को भी छोड़ देता है अर्थात् पुण्य-पाप से परे हो जाता है वह उसी समय स्पष्ट ही चैतन्य चिन्तामणि रूप अद्वितीय अनुपम पद को प्राप्त हो जाता है।

गारवत्तय-रहिदो हं॥26॥

अर्थ–मैं तीन गारव से रहित हूँ।

भावार्थ–अहंकार या घमंड गारव कहलाता है। वह गारव तीन प्रकार का है–शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव। **''शब्दगारवं वर्णोच्चारगर्वः''** वर्ण के उच्चारण का गर्व करना शब्द गारव है। अहो तत्त्ववेत्ता! ये शब्द जड़ हैं, पुद्गल हैं, अनित्य हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान् है। शब्दों का शुद्ध वा अशुद्ध उच्चारण, श्रेष्ठ वा अश्रेष्ठ शब्दों का चयन ज्ञानावरण के क्षयोपशम पर निर्भर करता है। यदि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अच्छा है तो शब्दों का समीचीन, श्रेष्ठ उच्चारण करने में समर्थ होता है और यदि कर्म का क्षयोपशम कम हो तो सही से शब्दादि मुख से नहीं निकल पाते। तो प्रिय आत्मा! जब सब क्षयोपशम पर निर्भर है तब तो वह किसी का भी कभी भी बढ़ भी सकता है और कम भी हो सकता है तब शब्दों पर अहंकार कैसा।

अहो तत्त्ववेत्ता! शब्दों में सरसता, माधुर्य आदि सुस्वर नामकर्म के उदय से आता है और कर्कशपना आदि दुस्वर नामकर्म के उदय से आता है। पुण्य कर्म के उदय से आज श्रेष्ठ स्वर प्राप्त हुआ और पाप कर्म के उदय से तोतला, गर्दभादि सम स्वर भी प्राप्त हो सकता है। आज पुण्य कर्म का उदय है, कल पापोदय भी हो सकता है तब शब्दों पर गर्व कैसा? शब्द गारव को त्यागकर निज आत्मा की अनुभूति के लिए तत्पर होता हूँ।

'ऋद्धिगारवं शिष्यपुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टादिभिरात्मोद्‌भावनं।'

शिष्य, पुस्तक, कमंडलु, पिच्छी या पट्ट आदि द्वारा अपने को ऊँचा प्रकट करना ऋद्धि गारव है।

हे तत्त्ववेत्ता! यदि कभी संयम भी ग्रहण किया तो 'मेरे इतने अधिक शिष्य हैं' ऐसा विचारकर गर्व से फूला नहीं समाया। अरे! तीर्थंकर की सभा में देखो लाखों शिष्यों से युक्त वीतरागता के आनंद में मग्न हैं और तुम सौ अथवा हजार शिष्य होने पर ही गर्व करते हो। सभी जीव का अपना-अपना परिणमन है, उनके कल्याण में तुम तो निमित्त मात्र हो। कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता है। तुम स्वयं को कर्त्ता मानकर भारी भूल कर रहे हो। यदि कुछ कर सकते तो जब सीता के जीव ने लक्ष्मण को नरक से निकालने का प्रयास किया तब वह पारे के समान वहीं बिखर गया, लाखों प्रयास करने के बाद भी वह उसे वहाँ से निकाल नहीं पाया। कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, सब अपने-अपने कर्म का फल भोगने के लिए परतंत्र हैं।

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥14॥–बारसाणुवेक्खा

एक जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही घोर संसार में परिभ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त करता है और अकेला ही निज कर्मों का फल भोगता है।

अहो तत्त्ववेत्ता! बहुत पुस्तकों, श्रेष्ठ व सुंदर कमंडलु, पिच्छी पर गर्व कैसा करना? यह बालकवत् चेष्टा है। कभी गणिनी आर्यिका, मुनि, उपाध्याय, आचार्य इत्यादि पदों पर गर्व करता है। किन्तु आत्मा तो सबकी समान है। इन पदादि पर गर्व करना तुम्हारे लिए अहितकारी है। यह ऋद्धिगारव आत्मा को संसार में पतित करने वाला है अत: मैं इसका परित्याग करता हूँ। मैं संसारवर्द्धक कारणों को संसार क्षय के लिए छोड़ता हूँ।

''सातगारवं भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदस्तैर्मोहमद-गारवैः'' भोजन पान आदि से उत्पन्न सुख की लीला से मस्त होकर मोह मद करना सात गारव है।

आज प्राणी अभक्ष्य का सेवन कर आनंद मनाता है। फाइव स्टार होटल में कई दिनों की रखी वस्तुओं को डिलीशियस डिसिस (Delicious dishes) कहकर खाता है और वहाँ जिस भोजन में असंख्यातों त्रस जीव पड़ चुके हैं उस निंदनीय भोजन को कर गर्व करते हैं। छिः पिज्जा, बर्गर आदि जंक फूड, चाइनीज फूड खाकर देह व आत्मा दोनों को हानि पहुँचाता है। कहाँ चक्रवर्ती के 360 रसोइयों द्वारा पकाया गया श्रेष्ठ भोजन और कहाँ तुम्हारा ये तुच्छ भोजन। तुम किस पर गर्व करते हो। देवों के कण्ठ में अमृत झरता है, कहाँ वह श्रेष्ठ अमृत और कहाँ मनुष्य का यह सामान्य भोजन।

हे तत्त्ववेत्ता! तुझमें न भूख है, न प्यास है। आत्मा न तो खाता है, न पीता है, वह ज्ञानामृत का ही भोजन करता है, उसका ही पान करता है–**''ज्ञानामृतं भोजनं'** ज्ञान रूपी अमृत से ही आत्मा पुष्ट होती है।

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः, शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि॥30॥–समयसार कलश

इस जगत् में मैं स्वत: ही अपने एक आत्मरस का अनुभव करता हूँ, मुझे षट्रसों से क्या प्रयोजन। वह आत्मस्वरूप सर्वत: अपने निज चैतन्य रस के परिणमन से पूर्ण भाव वाला है, इसलिए इस मोह (रसगारव) का और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्य घन ज्योति का निधान हूँ।

मैं रस, सात व ऋद्धि गारव से रहित हूँ। मैं निज आत्मरस का आस्वादन लेता हूँ।

चदुगदि-रहिदो हं॥27॥

अर्थ–मैं चारों गतियों से रहित हूँ।

भावार्थ–भव से भवान्तर की प्राप्ति को गति कहते हैं। अथवा गति नाम नामकर्म से उत्पन्न होने वाली जो चेष्टा या क्रिया है उसे गति कहते हैं अथवा जिसके निमित्त से जीव चतुर्गति में जाते हैं वह गति है।

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता, जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं, गच्छंति त्ति य गई होइ॥84॥–धवला जी 1

यह गति चार प्रकार की है–नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

जीव के शुभाशुभ कर्मों से उसे शुभाशुभ गति प्राप्त होती है। शुभ कर्मों से देव व मनुष्य गति का बंध करता है और अशुभ कर्मों से तिर्यंच व नरक गति का बंध होता है। **बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः** बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह से नरकायु का बंध होता है। **मायातैर्यग्योनस्य**–मायाचारी से तिर्यञ्चायु का बंध होता है। **अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य**–अल्पारम्भ और परिग्रह से मनुष्यायु का बंध होता है। **सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा- बालतपांसि दैवस्य**–सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतपादि देवायु के बंध का कारण है।

हे तत्त्ववेत्ता! शुद्ध निश्चय नय से बहु आरंभ, परिग्रह, मायाचार, सराग संयमादि से रहित होने के कारण तुम चारों गतियों से भी रहित हो क्योंकि कारण का अभाव होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

णाहं णारयभावो, तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥77॥–नियमसार

न मेरे नारक भाव है, न तिर्यंच अवस्था है, न मनुष्य और न देव पर्याय है,, न मैं इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वालों का अनुमोदक हूँ।

मेरा स्वभाव चारों गतियों में भ्रमण करना नहीं है। अभी तक कभी देवपूजा, सेवा, वैय्यावृत्ति, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयमादि कर देव वा मनुष्य गति प्राप्त की और कभी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह वा क्रोध आदि कर नरक या तिर्यंच गति प्राप्त की और यूँ ही संसार में, मेरी माधुर्य ज्ञान रस से पूरित आत्मा भटकती रही। किन्तु मैं इन सबको छोड़ परम समरसी भाव से सहित निर्विकल्प दशा को प्राप्त होता हूँ।

चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति॥42॥–नियमसार

शुद्ध जीव का न तो चार गतियों में भ्रमण होता है और जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणा स्थान भी नहीं होते।

अहो तत्त्ववेत्ता! यदि संसार से मुक्ति चाहते हो, निज आत्म तत्त्व वा स्वभाव को पाना चाहते हो तो निजात्मा का ही ध्यान करो, बाह्य सर्व विकल्पों का त्याग कर, संयम धारण कर निजात्म तत्त्व को भजो।

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं,
निर्द्वन्दमक्षयविशालवरप्रबोधम्।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः,
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम्॥68॥–नियमसार/ता.वृ.

जो परमात्मतत्त्व आदि, अन्त रहित है, निष्पाप है, निर्द्वन्द है और अविनाशी तथा अतिशय विशाल ज्ञान से युक्त है, उसी की भावना में तत्पर रहने वाला भव्य जीव इस लोक में सांसारिक दुःखों से दूरवर्ती सिद्धि को प्राप्त करता है।

सव्विंदिय-रहिदो हं॥28॥

अर्थ–मैं सर्व इंद्रियों से रहित हूँ।

भावार्थ–अहमिन्द्र के समान अपने-अपने विषय में वर्तन करने वाली इन्द्रियाँ होती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण के भेद से ये पाँच प्रकार की होती हैं। जीव स्पर्शन इंद्रिय के विषय में अत्यंत आसक्त, लंपटी वा लोलुपी होकर मात्र स्पर्शेन्द्रिय युक्त जीव रूप जन्म लेता है और जन्म, मरणादि भयंकर कष्टों को सहता है। इंद्रियों में स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय, कषायों में लोभ पर विजय, रसों में नमक का त्याग, गुप्तियों में मनोगुप्ति को प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है। जब जीव की एक स्पर्शन इंद्रिय में ही आसक्ति होती है तब अत्यंतासक्ति के प्रभाव से यह जीव एकेन्द्रियों-साधारण-निगोदिया जीव में भी जन्म ले सकता है। वहाँ एक शरीर में अनंत जीवों के साथ वह रमण करता है।

वही अज्ञानी जीव जब स्पर्शन व रसना दोनों इंद्रियों में आसक्त हो जाता है तब तो क्षणिक सुख का अनुभव करता है किन्तु बाद में कृमि, लट आदि द्वीन्द्रिय पर्यायों में उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार जब अविद्या के संस्कारवश भ्रमित, बहिरात्मा, मूढ़ जीव स्पर्शन, रसना व घ्राण इन तीन इन्द्रियों के विषयों में लंपट होता है तब वह चींटी, खटमल, बिच्छु आदि पर्यायों में उत्पन्न हो सकता है और पुनः उन पर्यायों को प्राप्त करने वाला असह्य दुःखों को यही आत्मा भोगता है।

जब वस्तु तत्त्व से विमुख हुआ, स्वकल्याण को तनिक भी न विचारता हुआ, भोगों में मस्त होकर स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु इंद्रियों के विषयों को अत्यंत लंपटता से भोगता है तब मक्खी,

मच्छर आदि चार इन्द्रिय जीवों में जन्म ले सकता है और उन कष्टों को भोग सकता है। जब आत्म स्वरूप को न जानता हुआ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन पाँच इंद्रिय के विषयों को भोगता है तो पंचेंद्रिय जाति नामकर्म का बंध कर पंचेंद्रियों में उत्पन्न हो सकता है। किन्तु यही जीव जब अत्यंत आसक्ति से पाँचों इन्द्रियों के विषयों को भोगता है तब एकेन्द्रियादि किसी भी जाति का बंधकर उनका दु:ख भोगने के लिए बाधित होता है।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम विशुद्ध ज्ञानस्वभावमयी आत्मानुभव से उत्पन्न वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत रस से परिपूरित हो। यह पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्ति तेरा स्वभाव नहीं है। कहाँ तो अविनश्वर चेतना के उत्तम गुणों का भोग और कहाँ ये तुच्छ भोग। मानो राजा होकर के विष्टा में आसक्त हो। रुको! कहाँ भोगों में फँसते जा रहे हो, निज सत्यता का भान करो। जिन इंद्रियों की संतुष्टि के लिए तुम हिंसा करते हो, अपरिमित पाप का अर्जन करते हो वह इंद्रियाँ ही तुम्हारी नहीं हैं।

न हस्तौ न पादौ न घ्राणं न जिह्वा,
न चक्षुर्न कर्णं न वक्त्रं न निद्रा।
न स्वामी न भृत्य: न देवो न मर्त्य:
चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्॥3॥–वीतराग स्तोत्रम्

अहो चिर सखे! जब इंद्रियाँ ही तुम्हारी नहीं, तुम इंद्रियों से रहित हो तब उनके लिए पापार्जन क्यों करते हो। जागो... जागो... जागो... समय रहते चेत जाओ चेतन, यदि समय निकल गया तो बहुत पछताना पड़ेगा। शीघ्र ही निज स्वभाव को पहचानकर उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करो।

मुंचविनोदं कामोत्पन्नम्, पश्य शिवं त्वं शुभ-संपन्नम्।
यास्यसि मोक्षं प्राप्स्यसि सौख्यं, कृत्वा शुक्लं ध्यानं सख्यम्॥22॥–वैराग्य मणिमाला

हे तत्त्ववेत्ता! तुम काम से उत्पन्न होने वाले आनंद को छोड़ो। शुभ से युक्त शिव को देखो, सिद्ध स्वरूप को देखो। शुक्ल ध्यान के बल से अनंत सुख व मोक्ष प्राप्त करो।

सव्वसरीर-रहिदो हं॥29॥

अर्थ–मैं सर्व शरीरों से रहित हूँ।

भावार्थ–जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है।[1] अथवा जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के पुद्गल स्कंध तथा तैजस और कार्माण वर्गणा के पुद्गल स्कंध शरीर योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं उस कर्म स्कंध की 'शरीर' यह संज्ञा है।[2] यह शरीर पाँच प्रकार का है–औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्माण।

1. स.सि. 2. ध. 6/52

जिस कर्म के उदय से जीव के द्वारा अधिष्ठित देश में स्थित आहार वर्गणा के पुद्गल स्कंध रस, रुधिर, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र स्वभाव वाले औदारिक शरीर के स्वरूप से परिणत होते हैं, उस कर्म की 'औदारिक शरीर' यह संज्ञा है।[3] यह औदारिक शरीर मनुष्यों व तिर्यंचों के होता है। हे तत्त्ववेत्ता! तुम शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अशरीरी सिद्धों के समान हो। यह शरीर तुम्हारा नहीं है, क्यों इस शरीर को सजाते-सँवारते हो।

'क्या तन माँजना रे, इक दिन माटी में मिल जाना।

नियत समय तक के लिए यह आत्मा इस शरीर में रह रही है। कितना भी प्रयास करो किन्तु यह तो नष्ट होगा ही। जो तुम हो उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता और जो तुम नहीं हो उसके नष्ट होने का विषाद वा भय कैसा?

अहो तत्त्ववेत्ता! अब तो जागो, जिस शरीर के लिए तुम चमड़ा लाते हो, हिंसक प्रसाधनों-साधनों का प्रयोग जिस शरीर के लिए करते हो यह तो तुम्हें कभी भी धोखा दे सकता है। संसारी प्राणियों को तो देखो लिपिस्टिक, नेलपेंट, ब्लीच, विभिन्न प्रकार की क्रीम, लोशन्स आदि का प्रयोग विवेकहीन होकर करते हैं। किन्हीं पशुओं का रक्त, हड्डी आदि भी इसमें है यह जानते हुए भी अनदेखा (ignore) कर उनका प्रयोग करते हैं। शरीर के लिए कौन सा पाप नहीं करते?

अहो तत्त्ववेत्ता! **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** इस शरीर को धर्म का साधन बनाओ। जिस प्रकार हायर (hire) की गई गाड़ी की डेंटिंग-पेंटिंग न कर व्यक्ति मात्र उसका उपयोग कर गंतव्य तक पहुँचता है उसी प्रकार यह शरीर भी कुछ समय के लिए मिला है इसका उपयोग करो। इसके माध्यम से तप, साधना, संयमपालनादि कर मोक्षमहल तक पहुँचने का पुरुषार्थ करो।

अणिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक-अनेक, छोटा-बड़ा आदि नाना प्रकार का शरीर करना विक्रिया है। यह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है वह वैक्रियक शरीर है।[4] यह शरीर देवों और नारकियों के होता है।

अहो तत्त्ववेत्ता! अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभाशुभ पर्याय व तदनुरूप शरीर प्राप्त करते हो। अनादिकाल से अनंत-अनंत शरीरों को धारण कर छोड़ चुके हो। कब तक इस आत्मा को दर-दर का भिखारी बनाकर रखोगे? अरे! अब नवीन-नवीन शरीर धारण करने के इस क्रम को विराम दो।

सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्तसंयत जिस शरीर की रचना करता है वह आहारक शरीर है।[5] इस शरीर का तो निर्माण ही विशेष प्रयोजन अर्थात् तीर्थंकरों के कल्याणादि में जाना, जिनगृह वंदना, शंका निराकरण आदि के लिए मात्र अंतर्मुहूर्त के लिए ही होता है पुन: नष्ट हो जाता है। अहो तत्त्ववेत्ता! यह नश्वर शरीर भी तुम्हारा नहीं है।

3. ध. 6/60

4. स.सि. 2/36, 5. स.सि. 2/36

जो दीप्ति का कारण है या तेज में उत्पन्न होता है उसे तैजस शरीर कहते हैं और कर्मों का कार्य कार्माण शरीर है।[1]

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम इन शरीरों से रहित हो। अज्ञानी, मूढ़ ही शरीर को अपना मानता है किन्तु ज्ञानी जानता है कि शरीर वह (आत्मा) नहीं है। तभी तो आत्मा निकल जाने के बाद शरीर माटी सा पड़ा रह जाता है।

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं, न नष्टं मन्यते तथा।

नष्टे स्वदेहेप्यात्मानं, न नष्टं मन्यते बुधः॥65॥–समाधितंत्र

जिस तरह कपड़े के नष्ट हो जाने पर बुद्धिमान् पुरुष अपने शरीर को नष्ट हुआ नहीं मानता है उसी तरह अन्तरात्मा अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर अपने जीवात्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता है।

यहाँ ग्रंथकार मात्र निजात्म स्वरूप के दर्शन कराने हेतु बार-बार विभिन्न प्रकार से आत्मा का स्वरूप कह रहे हैं। हे तत्त्ववेत्ता! जानो, तुम अशरीरी हो, यह शरीर तुमसे पृथक् है तुम सर्व प्रकार के शरीरों से रहित हो।

बीज की शक्ति मूलतः नष्ट करने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति के कारणभूत इन राग व द्वेष को मूलतः नष्ट करना आवश्यक है जिससे शरीर रूपी अंकुर वा वृक्ष की उत्पत्ति पुनः न हो व संसार का अंत हो।

लुक्खत्ते णिग्घत्ते, पज्झरदि जह पोग्गलरजं णट्ठे।

णट्ठे रायद्दोसे, तह अप्पादु सव्वकम्माणि॥123॥–अप्पविहवो (आ. वसुनंदी मुनि)

जिस प्रकार रूक्षता, स्निग्धता के नष्ट होने पर पुद्गल रज झर जाती है उसी प्रकार राग-द्वेष के नष्ट होने पर आत्मा से सभी कर्म झर जाते हैं और तब वह आत्मा शाश्वत, अनंत काल के लिए शुद्ध हो जाता है।

जोगत्तय-रहिदो हं॥30॥

अर्थ–मैं तीनों योगों से रहित हूँ।

भावार्थ–मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों में होने वाला परिस्पन्दन योग कहलाता है। अथवा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के हलन चलन को योग कहते हैं[2] अथवा आत्म प्रदेशों के संकोच और विस्तार रूप होने को योग कहते हैं।[3]

1. स.सि. 2/36
2. (क) योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त-आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। –स.सि.
   (ख) आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दः उपयोगो योगः।–रा.वा.
3. आत्मप्रदेशानां संकोचविकोचो योगः। –ध. 1

ये मन, वचन व काय के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। अथवा चार मनयोग, चार वचनयोग एवं सात काययोग इस प्रकार योग 15 होते हैं। अथवा द्रव्य और भाव के भेद से योग दो प्रकार का भी है। जो मनोवाक्कायवर्गण ाा का अवलंबन रखता है ऐसे संसारी जीव की जो समस्त प्रदेशों में रहने वाली कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं और इसी प्रकार के जीव के प्रदेशों का जो परिस्पन्द है उसको द्रव्य योग कहते हैं।[3]

'नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते'[4] नाना प्रकार के विकल्प जाल को मन कहते हैं। यह मन दो प्रकार का होता है। द्रव्य मन व भाव मन। जो हृदय स्थान में आठ पांखुड़ी के कमल के आकार वाला तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कंध से उत्पन्न हुआ है उसे द्रव्य मन कहते हैं।[5] तथा वीर्यान्तराय और नोइंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं।[6] बाह्य पदार्थ के चिंतन में प्रवृत्त हुए मन से उत्पन्न जीव प्रदेशों के परिस्पंदन को मनोयोग कहते हैं।[7] अथवा वीर्यान्तराय व नोइंद्रियावरण के क्षयोपशम रूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओं का आलंबन मिलने पर मनरूप पर्याय के सम्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है।[8]

सत्य, असत्य, उभय (सत्यमृषा) एवं अनुभय (असत्यमृषा) के भेद से मनोयोग चार प्रकार का होता है। सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थ के विषय करने वाला मन सत्यमन कहलाता है और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्य मनोयोग कहते हैं। इससे विपरीत योग मृषा मनोयोग है। सत्य व मृषा योग को सत्यमृषा मनोयोग कहते हैं। जो मन न तो सत्य हो, न मृषा हो उसे असत्यमृषा मन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसे असत्यमृषा मनोयोग कहते हैं।[9]

हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूय, इंद्रिय सुखों में लोलुपता, विषाद, कृष्ण-नील-कापोत लेश्याएँ, राग-द्वेष आदि रूप परिणाम अशुभ मनोयोग है। और अर्हद् भक्ति, तपरुचि, श्रुतविनय, व्रत, समिति, शील व संयम रूप परिणाम शुभ मनोयोग है।

अहो तत्त्ववेत्ता! योग व कषाय के निमित्त कर्मों का आस्रव होता है। कभी मन में अच्छा विचार आया तो पुण्य बंध किया और कभी किसी के लिए बुरा विचार मन में आया तो पाप बंध हो गया। तुम निज मन पर नियन्त्रण करो। यह अच्छा-बुरा विचार पुण्य-पाप का आस्रव कराकर तुम्हें निज

---

3. गो.जी./जी.प्र., 4. द.सं./टी., 5. गो.जी., 6. स.सि.
7. बज्झत्थचिंतावावदमणादो समुप्पण्णजीवपरिप्फंदो मणोजोगो णाम।। –ध. 10
8. स.सि.
9. सब्भावो सच्चमणो, जो जोगो सो दु सच्चमणजोगो।
   तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसत्ति।।89।।–पं.सं.प्रा.
   ण य सच्चमोसजुत्तो, जो हु मणो सो असच्चमोसमणो।
   जो जोगो तेण हवे, असच्चमोसो दु मणजोगो।।90।। –पंच संग्रह प्राकृत

स्वभाव, निज स्वरूप तक नहीं पहुँचने देता। प्रिय आत्मन्! यह मनोयोग तुम्हारा स्वरूप नहीं है, तुम तो इससे एकदम पृथक् हो।

''जिया कब तक उलझेगा, संकल्प-विकल्पों में''

अहो, इस मन को यह जीव अपना मानकर निरन्तर विकल्पों में फँसा रहता है। वही विकल्प का जाल है जिसे आज टेंशन या डिप्रैशन कह देते हैं। हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारे समीचीन या असमीचीन विचार से किसी का कुछ भी होने वाला नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतंत्र परिणमन है। किन्तु तुम स्वयं को कर्त्ता मान स्वभाव से विपरीत जाकर दु:ख उठा रहे हो। यदि मन को नियंत्रित अनुशासित कर लोगे तो बहुत से पाप कर्मों से बच जाओगे।

''मन की तरंगें मार ले, बस हो गया भजन''

मन को अनुशासित करो, पाप से हटाकर पुण्य रूप शुभ की ओर लगाओ और पुन: आत्मलीनता में रत योगी शुभ व अशुभ दोनों से पृथक् हो जाएगा। जान लो तत्त्ववेत्ता, यह मनोयोग भी तुमसे भिन्न है। तुम इससे सर्वथा अन्य हो।

भाषा वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कंधों के अवलंबन से जो जीव प्रदेशों का संकोच विस्तार होता है वह वचन योग है।[10] अथवा शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन वर्गणाओं का आलंबन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचन लब्धि के मिलने पर वचन रूप पर्याय के अभिमुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द वचन योग कहलाता है।[11] मनोयोग की भाँति यह भी चार प्रकार का होता है। दस प्रकार के सत्य वचन में वचन वर्गणा के निमित्त से जो योग होता है उसे सत्य वचनयोग कहते हैं। इससे विपरीत योग को मृषा वचन योग कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योग को उभयवचन योग कहते हैं जो वचन योग न तो सत्य रूप हो और न मृषा रूप ही हो उसे असत्य मृषा वचनयोग कहते हैं। असंज्ञी जीवों की जो अनक्षर रूप भाषा और संज्ञी जीवों की जो आमन्त्रणी आदि भाषाएँ हैं उन्हें अनुभय भाषा जानना चाहिए।[12]

भोजन कथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोर कथा करना, असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचन योग है और संसार का नाश करने वाला वा सत्य-हित-मित बोलना शुभ वचनयोग है। अहो तत्त्ववेत्ता! ये सभी तुम्हारे द्वारा छोड़ने योग्य हैं, इन सबको हेय जानकर शुद्धात्मिक तत्त्व जो उपादेय है, उसे ग्रहण करो। आज तक सांसारिक वार्तालाप में ही लगे रहे हो, कभी स्त्री की चर्चाएँ

10. भासावग्गणापोग्गलखंधे अवलंबिय जीवपदेसाणं संकोचविकोचो सो वचिजोगो णाम।। –ध. 7

11. स.सि.

12. दसविहसच्चे वयणे, जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।
तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसत्ति।।91।। –पं.सं.प्रा.
जो णेव सच्चमोसो, तं जाण असच्चमोसवचिजोगो।
अमणाणं जा भासा, सण्णीणामंतणीयादी।।92।। –पं.सं.प्रा.

की तो कभी भोजन की, कभी राज कथा की तो कभी अन्य दुष्ट वचनों का प्रयोग किया। और यदि कभी बाहर से नहीं बोले तो अंतर्जल्प चलता रहा। और तो और स्वप्न में भी अंतरंग-बहिरंग वार्तालाप चलता रहा।

जब तब वचन व्यापार को छोड़ नहीं देते तब तक संकल्प करो कि अपनी इन भाषा वर्गणाओं को अशुभ रूप व्यर्थ नहीं करोगे। चर्चा करनी ही हो तो तत्त्व चर्चा करना, धर्म चर्चा करना। वरना ये वचन वर्गणाएँ अशुभ रूप होकर तुझे कर्मपाश में बांध देंगी। तत्त्ववेत्ता! सावधान हो जाओ, पहले विचार करो और आवश्यक हो तो बोलो अन्यथा मौन रहकर संसार की धारा को तोड़कर निर्द्वन्द, निरीह हो जाओ।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं, त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन, प्रदीपः परमात्मनः॥17॥–समाधितंत्र

जैसे अंधकार में दीपक के प्रकाश से देखा जाता है, उसी तरह आत्मा का अवलोकन करने के लिए अंतरंग-बहिरंग वचन का रोकना आवश्यक है।

यह वचन योग तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुम तो निज में लीन रहने वाले, अनंत आनंद का अनुभव करने वाले ज्ञायक स्वरूपी हो।

पुनः काययोग के विषय में बताते हैं–वात, पित्त व कफ आदि के द्वारा उत्पन्न परिश्रम से जो जीव प्रदेशों का परिस्पन्द होता है, वह काययोग कहा जाता है।[13] अथवा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिकादि सप्त प्रकार कीकायवर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है।[14] यह काययोग सात प्रकार का है–औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग और कार्माण काययोग।

बाँधने, छेदने व मारने की क्रियाएँ, हिंसा, चोरी व मैथुनादि अनंत विकल्प रूप अशुभ काययोग है तथा जिनदेव, गुरु व शास्त्रों की पूजा, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि अनंत विकल्प रूप शुभ काययोग है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा अनंत गुणों का पुंज, ज्ञान-दर्शन स्वभावी है जबकि शरीर पुद्गल है, रोगों का घर है, अनित्य है। यह शरीर अत्यंत घृणित, बीभत्स है।

सप्तधातुमयपुद्गलपिंडः, कृमिकुलकलितामयफणिखंडः।
अस्थि मलादिकपूर्णः पिंडः, तदपि हि मूर्ध्नि पतति यमदंडः॥17॥

–वैराग्य मणिमाला

13. वातपित्तसेंभादीहि जणिदपरिस्समेण जाव जीव-परिप्फंदो कायजोगो णाम।।–ध.10

14. स.सि.

यह शरीर सात धातुओं का बना हुआ पुद्‌गल का पिंड है, कीड़ों का घर है, हड्डियों और मलादिक से पूर्ण भरा है फिर भी यमराज का दंड इस पर पड़ता ही है।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह शरीर तुम्हारा नहीं है, पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोगों से भरा यह शरीर किस प्रकार प्रीति के योग्य है। देह को अपना मानना ही संसार का मूल है। यह शरीर प्राप्त कर यदि धर्म किया जाए, संयम धारण किया जाए तब संसार का अंत करने वाला होने से इसकी सार्थकता है किन्तु देह की विरक्ति के साथ ही वह कार्य किए जाने चाहिए।

जाणिय तस्स सहावं, विरज्जिच्चा करेज्ज सुहकज्जाणि।
रयणत्तयेण होदि, देहो सुद्धो णेव कया वि॥124॥

–अणुवेक्खा–सारो (आ. वसुनंदी मुनि)

देह के स्वभाव को जानकर उससे विरक्त होकर शुभ कार्य करने चाहिए। यह देह रत्नत्रय से ही शुद्ध होती है और किसी भी प्रकार कदापि शुद्ध नहीं होती।

अहो तत्त्ववेत्ता! शरीर से विरक्त रहते हुए, संयम का परिपालन करो।

पोषत तो दुःख दोष करे अति, शोषत सुख उपजावे,
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावे।
राचन जोग सरूप न याको, विरचन जोग सही है,
यह तन पाय महातप कीजे, यामें सार यही है॥ –वैराग्य भावना

इस शरीर को एक यान की तरह मानकर अनासक्त भाव से इसके द्वारा सिद्धालय की यात्रा का प्रारंभ करो। यह शरीर स्वभाव से कृतघ्नी है। इसको कितनी बार भी खिलाओ, स्नान कराओ, सजाओ, गर्मी में ए.सी. में और सर्दी में हीटर में बिठाओ किन्तु जितना-जितना पोषण करो उतना ही दुःखदायक हो जाता है। इतना सब करने के बाद भी साथ नहीं देता। संपूर्ण सुविधाएँ देने के बाद भी यदि इससे तीर्थयात्रा की कहो तो दर्द हो रहा है, कहकर मना कर देती है। अहो भोले चेतन! ऐसे शरीर में प्रीति बढ़ाकर अपने संसार का वर्द्धन मत करो। इन सब पर पदार्थों का त्याग करो।

णाहं देहो ण मणो, ण चेववाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥160॥–प्रवचनसार

मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ, और कर्त्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

यह शरीर, वचन, मन कुछ भी तुम्हारा नहीं है इस प्रकार भेद विज्ञान की छैनी से आत्मा में निज परमात्मा को प्रकट करने का पुरुषार्थ कर।

सिद्धपदं पावंते, पावीअ पाविस्संति जे जीवा।
भेदविण्णाण-फलं दु, जाणदु तं अण्णहा सक्को॥122॥

—अप्पसत्ती (आ. वसुनंदी मुनि)

जो जीव सिद्ध पद को प्राप्त कर रहे हैं, प्राप्त किया है व प्राप्त करेंगे, वह भेदविज्ञान का फल जानो। वह सिद्ध पद अन्य प्रकार से प्राप्त करना अशक्य है।

वेदत्तय-रहिदो हं॥31॥

अर्थ—मैं तीनों वेदों से रहित हूँ।

भावार्थ—व्यक्ति में पाए जाने वाला स्त्रीत्व भाव, पुरुषत्व भाव वा नपुंसकत्व का भाव वेद कहलाता है।

वेदस्सुदीरणाए, बालत्तं पुण णिच्छयदे बहुसो।
इत्थी पुरिस णउंसय, वेयंति तदो हवदि वेदो॥101॥—पंच संग्रह

वेद कर्म की उदीरणा होने पर यह जीव नाना प्रकार के बाल भाव अर्थात् चांचल्य को प्राप्त होता है और स्त्री भाव, पुरुष भाव एवं नपुंसक भाव का वेदन करता है अतएव वेदकर्म के उदय से होने वाले भाव को वेद कहते हैं। यह वेद द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। नाम कर्म के उदय से जिसकी रचना होती है वह द्रव्य लिंग है और आत्म परिणाम रूप भाव लिंग (वेद) है। यह वेद तीन प्रकार का भी होता है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसक वेद।

पुरिसेण सह रमणिदुं, होदि कंखा जस्स कम्मुदयेणं।
थी वेदो सो णेयो, तं खयिदुं कुणदु पुरिसत्थं॥88॥

—कम्मसहावो (आ. वसुनंदी मुनि)

जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ रमण की इच्छा होती है वह स्त्रीवेद जानना चाहिए। यह स्त्रीवेद जीव का स्वभाव नहीं है अत: इसे क्षय करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

इत्थीइ सह रमणिदुं, होदि कंखा जस्स कम्मुदयेणं।
सो होज्ज पुरिसवेदो, अयं हि दव्ववेदो सिवस्स॥89॥—क.सं.

जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की कांक्षा होती है वह पुरुषवेद होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए यह ही एक द्रव्य वेद है।

जस्स कम्मोदयेणं, इत्थिपुरिसेहिं सह य रमणेदुं।
कंखा होदि सो संढ-वेदो हु घोर-दुक्ख हेदू॥90॥ —क.सं.

जिस कर्म के उदय से स्त्री व पुरुष दोनों के साथ रमण की कांक्षा होती है वह घोर दु:ख का हेतु नपुंसकवेद है।

अहो तत्त्ववेत्ता! अनादिकाल से इन वेदों को प्राप्त करते आए हो किन्तु आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है। कर्मोदय से वेद रूप परिणाम कर तीव्र पाप कर्मों का बंध किया, इन्हीं रूप स्वयं को जाना, सत्यता को जानने का प्रयास ही नहीं किया। अब त्रिवेद संबंधी भावों का परित्याग कर आत्मधर्म को जानो। त्रिवेद आत्मा का स्वरूप नहीं है।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु, निष्पन्नं शब्दवर्जितम्।।44।।–समाधितंत्र

अज्ञानी जीव इस दिखाई देने वाले शरीर को स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद से यह आत्म तत्त्व त्रिलिंग रूप है ऐसा मानता है किन्तु आत्मज्ञानी यह त्रिलिंग रूप आत्मतत्त्व नहीं है, आत्मा लिंगों से रहित है, वह अनादि संसिद्ध है तथा नामादिक विकल्पों से रहित है, ऐसा समझता है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह शरीर पुद्गल है, यह तो वेदरूप होता है किन्तु आत्मा शरीर से बिल्कुल अलग है वह वेदरूप कदापि भी नहीं है।

''ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनसे नहिं हमारो मेल।''

मेरी सलौनी आत्मा इन सबसे भिन्न है, अनंत गुणों का भंडार है, परम चैतन्य रस से युक्त है।

सव्वपमाद-रहिदो हं।।32।।

अर्थ–मैं सर्व प्रमाद से रहित हूँ।

भावार्थ–कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। ''प्रमाद: सकषायत्वं।[1] चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा और एक प्रणय, ये 15 प्रमाद होते हैं।[2] अथवा प्रमाद पाँच प्रकार का भी होता है, विकथा, कषाय, इंद्रियों के विषयों में आसक्ति, निद्रा और स्नेह। अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्य शास्त्र, काव्यकरण और समिति में उपयोग न देना ऐसे भी प्रमाद के पाँच भेद हैं।[3]

अथवा अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव का न होना यह प्रमाद है।[4] अहो तत्त्ववेत्ता! अनादिकाल के संस्कार वश या अविद्या के अभ्यास से तुम विषयों में तो तुरंत प्रवृत्त हो जाते हो,

---

1. स.सि.
2. विकहा तहा कसाया, इंदियणिद्दा तहेव पणयो य।
   चदु चदु पणमेगेगं, होंति पमादा हु पण्णरसा।।34।। –गो.जी.
3. भ.आ./वि., 4. कुशलेष्वनादर: प्रमाद:। –स.सि.

सांसारिक कार्यों के लिए पूर्ण उत्साह से युक्त हो जाते हो किन्तु देवपूजा, तीर्थयात्रा, स्वाध्याय आदि में अनुत्साह दिखाते हो। बार-बार प्रेरणा दिए जाने पर भी इनमें प्रवृत्त नहीं होते। सांसारिक कार्यों को करते हुए संसार को अमर बेल के समान बढ़ाते जाते हो और संसार के दु:खों को भोगते हो।

यदि विवाह आदि का प्रसंग होता है तो वृद्ध अवस्था में जब चला नहीं जा रहा हो तो भी नृत्य करने लग जाते हैं, विदेशादि घूमने जाना हो तो तुरंत तैयार हो जाते हैं तब आलस्य या प्रमाद नहीं आता, सुबह उठकर क्रिकेट खेलने जाना हो तो आलस्य नहीं आता किन्तु यदि कहें सुबह उठकर मंदिर जाना है, अभिषेक करना है तब प्रमाद आकर घेर लेता है। तीर्थयात्रा की कहें तो मन नहीं करता, प्रमादी बन जाते हो। यदि हाथ में मोबाइल है तो पूरी रात भी बीत जाए तब आलस्य नहीं आता और यदि णमोकार मंत्र का पाठ घंटे भर भी करना हो तो आलस आ जाता है। अहो तत्त्ववेत्ता! कुशल कार्यों में अनादर का भाव आकर स्वयं को कर्मों के आधीन कर लेते हो। जरा विचारो तो सही, स्वयं के लिए स्वयं ही समीचीन निर्णायक बनो कि यह सही है या गलत।

चार कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ, चार विकथा-स्त्री, राज, चोर व भोजन कथा, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-कर्ण इन पाँच इंद्रियों के विषयों में आसक्ति, निद्रा और स्नेह में आकंठ डूबे रहते हो। पूरा जीवन निकल जाता है किन्तु उनसे ऊपर उठ नहीं पाते। देखो तो भोले चेतन! अज्ञानवश किस प्रकार दर-दर की ठोकरें खा रहे हो। अब तो सम्हल जाओ। यह सब तुम्हारा नहीं है। हे तत्त्ववेत्ता! समस्त बाह्य वस्तुएँ त्याज्य हैं, पर भाव हेय हैं ऐसा विचार कर निज आत्म तत्त्व का ध्यान करो। यही मुक्ति का उपाय है।

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः,
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्,
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात्॥190॥-अध्यात्म अमृत कलश

प्रमाद से युक्त जो आलसी मनुष्य है वह शुद्ध भाव का धारक कैसे हो सकता है? क्योंकि कषाय के भार की गुरुता से जो आलस्य होता है वही तो प्रमाद कहलाता है। अतएव स्वरस से भरे हुए स्वभाव में स्थिर रहने वाला मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है और शीघ्र ही मुक्त होता है।

जीवादिबहित्तच्चं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भव, गुणपज्जाएहिं वदिरित्तो॥38॥-नियमसार

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, आत्मा को वह आत्मा उपादेय है जो कि कर्म रूप उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण और पर्यायों से भिन्न है।

सव्वखओवसमियणाण-रहिदो हं॥33॥

अर्थ—मैं सभी क्षायोपशमिक ज्ञान से रहित हूँ।

भावार्थ—सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपश- माद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति।—स.सि.

वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सद्वस्था रूप उपशम होने से और देशघाती स्पर्द्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है।

कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान ये सब क्षायोपशमिक हैं।

कुमति ज्ञान—मिथ्यात्व के साथ होने वाला मतिज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है।

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु अणुवदेसकरणेण।
जा खलु पवत्तइ मई मइ-अण्णाण त्ति णं विंति॥118॥—पं.सं.

परोपदेश के बिना जो विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बंध आदि के विषय में बुद्धि प्रवृत्त होती है, उसे अज्ञानी जन मत्यज्ञान कहते हैं।

कुश्रुत ज्ञान—कुमति ज्ञान के साथ जो श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतअज्ञान या कुश्रुतज्ञान कहलाता है।

आभीयमासुरक्खा, भारह-रामायणादि-उवएसा।
तुच्छा असाहणीया, सुयअण्णाण त्ति णं विंति॥119॥—पं.सं.

चौर शास्त्र, हिंसा शास्त्र तथा महाभारत, रामायण आदि के तुच्छ और परमार्थ शून्य होने से साधन करने के अयोग्य उपदेशों को श्रुत अज्ञान कहते हैं।

कुअवधि ज्ञान—मिथ्यात्व के साथ अवधिज्ञान कुअवधिज्ञान या विभंगावधि ज्ञान कहलाता है।

विवरीय-ओहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च।
वेभंगो त्ति व वुच्चइ, सम्मत्तणाणीहिं समयम्हि॥120॥—पं.सं

जो क्षयोपशम अवधिज्ञान मिथ्यात्व से संयुक्त होने के कारण विपरीत स्वरूप है और नवीन कर्म का बीज है उसे आगम में कुअवधि या विभंग ज्ञान कहा है।

मतिज्ञान–(सम्यक्त्व के साथ) इंद्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है। अथवा इंद्रिय और मन के निमित्त से शब्द, रस, स्पर्श, रूप और गंधादि विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है।[1]

श्रुतज्ञान–संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय से रहित, शब्दों से उत्पन्न ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।

सव्वं पि अणेयंतं, परोक्ख-रूवेणं जं पयासेदि।

तं सुयणाणं भण्णदि, संसयपहुदीहि परिचत्तं।।262।। –कार्तिकेयानुप्रेक्षा

जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं को अनेकान्त रूप दर्शाता है संशय, विपर्यय आदि से रहित उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान–(सम्यग्दृष्टि के) जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा लिए समस्त रूपी पदार्थों को जानता है वह अवधिज्ञान कहा जाता है।[2]

अंतिमखंदंताइ परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाइं।

जं पच्चक्खं जाणइ, तमोहिणाणं त्ति णायव्वं।।4/972।।–ति.प.

जो प्रत्यक्ष ज्ञान अन्तिम स्कंध पर्यन्त परमाणु आदि मूर्त द्रव्यों को जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए।

मनःपर्ययज्ञान–जो मन में तिष्ठे पदार्थों को जान लेता है वह मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है।

चिंताए अचिंताए अद्धंचिंताए विविहभेयगयं।

जं जाणइ णरलोए, तं चिय मणपज्जवं णाणं।।4/973।।–तिलोयपण्णत्ति

चिन्ता, अचिन्ता और अर्द्धचिन्ता के विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थ को जो ज्ञान नरलोक के भीतर जानता है, वह मनःपर्यय ज्ञान है।

अहो तत्त्ववेत्ता! ये सभी ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। ये सभी कर्मों के क्षयोपशम पर निर्भर करते हैं। जैसे-जैसे क्षयोपशम बढ़ता है वैसे-वैसे ज्ञान बढ़ता है और जैसे-जैसे क्षयोपशम घटता है वैसे-वैसे ज्ञान घटता है, किंतु ये ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वभाव अनंत, पूर्ण, केवलज्ञान है। वह ज्ञान एक बार प्राप्त हो जाए तो फिर जीव से कभी अलग नहीं होगा।

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः,
मुक्तिश्री कामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः,
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति।।272।।–नि.सा./ता.वृ.

1. इंदियणोइंदिएहि सद्द-रस-परिसरूव-गंधादिविसएसु ओग्गह-ईहावाय-धारणाओ मदिणाणं। –क.पा. 1
2. ओहिणाणं णाम दव्वखेत्तकालभाववियप्पियं पोग्गलदव्वं पच्चक्खं जाणदि। –धवला पु. 1

केवलज्ञान रूप आत्मा निरन्तर समस्त संसार को जानता है। अतः देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव व्यवहारनय की अपेक्षा मुक्ति लक्ष्मी रूपी स्त्री के कोमल मुख कमल पर सौभाग्य चिह्न से युक्त अतिशय दैदीप्यमान कोई अद्भुत शोभा को बढ़ाते हैं और निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्यमल और भावमल को नष्ट करते हुए स्व-स्वरूप को जानते हैं।

जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायों से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुटित अर्थात् सर्व व्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है उसे केवलज्ञान कहते हैं।[3]

केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहावणाणं त्ति।

सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं॥11॥—नियमसार

अतीन्द्रिय एवं असहाय जो केवलज्ञान है वह स्वभाव ज्ञान है। विभाव ज्ञान के दो भेद हैं और सम्यग्ज्ञान के चार भेद हैं।

घातिया कर्म का अभाव होने से यह केवलज्ञान प्रकट होता है। उस अनंत ज्ञान से सहित सिद्ध भगवान् संपूर्ण द्रव्य, गुण, पर्यायों को एक साथ जानते हैं। यही शुद्धात्मा का स्वभाव है। अहो! तत्त्ववेत्ता उसी क्षायिक, शाश्वत ज्ञान की प्राप्ति के लिए मोह-राग-द्वेष का क्षय करने का पुरुषार्थ करो। तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगम स्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ सकल विमल केवलज्ञान रूप से अवस्थित होने से आत्मा निर्मूढ़ है।[4] यह आत्मा सर्वज्ञत्व शक्ति से सर्वदा युक्त है।

दव्वगुणपज्जाया य, सव्वा लोयालोय-वट्टमाणा।

जाइ सत्तीइ जाणदि, सा चिय सव्वण्हुत्त-सत्ती॥27॥

—अप्पसत्ती (आ. वसुनंदी मुनि)

जिस शक्ति से आत्मा लोकालोक में वर्तन करने वाले सर्व द्रव्य, गुण व पर्यायों को जानता है वह उसकी सर्वज्ञत्व शक्ति है।

अहो तत्त्ववेत्ता! जागो, ये क्षायोपशमिक ज्ञान तुम्हारा स्वभाव नहीं है। अतः माध्यस्थ रहकर निजस्वरूप स्वाभाविक-क्षायिक ज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

---

3. धवला जी पु. 9, 4. नि.सा./ता.वृ./43

सव्व-खओवसमियदंसण-रहिदो हं॥34॥

अर्थ–मैं सर्व क्षायोपशमिक दर्शनों से रहित हूँ।

भावार्थ–सामान्य सत्तावलोकन दर्शन कहलाता है।

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए॥138॥–पंच संग्रह

सामान्य विशेषात्मक पदार्थों के आकार विशेष को ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूप से अंश या स्वरूप मात्र का सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमागम में दर्शन कहते हैं। यह दर्शन चार प्रकार का होता है–चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन, व केवल दर्शन। जिनमें चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन व अवधिदर्शन क्षायोपशमिक हैं।

चक्षु दर्शन–चक्षु इंद्रिय से होने वाले ज्ञान से पूर्व जो सामान्य सत्तावलोकन रूप दर्शन होता है वह चक्षु दर्शन कहलाता है।

''चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति।''–पं.सं.

चक्षु इंद्रिय के द्वारा जो पदार्थ का सामान्य अंश प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षु दर्शन कहते हैं।

अचक्षु दर्शन–चक्षु इंद्रिय के अतिरिक्त शेष इंद्रियों से होने वाले ज्ञान से पूर्व जो सामान्य सत्तावलोकन रूप दर्शन होता है, वह अचक्षुदर्शन कहलाता है।

सेसिंदियप्पयासो, णायव्वो सो अचक्खु त्ति॥139॥–पं.सं.

शेष चार इंद्रियों से और मन से जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन जानना चाहिए।

अवधि दर्शन–अवधिज्ञान से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

परमाणुआदियाइं, अंतिमखंध त्ति मुत्तदव्वाइं।
तं ओहिदंसणं पुण, जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं॥140॥ –पं.सं.

सर्व लघु परमाणु से आदि लेकर सर्व महान् अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्तद्रव्य हैं, उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

ये तीनों ही दर्शन क्षायोपशमिक हैं। अहो तत्त्ववेत्ता! यह तेरा स्वभाव नहीं है। तुम तो सर्वदर्शित्व शक्ति से युक्त हो और शक्ति कभी नष्ट नहीं होती, वह शाश्वत होती है।

जाण लोयालोयस्स, सत्ता-मेत्त-गाहगरूव-सत्ती।
अप्पस्स सया हु सव्वदंसित्ता जिणिंदसमयेण॥26॥

—अप्पसत्ती (आ. वसुनंदी मुनि)

लोकालोक की सत्ता मात्र ग्राहक रूप शक्ति जिनागम से आत्मा की सदा ही सर्वदर्शित्व शक्ति जाननी चाहिए।

केवलज्ञान के युगपत् जो दर्शन है वह केवलदर्शन कहलाता है। क्षायिकज्ञान के युगपत् क्षायिक दर्शन रूप जीव का स्वभाव है।

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिट्ठित्ति॥14॥—नियमसार

चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीनों ही विभाव दर्शन हैं। इन विभाव दर्शनों को छोड़कर स्वभाव का चिंतन कर उसी स्वभाव को प्राप्त करने के लिए हे तत्त्ववेत्ता! तत्पर होओ।

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं,
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः॥24॥—नि.सा./ता.वृ.

जो तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य उत्कृष्ट भाव के होने पर अथवा विभाव दर्शन में परत्व की भावना होने पर स्वाभाविक गुण रूपी मणियों की खान और पूर्ण ज्ञान संपन्न एक शुद्ध आत्मा का भाजन करता है वह शुद्धदृष्टि पुरुष मुक्ति रूपी स्त्री का पति होता है।

पंचखओवसमियलद्धि-रहिदो हं॥35॥

अर्थ—मैं सर्व क्षायोपशमिक लब्धियों से रहित हूँ।

भावार्थ—दानान्तराय आदि के क्षयोपशम से होने वाली पाँच लब्धियाँ कही गई हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धि। स्व पर अनुग्रह के लिए अपने द्रव्य का उत्सर्ग या त्याग करना दान है।[1] किन्तु दानांतराय कर्म का क्षयोपशम कम होने से चाहने पर भी दान नहीं कर पाता एवं अच्छा क्षयोपशम हो तो इच्छानुसार दान कर पाता है। यह दानांतराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली दान लब्धि है।

इच्छित अर्थ की प्राप्ति का नाम लाभ है।[2] किन्तु लाभ की आकांक्षा होने पर भी कभी लाभ नहीं हो पाता और कभी हो भी जाता है। इसका कारण लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम है। लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली यह लाभ लब्धि है।

1. स्वपरानुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम्।
2. इच्छिदट्ठोवलद्धी लाहो णाम। —ध. 13

भोजनवस्त्रादि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय जो भोग करके पुनः भोगने में न आवें, वे भोग हैं।[3] भोगांतराय कर्म के कारण वस्तु प्राप्त होने पर कभी जीव वह भोग नहीं पाता और कभी भोग भी लेता है यह भोगांतराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली भोग लब्धि है।

जो वस्तुएँ एक बार भोग कर पुनः भोगने में आएँ वे उपभोग हैं। जैसे–वस्त्र, आभूषण आदि। उपभोगांतराय कर्म के कारण कभी जीव उन वस्तुओं का उपभोग कर पाता है और कभी नहीं, यह उपभोगांतराय के क्षयोपशम से होने वाली उपभोग लब्धि है।

वीर्य का अर्थ शक्ति है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से कभी शरीर की सामर्थ्य बहुत अधिक होती है और क्षयोपशम कम हो तो सामर्थ्य बहुत कम होती है। यह वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली वीर्यलब्धि है।

अहो तत्त्ववेत्ता! जब-जब यह जीव किसी धार्मिक अनुष्ठान में विघ्न डालता है अथवा स्वयं तो विधान-पूजन आदि में बैठ नहीं रहा और दूसरे को भी नहीं बैठने देता अथवा स्वयं दानादि पुण्य कार्य तो कर नहीं रहा और अन्य को भी नहीं करने देता अथवा स्वयं तो संयम के मार्ग पर नहीं बढ़ रहा और किसी अन्य को भी नहीं बढ़ने देता; ऐसा करने पर तीव्र अंतराय कर्म, पाप कर्म का बन्ध करता है और जब भविष्य में भोगता है तब विचार करता है कि पता नहीं मैंने कौन सा पाप किया था।

अहो तत्त्ववेत्ता! जागो... चेतो... सावधान हो जाओ। किसी के शुभ कार्यों में रुकावट नहीं बनना। कभी-कभी तो जीव "मैं मंदिर नहीं बनने दूँगा, संत भवन नहीं बनने दूँगा, चातुर्मास नहीं होने दूँगा, पंचकल्याणक या विधान नहीं होने दूँगा" इत्यादि वचन कहकर ऐसे खोटे कर्मों का बंध कर लेता है कि वे उसे संसार में ले डूबते हैं। प्रिय चेतना! सभी द्रव्यों की अपनी-अपनी स्वतंत्र परिणति है। सभी अपने-अपने पुण्य वा पाप कर्म का फल स्वयं भोगेंगे। तुम क्यों किसी के शुभ कार्यों में रुकावट बनकर अपने आपको स्वयं कष्ट में डाल रहे हो?

हे तत्त्ववेत्ता! ये दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप क्षयोपशम लब्धियाँ मेरा स्वभाव नहीं हैं, ये सब कर्मजन्य हैं और जब मैं शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध हूँ, कर्म रहित हूँ, तब ये क्षयोपशम लब्धियाँ मेरा स्वरूप कैसे हो सकती हैं? कदापि नहीं हो सकतीं। अतः मैं इन क्षयोपशम लब्धियों के कारणभूत कर्मों को नष्ट करने के लिए विषयों से विरक्त होते हुए, निज आत्मतत्त्व में लीन होने का पुरुषार्थ करता हूँ।

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः,
तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्फुरन्ते॥115॥ –नि.सा./ता.वृ.

3. भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगी भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः॥83॥ –र.क.श्रा.

जो विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं तपश्चरण में लीन हैं, शास्त्र समुदाय में आसक्त हैं, गुण रूप मणियों के समूह से युक्त हैं और सब प्रकार के संकल्पों से मुक्त हैं ऐसे भव्य जीव मुक्ति रूपी वधू के प्रिय होते हुए क्यों नहीं सुशोभित होंगे? अवश्य होंगे।

सादा - असादा - वेयणीयकम्मजणिदसुहदुह-रहिदो हं।।36।।

अर्थ–मैं साता वा असाता वेदनीय कर्म से उत्पन्न सुख व दु:ख से रहित हूँ।

भावार्थ–साता यह नाम सुख का है। उस सुख का जो वेदन कराता है अर्थात् भोग कराता है, वह सातावेदनीय कर्म है। असाता नाम दु:ख का है, उसे जो वेदन या अनुभवन कराता है उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं।[1] इनका कार्य सुख-दु:ख के कारणभूत द्रव्यों का संपादन करने वाला है। दु:ख के प्रतीकार करने में कारणभूत सामग्री का मिलने वाला कर्म सातावेदनीय है और दु:ख प्रशमन करने में कारणभूत द्रव्यों का अपसारक कर्म असातावेदनीय कहा जाता है।[2]

शंका–यदि सुख और दु:ख कर्मों से होते हैं तो कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जीव को सुख-दु:ख से रहित हो जाना चाहिए?

समाधान–दु:ख नाम की जो कोई भी वस्तु है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय से होती है, क्योंकि वह जीव का स्वरूप नहीं है। यदि जीव का स्वरूप माना जाए तो कर्मरहित जीवों के भी दु:ख मानना पड़ेगा जो कि सर्व प्रकार बाधित है। अत: दु:ख जीव का स्वभाव नहीं है।

सुख कर्म से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह जीव का स्वभाव है और इसलिए वह कर्म का फल नहीं है। सुख को जीव का स्वभाव मानने पर सातावेदनीय कर्म का अभाव भी प्राप्त नहीं हो पाएगा जो हो नहीं सकता। तब बताते हैं कि दु:ख उपशमन के कारणभूत सुद्रव्यों के सम्पादन में सातावेदनीय कर्म का व्यापार होता है। दु:ख के उपशम से उत्पन्न हुए, दु:ख के अविनाभावी उपचार से ही सुख संज्ञा प्राप्त है और इसलिए सातावेदनीय कर्म सुख-हेतुत्व है।[3]

अहो तत्त्ववेत्ता! सांसारिक दु:खों में कमी होने को अभी तक सुख मानते आए। संसार चक्र में दर्शाए गए उस व्यक्ति के समान ही तेरी दशा भी हो रही है जो पेड़ की डाली से लटका है, नीचे कुआँ है जिससे अजगर निकल रहे हैं। पेड़ की डाली को हाथी उखाड़ रहे हैं, सफेद व काले चूहे उस वृक्ष की जड़ नष्ट कर रहे हैं, सहस्रों मधुमक्खियाँ उस पर चिपटी हुई हैं, काट रही हैं किन्तु कभी-कभी उसके मुख में पेड़ पर बने छत्ते से शहद टपक रहा है और वह व्यक्ति इन सब दु:खों को भूलकर उस एक बूंद मिठास का आनंद ले रहा है। विद्याधर और विद्याधरी विमान में वहाँ से निकले तो उन्हें उस व्यक्ति पर दया आ गयी, उसे अपने साथ विमान में बैठा ले जाने के लिए

1. धवला जी 6, 2. धवला जी, 13
3. धवला जी, 6, पृ. 35

तैयार हैं, किन्तु वह व्यक्ति आना ही नहीं चाहता। जानते हो क्यों? क्योंकि उन असह्य दुःखों के बीच शहद की एक बूंद को वो सुख मान रहा है।

अहो तत्त्ववेत्ता! उस व्यक्ति पर तो दया आ रही है, उसकी मूर्खता पर हँसी आ रही है किन्तु तुम्हारी भी तो यही अवस्था है। सफेद व काला चूहा मानो शुक्ल व कृष्ण पक्ष, समय तीव्रता से बीत रहा है। काल रूपी हाथी तुम्हारी आयु रूपी शाखा को कभी भी नष्ट कर सकता है। सहस्रों मधुमक्खियों का काटना अर्थात् तुम संसार की सैकड़ों परेशानियों से घिरे हो, जो दिन-रात परेशान करती हैं किन्तु क्षणिक पंचेंद्रिय सुख के लिए संसार में ही फँसे रहते हो। यह सुख नहीं, तुम्हारे असह्य दुःखों में कणभर की कमी है, सुखाभास है।

सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तधा॥76॥–प्रवचनसार

जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सुख परद्रव्यापेक्ष बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है। इस प्रकार वह दुःख ही है।

हे तत्त्ववेत्ता! आत्मा स्वभाव रूप आत्मा से उत्पन्न सुख ही तेरा स्वभाव है, वही सुख है।

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णंचसुहं,सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥1/13॥–प्रवचनसार

शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का अर्थात् अरिहंत और सिद्धों का सुख अतिशय आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनंत व अविनाशी और अटूट है।

पंचसंजम-असंजम-संजमासंजम-रहिदो हं॥37॥

अर्थ–मैं पाँच संयम, असंयम व संयमासंयम भावों से रहित हूँ।

भावार्थ–समीचीन यम अर्थात् व्रत, समिति, गुप्ति आदि का पालन करना संयम है। यह संयम इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का है। इन्द्रियों का निरोध अथवा इंद्रिय विषयों से विरक्ति इन्द्रिय संयम है और प्राणियों की रक्षा करना प्राणी संयम है। यह संयम पाँच प्रकार का है–सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात।

सामायिक संयम–शुभाशुभ सर्व परिस्थितियों में समता का भाव रखना सामायिक संयम है।

''सत्तु-मित्त-मणि-पाहाण-सुवण्ण-मट्टियासु रागदेसाभावो समदा णाम।[1]

शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और स्वर्ण-मृतिका मे राग-द्वेष के अभाव को समता कहते हैं।

1. धवला जी, 8

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे॥125॥–नि.सा.

जो समस्त सावद्य-पाप कर्मों से विरत है, त्रिगुप्तियों से गुप्त है तथा इन्द्रियों को वश करने वाला है उसी के सामायिक होता है। ऐसा केवली भगवान् ने जिनशासन में कहा है।

छेदोपस्थापना संयम–मुनि के निर्विकल्प रूप शुद्ध परिणामों के गिरने पर व्रतादि में दोष लगता है। पुनः विशुद्धि पूर्वक मुनि स्वयं को निर्विकल्प दशा में स्थापित करते हैं यही छेदोपस्थापना है।

जब एक ही समय समस्त विकल्पों के त्याग रूप परमसामायिक में स्थित होने में यह जीव असमर्थ होता है, तब विकल्प भेद से पाँच व्रतों का छेदन होने से रागादि विकल्प रूप सावद्यों से अपने आप को छुड़ाकर निज शुद्धात्मा में उपस्थापन करना अथवा छेद यानि व्रत भंग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभव रूप निश्चय प्रायश्चित्त के बल से अथवा व्यवहार प्रायश्चित्त से जो निज आत्मा में स्थित होना है वह छेदोपस्थापना है।[2]

''प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्त्वप्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्प निवृत्तिर्वा।''

प्रमाद कृत अनर्थ प्रबन्ध का अर्थात् हिंसादि अव्रतों के अनुष्ठान का विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करने पर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुनः व्रतों का ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापना चारित्र है अथवा विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना चारित्र है।

परिहारविशुद्धि संयम–जिसने तीस वर्षों तक भोगों को भोगा हो पुनः दीक्षा ग्रहण कर वर्ष पृथक्त्व तक तीर्थंकर के पादमूल में प्रत्याख्यान नामक पूर्व को पढ़ा हो उसी के परिहार विशुद्धि संयम संभव है।

''परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः। तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन्तत्परिहार-विशुद्धिचारित्रम्॥'' –स.सि.

प्राणी वध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं इस युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

सूक्ष्मसाम्पराय संयम–जहाँ पर मात्र लोभ अतिसूक्ष्म रह जाता है वहाँ मुनियों के सूक्ष्मसांपराय संयम होता है।

''अतिसूक्ष्मकषायत्वात्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रम्।'' –स.सि.

जिस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है।

अणुलोहं वेयंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसंपराओ जहक्खाएणूणओ किंचि॥1/132॥–पं.सं.

1. द्र.सं./टी. 35

मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करते हुए सूक्ष्म लोभ का वेदन करना सूक्ष्मसांपराय संयम है और उसका धारक सूक्ष्मसाम्पराय संयत कहलाता है। यह संयम यथाख्यात संयम से कुछ ही कम होता है।

यथाख्यात संयम–सर्व कषायों के क्षय या उपशम से जो संयम होता है वह यथाख्यात संयम जानना चाहिए।

मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं। यथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते।... यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्।–स.सि.

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है वह यथाख्यात चारित्र कहा जाता है। जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं।

उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि।
छदुमत्थो व जिणो वा, जहखाओ संजमो साहू।।1/133।।–पं.सं.

अशुभ रूप मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जो वीतराग संयम होता है, उसे यथाख्यात संयम कहते हैं।

संयमासंयम–जहाँ जीव के कुछ संयम रूप परिणाम और कुछ असंयम रूप परिणाम होते हैं वह संयमासंयम जानना चाहिए। अथवा भावों से स्थावर वध और पाँचों इंद्रियों के विषय सम्बन्धी दोषों से विरत नहीं होने किन्तु त्रस वध से विरत होने को संयमासंयम कहते हैं।

जो ण विरदो दु भावो, थावरवहइंदियत्थदोसाओ।
तसवहविरओ सोच्चिय, संजमासंजमो दिट्ठो।।134।।–पं.सं.

असंयम–संयम वा व्रत के परिणामों से रहितपना असंयम है। अथवा हिंसादि पापों में प्रवृत्ति या उनसे विरक्त ना होना असंयम है।

जीवा चउदसभेया, इंदियविसया य अट्ठवीसं तु।
जे तेसु णेय विरया, असंजया ते मुणेयव्वा।।137।।–पं.सं.

जीव चौदह भेद रूप हैं और इंद्रियों के विषय अट्ठाईस हैं। जीवघात से और इंद्रिय विषयों से विरत नहीं होने को असंयम कहते हैं।

पहले से चतुर्थ गुणस्थान तक असंयम, पंचम गुणस्थान में संयमासंयम, षष्टम से चौदहवें गुणस्थान तक संयम होता है। छठे से नौवें गुणस्थान तक सामायिक व छेदोपस्थापना संयम होता है। परिहार विशुद्धि संयम छठे-सातवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसांपराय संयम 10वें गुणस्थान में एवं यथाख्यात संयम 11वें से 14वें गुणस्थान में होता है। ये सभी गुणस्थान संसारी जीवों के होते हैं।

मैं शुद्ध निश्चयनय से सदा पावन रूप हूँ, सहज पारिणामिक भाव रूप हूँ, अपने स्वभाव की सत्ता मात्र, परम चैतन्य का सामान्य स्वरूप, अकृत्रिम, परम, अपने स्वरूप में अविचल स्थिति से सहित शुद्ध, नित्य, निरंजन ज्ञान रूप और अखिल दुष्ट पाप रूप शत्रुओं की सेना की ध्वजा को विध्वंस करने में कारण स्वरूप हूँ।

हे तत्त्ववेत्ता! संयम, संयमासंयम व असंयम से रहित अवस्था प्राप्त करने के लिए मोह-राग-द्वेष का निर्मूल विनाश आवश्यक है। इन राग-द्वेषादि का नाश तभी संभव है जब आत्मतत्त्व के चिंतन में ही आत्मा लीन रहता है।

अहमात्मा सुखाकांक्षी, स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा, भावयामि मुहुर्मुहुः॥207॥–नि.सा./ता.वृ.

मैं आत्मा हूँ और आत्मसुख का इच्छुक हूँ अतः आत्मा के द्वारा आत्मा में ही स्थित होकर जन्म-मरण से रहित अपने आत्मा का बार-बार चिंतन करता हूँ।

दव्वभावलेस्सा-रहिदो हं॥38॥

अर्थ–मैं सभी द्रव्य व भाव लेश्या से रहित हूँ।

भावार्थ–कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है। अथवा जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं।

जह गेरुवेण कुड्डो, लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण।
तह परिणामो लिप्पइ, सुहासुहा य त्ति लेव्वेण॥143॥–पं.सं.

जिस प्रकार आम पिष्ट से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवार लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते हैं।

द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकार की कही गयी है। वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का वर्ण उसको द्रव्य लेश्या कहते हैं।[1] और मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जो जीव का स्पंद है वह भावलेश्या है।[2]

ये लेश्या छः प्रकार की होती हैं–कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल। कृष्ण, नील व कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ हैं तथा पीत, पद्म व शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ कही जाती हैं।

1. वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा॥494॥ –गो.जी.
2. मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो॥536॥ –गो.जी.

व्यक्ति के परिणाम, आचरण व क्रियाओं से उसकी लेश्या जानी जाती है। जो तीव्र क्रोध करने वाला हो, बैर को न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के वश को प्राप्त न हो, मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य से रहित हो, पंचेंद्रिय के विषयों में लम्पट हो, मानी मायावी, आलसी और भीरू हो, ये सब कृष्ण लेश्या वालों के लक्षण हैं।[3]

बहुत निद्रालु हो, पर वंचन में अति दक्ष हो और धन-धान्य के संग्रहादि में तीव्र लालसा वाला हो, ये सब संक्षेप में नील लेश्या वाले के लक्षण कहे गए हैं।[4] जो दूसरों के ऊपर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, दूषण बहुल हो, शोक-भय बहुल हो, दूसरों से ईर्ष्या करता हो, पर का पराभव करता हो, नाना प्रकार से अपनी प्रशंसा करता हो, पर का विश्वास न करता हो, अपने समान दूसरे को भी न मानता हो, स्तुति किए जाने पर अति संतुष्ट हो, अपनी हानि और वृद्धि को न जानता हो, रण में मरण का इच्छुक हो, स्तुति या प्रशंसा किए जाने पर बहुत धनादिक देवे और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को कुछ भी न गिनता हो, ये सब कापोत लेश्या के लक्षण हैं।[5]

जो अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, सेव्य और असेव्य को जानता हो, सबमें समदर्शी हो, दया और दान में रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो, ये सब तेजो लेश्या वाले के लक्षण हैं।[6] जो त्यागी हो, भद्र हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत भी अपराध या हानि होने पर क्षमा कर दे, साधुजनों के गुणों के पूजन में निरत हो, ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं।[7] जो पक्षपात न करता हो और न निदान करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो, जिसे पर में राग-द्वेष वा स्नेह न हो, ये सब शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।[8]

---

3. चंडो ण मुयदि वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
   दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेदं तु किण्हस्स॥144॥
   मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य।
   माणी मायी य तहा, आलस्सो चेय भेज्जो य॥145॥ —पं.सं.
4. णिद्दा वंचणबहुलो, धण-धण्णे होइ तिव्व-सण्णाओ य।
   लक्खणमेदं भणियं समासदो णील-लेस्सस्स॥146॥ —पं.सं.
5. रुसइ णिंदइ अण्णे, दूसणबहुलो य सोय-भय-बहुलो।
   असुवइ परिभवइ परं, पसंसइ य अप्पयं बहुसो॥147॥
   ण य पत्तियइ परं सो, अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।
   तूसइ अइ-थुव्वंतो, ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ॥148॥
   मरणं पत्थेइ रणे, देइ सु बहुयं वि थुव्वमाणो हु।
   ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स॥149॥ —पं.सं.
6. जाणइ कज्जाकज्जं, सेयासेयं च सव्वसमपासी।
   दय-दाणरदो य विदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स॥150॥ —पं.सं.
7. चाई भद्दो चोक्खो, उज्जुयकम्मो य खमइ बहुयं पि।
   साहुगुणपूयणिरओ, लक्खणमेयं तु पउमस्स॥151॥—पं.सं.
8. ण कुणेइं पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु।
   णत्थि य राओ दोसो, णेहो वि हु सुक्कलेसस्स॥152॥ —पं.सं.

मैं इन सब भावों से रहित हूँ। ये सब कषायादि भाव मेरे नहीं हैं। द्रव्य व भाव रूप लेश्याएँ मेरा स्वरूप नहीं हैं। मैं शुद्ध निश्चय नय से सिद्धों के समान सर्व लेश्याओं से रहित हूँ।

किण्हाइलेस रहिया, संसारविणिग्गया अणंतसुहा।
सिद्धिपुरीसंपत्ता, अलेस्सिया ते मुणेयव्वा॥1/153॥–पं.सं.

जो कृष्णादि छहों लेश्या से रहित हैं, पंच परिवर्तन रूप संसार से विनिर्गत हैं, अनंत सुखी हैं और आत्मोपलब्धि रूप सिद्धिपुरी को सम्प्राप्त हैं, ऐसे अयोगिकेवली और सिद्ध जीवों को अलेश्य जानना चाहिए।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम निज निरंजन स्वभाव सहित हो। समस्त परभावों को त्याग करके शरीर-मन-इंद्रिय और वचनों के अगोचर, सदा निरावरण होने से निर्मल स्वभाव, समस्त दुष्ट पाप रूपी वीर बैरी की सेना की पताका को हरण करने वाले ऐसे निज कारण परमात्मा का ध्यान कर ही निज स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

मैं समस्त अशुभ लेश्या रूप अशुभ परिणामों का त्याग करता हूँ। पुनः शुभ से विरक्त होता हुआ शुद्ध रूप होने का पुरुषार्थ करता हूँ।

भव्वाभव्वभाव-रहिदो हं॥39॥

अर्थ–मैं भव्य व अभव्य भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–जो संसारी जीव मुक्त होने की योग्यता से युक्त होता है वह भव्य कहलाता है और जो मुक्त होने की योग्यता से रहित है वह अभव्य कहलाता है।

संखेज्ज असंखेज्जा, अणंतकालेण चावि ते णियमा।
सिज्झंति भव्वजीवा, अभव्वजीवा ण सिज्झंति॥155॥
भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा, संसाराओ ण सिज्झंति॥156॥–पंच संग्रह

जो भव्य जीव हैं वे नियम से संख्यात, असंख्यात व अनंत काल के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं परन्तु अभव्य जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो जीव सिद्ध पद की प्राप्ति के योग्य हैं उन्हें भवसिद्ध कहते हैं और उनसे विपरीत जो जीव संसार से छूटकर सिद्ध नहीं होते वे अभव्य हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! सिद्ध उभय यानि भव्य व अभव्य भाव से रहित हैं। मैं भी भव्य-अभव्य भाव से शून्य हूँ। मैं देह मंदिर में स्थित नित परमशुद्ध सिद्ध सम परमात्मा की त्रिकाल वंदना करता हूँ।

सर्व कर्मों का क्षय कर निज स्वरूप को प्राप्त जीव के भव्य भाव भी नहीं रहता। उसी चैतन्य उपवन में विचरण करने हेतु मैं समस्त परभावों का त्याग करता हूँ। संसार के उन समस्त विकल्प जालों को तजता हूँ जिन्हें राग-द्वेष-मोह के वशीभूत होकर मैंने ही तैयार किया था।

मात्र आत्मा-आत्मा रटने से कुछ नहीं होगा। उस अनुरूप पुरुषार्थ भी आवश्यक है। आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव मुहुर्मुहु संबोधन दे रहे हैं, मार्ग निर्देशन दे रहे हैं।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्,
नित्ये श्री मुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे।
संस्थाप्यानन्दभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या,
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीशः॥227॥–नि.सा./ता.वृ.

यह आत्मा अविनाशी, श्री मुक्तिलक्ष्मी के कारण, अनुपम, सहज ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र ही जिसका स्वरूप है ऐसे निश्चल महाशुद्ध रत्नत्रय रूप इस आत्मा में अपने आत्मा को स्थापित करता है वह चैतन्य चमत्कार की भक्ति के द्वारा आनंद से सुशोभित और विपत्ति से रहित उस उत्कृष्ट निरतिशय गृह को प्राप्त होता है, जिसे कि सिद्धिवधू के वल्लभ श्री सिद्ध परमेष्ठी प्राप्त कर चुके हैं।

उवसम-खओवसम-सम्मत्त-रहिदो हं॥40॥

अर्थ–मैं उपशम व क्षयोपशम सम्यक्त्व से रहित हूँ।

भावार्थ–अनादि मिथ्यादृष्टि पाँच प्रकृति (4 अनंतानुबंधी कषाय व मिथ्यात्व) का उपशम (दबाना) करता है और सादि मिथ्यादृष्टि सात प्रकृति (4 अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति) का उपशम करता है, इनके उपशम से जो सम्यग्दर्शन होता है वह उपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है।

दंसणमोहुवसमदो, उप्पज्जइ जं पयत्थ-सद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं, पसण्णमलपंकतोयसमं॥–धवला जी 1

दर्शनमोहनीय के बैठ जाने से निर्मल जल के समान, पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशम सम्यग्दर्शन है।

यह उपशम सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है–प्रथम व द्वितीय। मिथ्यात्व गुणस्थान से छूटकर होने वाला उपशम सम्यक्त्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। यह चारों गतियों के जीवों को हो सकता है। और वह जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है।

जिस उपशम सम्यक्त्व से जीव उपशम श्रेणी चढ़ लेता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व जानना चाहिए। यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पर्याप्त मनुष्य व निर्वृत्त्यपर्याप्त वैमानिक देवों में ही होता है।

उपशम सम्यक्त्व का काल अल्प (अंतर्मुहूर्त) होता है। चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सद्वस्था रूप उपशम से, देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[1]

दंसणमोहुदयादो, उप्पज्जई जं पयत्थ सद्दहणं।
चलमलिनमगाढं तं, वेदगसम्मत्तमिह मुणहु॥–धवला जी 1

सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसका काल अधिक होता है। यह एक जीव के निरन्तर 66 सागर तक हो सकता है। यह क्षयोपशम सम्यक्त्व चारों गतियों के जीवों को हो सकता है तथा यह पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में होता है।

हे तत्त्ववेत्ता! कर्म के उपशम वा क्षयोपशम रूप सम्यग्दर्शन तेरा स्वरूप नहीं है। कर्म मल ने तेरी आत्मा को मलिन किया हुआ है इस कर्म कालिमा को नष्ट कर निजात्मा को शुद्ध कर निज शक्ति का प्रकटीकरण करो। भेद विज्ञान का साबुन, शुभ ध्यान का ब्रश व समता रस रूपी निर्मल नीर लेकर अपनी आत्मा से कर्म रूपी मैल को दूर करने में तत्पर होओ।

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे,
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहः कलंकः,
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः॥110॥–नि.सा./ता.वृ.

जिन मुनिनाथ के उत्कृष्ट भेदविज्ञान हो जाता है वह स्वयं उपयोग से–मोह से मुक्त होकर सुशोभित होने लगते हैं। उस समय शान्ति रूपी समुद्र के प्रवाह से उनके पाप कलंक धुल जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार समयसार का ही वह कोई अनुपम भेद है, प्रभाव है अथवा रहस्य है।

सण्णित्त-असण्णित्त-रहिदो हं॥41॥

अर्थ–मैं संज्ञी व असंज्ञी भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं और मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते हैं।

सिक्खाकिरिओवएसा, आलावगाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीओ असण्णी य॥1/173– पं.सं.

1. स.सि.

जो जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं, जो इससे विपरीत है उसको असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञी व असंज्ञी जीवों के मध्य मन भेद करता है अर्थात् मन वाले संज्ञी व इसके विपरीत असंज्ञी जीवों की श्रेणी में आते हैं। नाना प्रकार के विकल्प जाल को मन कहते हैं। संकल्प व विकल्प करना आदि मन के काम हैं। किन्तु मैं बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख, ज्ञायक स्वरूपी हूँ। यह मन भी कर्माधारित है। कर्म से रहित रूप स्वभाव होने से मन का होना वा संज्ञी भाव मेरा स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार देहधारियों के मन का नहीं होना भी, असंज्ञीपना भी कर्माधारित है अतः वह भी मेरा स्वभाव नहीं है।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम इन दोनों संज्ञीत्व व असंज्ञीत्व से परे उत्कृष्ट, परम तत्त्व रूप हो, जो कर्मों के सघन वृक्षों से पूरित वन को जीतने, दहन करने में समर्थ है, अनंत सुखों का मंदिर है, अपरिमित गुणों का आलय है। तुम बाह्य नेत्र बंद कर अंतरंग नेत्रों का उद्घाटन कर उस निज परम शुद्ध तत्त्व को पहचानो जिसे तुमने तुम्हारे गुरु से कई बार सुना है। जिसका उपदेश बार-बार तुम्हारे गुरु ने दिया है और जिसकी भावना तुम्हारे परम ज्ञानी गुरु करते हैं।

हे गुरुवर! आपकी कृपा से व उपदेश से आज मैं भी समस्त संकल्प-विकल्पों को छोड़ निज शुद्ध आत्मतत्त्व को पहचानने में पुरुषार्थरत् होता हूँ।

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं,
बुद्धो (बुद्ध्वा) भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं,
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम्॥157॥–नि.सा./ता.वृ.

भव्य प्राणी श्री परम गुरु की कृपा से आत्मसुख रूपी अमृत के समुद्र में निमग्न रहने वाले इस शुद्ध आत्मा को समझ कर अविनाशी-मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है इसलिए मैं भी उस सर्वोत्कृष्ट अभूतपूर्व शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करता हूँ जो कि भेद का अभाव हो जाने पर प्रकट होता है, सहज है और मोक्ष में उत्पन्न होने वाले सुख से शुद्ध है।

आहारगवत्था-रहिदो हं॥42॥

अर्थ–मैं आहारक अवस्था से रहित हूँ।

भावार्थ–जीव के द्वारा पौद्गलिक वर्गणाओं का ग्रहण करना आहार कहलाता है और वह जीव आहारक कहलाता है। अथवा तीन और छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने को आहार कहते हैं।[1]

1. त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः। –स.सि.

आहारइ सरीराणं, तिण्हं एक्कदरवग्गणाओ य।
भासा मणस्स णियमं, तम्हा आहारओ भणिओ।।176।। –पं.सं.

जो जीव औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरों में से उदय को प्राप्त हुए किसी एक शरीर के योग्य शरीर वर्गणा को तथा भाषा वर्गणा और मनोवर्गणा को नियम से ग्रहण करता है, वह आहारक कहा गया है। इसके विपरीत अनाहारक है।

विग्रहगत जीव, प्रतर व लोकपूरण प्राप्त सयोग केवली, अयोग केवली तथा सिद्ध भगवान् के अतिरिक्त सभी जीव आहारक होते हैं।

संसारी जीव अधिक से अधिक तीन समय तक अनाहारक हो सकता है, उससे अधिक नहीं। जब तक कर्मों से युक्त है तब तक उसे आहारक होना ही पड़ता है किन्तु यह आहारक अवस्था मेरा स्वभाव नहीं है।

हे तत्त्ववेत्ता! जब तुम आहारक अवस्था स्वरूप या स्वभाव युक्त नहीं हो तब ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही क्यों? समस्त बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षित होकर उनको ग्रहण करने का भाव आता है, जिससे राग-द्वेष का भाव उत्पन्न होता है, संसार का वर्द्धन होता है और जीव असह्य दु:खों को सहन करता हुआ निज स्वभाव से अपरिचित रहता है। अत: बाह्य पदार्थों के प्रति ग्रहण के भाव को छोड़, निरासक्त बनो। शुद्ध निश्चय नय से जीव आहारक अवस्था से रहित है।

अत्ता जस्सामुत्तो, ण हु सो आहारओ हवइ एवं।
आहारो खलु मुत्तो, जम्हा सो पोग्गलमओ दु।।405।।–समयसार

जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह नियम से आहारक नहीं है। क्योंकि आहार मूर्तिक है अत: वह पुद्गलमय है।

जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव और अजीव परद्रव्य का न कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ भी छोड़ता ही है। हे तत्त्ववेत्ता! जब आत्मा कुछ ग्रहण नहीं करता तब ग्रहण करने में आसक्त क्यों होते हो और जब वह छोड़ता नहीं है तो कुछ त्याग कर, दान कर घमंड क्यों करते हो? जो कुछ भी तुम्हारे पास पर द्रव्य है, वह द्रव्य जो तुमने ग्रहण किया है उससे मूर्च्छा को दूर करके, जो तुम्हारा यथार्थ वैभव है उसकी ओर निहारो। स्वयं के पास रत्नों का ढेर लगा है और उससे अपरिचित बने हुए बाहर से कूड़ा-कचरा इकट्ठा कर रहे हो। तीनों लोकों का स्वामी होते हुए यह कृत्य तुम्हें शोभा नहीं देता। प्रिय आत्मन्! आहारक अवस्था से रहित, अखंड-अविच्छिन्न ज्ञान रूप, निकल, निर्द्वन्द, परम समरसी भाव युक्त निजात्मा का चिंतन करो जिससे अनंतकाल के लिए अनाहारक अवस्था या मुक्ति को प्राप्त कर सको। आचार्य श्री अमृतचंद्र स्वामी भी तो यही समझा रहे हैं–

सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्।।35।।—अमृतकलश

चैतन्य शक्ति से अन्य समस्त बाह्य पदार्थों को शीघ्र ही छोड़कर तथा अतिशय प्रकट चैतन्य शक्ति रूप अपने आपका अवगाहन कर, यह परमात्मा अपने आत्मा में उस शुद्ध आत्मा का साक्षात् अनुभव करे जो कि समस्त संसार में सर्वोपरि है और स्वयं अनन्त है।

गुणट्ठाण-रहिदो हं।।43।।

अर्थ—मैं गुणस्थान से रहित हूँ।

भावार्थ—मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्म परिणाम गुणस्थान कहलाते हैं।

जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।।8।। —गो.जी.

दर्शन मोहनीयादि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किए जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस संज्ञा से निर्देश किया है।

ये गुणस्थान 14 होते हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली व अयोगकेवली।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाला तत्त्वार्थ का अश्रद्धान मिथ्यात्व है।[1]

मिच्छोदयेण जीवो, कुदेव-कुधम्म-कुगुरु-कुसत्थाइं।
सद्दहदे सो हिंडदि, चिरं भवम्मि मिच्छाइट्ठी।।60।।—अप्पविहवो

जो जीव मिथ्यात्व के उदय से कुदेव, कुधर्म, कुगुरु और कुशास्त्रों पर श्रद्धान करता है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है और चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।

1. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसइदमण्णाणं।।15।। —गो.जी.

2. सासादन गुणस्थान–प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में एक समय से लेकर 6 आवली तक काल शेष रहने पर अन्यतर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाने से सम्यक्त्व का नाश हो जाता है, वह सासादन नामक गुणस्थान जानना चाहिए।[2]

पइडि- एगुदयेण अवि, सासणणंताणुबंधि-कसायस्स।
उक्कुसेणं छावली, पडणे सम्मत्त-सेलादो॥62॥–अ.वि.

सम्यक्त्व के शैल से गिरने पर अनंतानुबंधी कषाय के एक प्रकृति के उदय से भी सासादन गुणस्थान होता है जो उत्कृष्ट से छः आवली समय का है।

3. मिश्र गुणस्थान–जिस प्रकार दही-गुड़ का परस्पर मिश्रण होने से जात्यन्तर पृथक् भाव (स्वाद) उत्पन्न हो जाता है जिसे पृथक् करना शक्य नहीं है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र भाव जानना चाहिए।[3]

मिस्स-पइडि-उदयेणं, जत्तंतर सव्वघादिकज्जेणं।
सम्म-मिच्छ-परिणामो, होदि अंब-मिट्ठं व मिस्सो॥64॥–अ.वि.

जात्यंतर सर्वघाति के कार्यरूप मिश्र प्रकृति के उदय से अम्ल मिष्ठ के समान सम्यक् मिथ्यात्व रूप मिश्र परिणाम होते हैं, वह निश्चय से मिश्र गुणस्थान होता है।

4. अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान–जो इन्द्रियों से विरक्त नहीं है, त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्त नहीं है किन्तु जिसकी जिनेन्द्र के उपदेश पर श्रद्धा है वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है।[4]

अविरद-सद्दिट्ठीणं, अप्पच्चक्खाण-कसायुदयादो।
तम्हा णहि सिव-मग्गी, जम्हा किंचिवि ण होदि वदं॥70॥–अ.वि.

अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से अविरत सम्यग्दृष्टियों के क्योंकि किंचिद् भी व्रत नहीं होता इसलिए वे शिवमार्गी नहीं हैं।

5. देशविरत गुणस्थान–प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सकल संयम नहीं होता किन्तु स्तोक (अणुव्रत) होते हैं अर्थात् पंचम देशविरत गुणस्थान होता है।[5]

---

2. आदिम सम्मत्तद्धा, समयादो छावलित्ति वा सेसे।
   अण अण्ण दरुदयादो, णासिय सम्मोत्ति सासणक्खो सो॥19॥ –गो.जी.
3. दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
   एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो॥22॥ –गो.जी.
4. णो इंदिएसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
   जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो॥29॥ –गो.जी.
5. पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
   थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ॥30॥ –गो.जी.

पच्चक्खाणुदयादो, सयल-संजमो ण होदि जीवाणं।
देसवदी ते लहंति, सग्गाइ-सुगदिं पुण मोक्खं॥72॥–अ.वि.

प्रत्याख्यान कषाय के उदय से जीवों के सकल संयम नहीं होता। देश व्रत धारण करने वाले वे देशव्रती स्वर्गादि सुगति पुन: मोक्ष प्राप्त करते हैं।

6. प्रमत्तविरत गुणस्थान–जो सकल गुण शील से युक्त हैं अतएव महाव्रती हैं। व्यक्त/अव्यक्त प्रमाद में वास करते हैं अतएव चित्रल आचरणी हैं। अत: प्रमत्तसंयत होता है।[6]

पच्चक्खाण-विहीणे, संजलण-णोकसायाणुदयादो।
उप्पण्ण-संजम-सहिद-पमादोअविपमत्त-विरदो॥73॥–अप्पविहवो

प्रत्याख्यान से विहीन होने पर संज्वलन व नोकषाय के उदय से उत्पन्न संयम के साथ प्रमाद भी होता है अत: वह प्रमत्तविरत है।

7. अप्रमत्त विरत गुणस्थान–जहाँ संज्वलन और नो कषाय का उदय मंद होने से प्रमाद नहीं रहा इसलिए उसे अप्रमत्त विरत कहते हैं।[7]

जदा तदा मंदुदयो, होदि संजलण-णो कसायाण खलु।
अपमत्त-गुणट्ठाणं, णिरदिसय-सादिसय-दुविहं च॥76॥–अ.वि.

संज्वलन, नोकषाय का मंद उदय होता है तब निश्चय से अप्रमत्त गुणस्थान होता है और यह निरतिशय व सातिशय दो प्रकार का है।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान–इस गुणस्थान में अगले-अगले समय में अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं। ये उपशम व क्षपक दोनों तरह के होते हैं। इस परिणाम का अपूर्वकरण नाम इसलिए भी है कि इसके काल में समानसमयवर्ती मुनियों के परिणाम सदृश भी हो जाएँ किन्तु विविक्षित समय से भिन्न (पूर्व या उत्तर) समयवर्ती मुनियों के परिणाम विसदृश ही होंगे।[8]

भिण्ण-समयवत्तीणं, णाणाविहा खलु होंति परिणामा।
एग-समयवत्तीणं, सद्दस-विसद्दस-परिणामा॥79॥–अ.वि.

---

6. वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
   सयलगुणसील-कलिओ, महव्वई चित्तलायरणो॥33॥ –गो.जी.
7. संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
   अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि॥45॥ –गो.जी.
8. एदह्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
   पुव्वमपत्ता जह्मा, होंति अपुव्वा हु परिणामा॥51॥
   भिण्णसमयट्ठियेहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
   करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा॥52॥ –गो.जी.

अपूर्वकरण गुणस्थान में भिन्न समयवर्तियों के निश्चय से नाना प्रकार के परिणाम होते हैं तथा एक समयवर्तियों के परिणाम सदृश वा विसदृश भी होते हैं।

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान–इस गुणस्थान में चढ़ते हुए अधिक विशुद्ध परिणाम होते हैं, ये उपशमक व क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं। इस परिणाम का अनिवृत्तिकरण नाम इसलिए है कि इसके काल में विविक्षित समय में जितने मुनि होंगे सबका समान ही परिणाम होगा। यहाँ भी भिन्न समय वालों के परिणाम विसदृश ही होंगे। इस गुणस्थान में चारित्रमोहनीय की 20 प्रकृतियों का (अप्रत्याख्यानावरण 4, प्रत्याख्यानावरण 4, संज्वलन 3, हास्यादि 9) उपशम या क्षय हो जाता है।

एग-समयवत्ती खलु, जह संठाणादीहि णियट्टंते।
तह परिणामेहिं ते, णो णियट्टंते अणिविट्टी॥80॥
सद्दस-परिणामा सय, होंति एग-समयवत्ति-जोगीणं।
भिण्ण-समयवत्तीणं, णियमेणं भिण्ण-परिणामा॥81॥ –अ.वि.

एक समयवर्ती जीव जिस प्रकार संस्थान आदि की अपेक्षा निवृत्ति (भेद) को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे जीव परिणामों की अपेक्षा निवृत्ति को प्राप्त नहीं होते अत: निश्चय से वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में एक समयवर्ती योगियों के सदा सदृश परिणाम होते हैं व भिन्न समयवर्ती जीवों के नियम से भिन्न परिणाम होते हैं।

10. सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान–नवमें गुणस्थान में होने वाले उपशम या क्षय के बाद जब केवल संज्वलन सूक्ष्मलोभ रह जाता है, ऐसा जीव सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। इस गुणस्थान में सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है, जिसके द्वारा इस गुणस्थान वाला जीव सूक्ष्म लोभ का भी उपशम या क्षय कर देता है।

सत्तावीस-पयडीण, मोहणीयस्स उवसम-खयादु वा।
सुहुम-संपरायं खलु, विज्जमाणे सुहुम-लोहम्मि॥83॥ –अ.वि.

मोहनीय कर्म की सत्ताईस प्रकृतियों के उपशम वा क्षय से सूक्ष्म लोभ के विद्यमान होने पर निश्चय से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान होता है।

11. उपशांत मोह–समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो चुकते ही जीव उपशांत मोह गुणस्थानवर्ती हो जाता है। इस गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र हो जाता है, किन्तु उपशम का काल समाप्त होते ही दसवें गुणस्थान में गिरना पड़ता है या मरण हो तो चौथे गुणस्थान में एकदम आना पड़ता है।

सुणिम्मलं होदि जहा, णीरं सया कदग-फल-संजुत्तं।
उवसंत-कसायो तह, मोहुवसमादो उवसंतो॥84॥–अ.वि.

जिस प्रकार फिटकरी से संयुक्त नीर सदा सुनिर्मल होता है उसी प्रकार मोह के उपशम से कषाय उपशांत होती है वह उपशांत मोह गुणस्थान कहलाता है।

12. क्षीणमोह गुणस्थान–क्षपक श्रेणि से चढ़ने वाले मुनि ही समस्त मोहनीय के क्षय होते ही क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती हो जाते हैं। इस गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र हो जाता है तथा इसके अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का भी क्षय हो जाता है।

णिस्सेस-मोह-णासे, होदि सुह-खीण-मोह-गुणट्ठाणं।
सुद्धुवजोग-संजुदो, तत्थ ठिद-णिग्गंथो णेयो।।85।।–अ.वि.

निःशेष मोहनीय कर्म का नाश होने पर शुभ क्षीण मोह गुणस्थान होता है। शुद्धोपयोग से संयुक्त वहाँ स्थित निर्ग्रन्थ जानने चाहिए।

13. सयोग केवली गुणस्थान–चारों घातिया कर्म के नष्ट होते ही यह आत्मा सकल परमात्मा हो जाता है। इन केवली भगवान् के जब तक योग रहता है तब तक उन्हें सयोगकेवली कहते हैं।

णाण-दंसणावरणंतराय-मोह-घादि-कम्म-विहीणो।
अणंत-चदुक्क-सहिदो, सजोग-केवली सया होदि।।86।।–अ.वि.

सयोग केवली सदा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय व मोहनीय इन घातिया कर्मों से विहीन अनंत चतुष्टय से सहित होते हैं।

14. अयोग केवली गुणस्थान–योग के नष्ट होते ही ये परमात्मा अयोग केवली हो जाते हैं। शरीर के क्षेत्र में रहते हुए भी इनके प्रदेशों का शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। इनका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के बोलने के बराबर रहता है। इस गुणस्थान में उपान्त्य और अन्त्य समय में शेष बची हुई 72 और 13 प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इसके बाद ही ये प्रभु गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

चुलसीदि-लक्ख-उत्तर-गुणट्ठदस-सहस्स-सील-सहिदो य।
केवली जोग-हीणो, अजोग-केवली णादव्वो।।87।।–अ.वि.

84 लाख उत्तर गुण व 18 हजार शील से सहित, योग से हीन केवली अयोगकेवली जानने चाहिए।

अहो तत्त्ववेत्ता! ये गुणस्थान भी तेरा स्वरूप नहीं है। शुद्ध निश्चय नय से मैं गुणस्थानातीत हूँ। मोह और योग के निमित्त से होने वाले गुणस्थान तो मेरे हो भी नहीं सकते क्योंकि ये पुद्‌गल हैं।

मोहणकम्मस्सुदया, दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा, जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।73।।–समयसार

मोहनीय कर्म के उदय से हुए जो ये गुणस्थान चौदह भेद रूप कहे गए हैं वे जीव के कैसे हो सकते हैं? क्योंकि वे नित्य ही अचेतन कहे गए हैं।

सत्ता ज्ञान और परम चैतन्य रूप सुख के अनुभव में लीन ऐसे विशिष्ट आत्म तत्त्व को ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से मैं समस्त मोहादि से रहित हूँ, अतः गुणस्थानों से भी रहित हूँ। अहो! अभी तक मैं अपने स्वरूप को जान ही नहीं पाया, अब निज स्वरूप को जानकर, निज शुद्धात्मा का आश्रय करता हुआ उन्हीं अनंत पुष्पों रूप अनंत गुणों से युक्त चैतन्य वाटिका में विचरण करता हूँ।

जीवसमास-रहिदो हं।।44।।

अर्थ–मैं जीवसमास से रहित हूँ।

भावार्थ–जिन सदृश धर्मों द्वारा अनेक जीवों का संग्रह किया जा सके उन सदृश धर्मों का नाम जीवसमास है।

जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया।।32।।–पं.सं.

जिन धर्म विशेषों के द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकार की जातियाँ जानी जाती हैं, पदार्थों का संग्रह करने वाले उन धर्म विशेषों को जीवसमास जानना चाहिए।

एकेंद्रिय बादर पर्याप्त-अपर्याप्त, एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय-पर्याप्त-अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त। इस प्रकार 14 जीवसमास होते हैं। यह 21, 24, 30, 32, 34, 36, 38, 48, 54, 57, 98 वा 406 भेद वाले भी होते हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सात प्रकार के जीवों की अपेक्षा सात पर्याप्त जीवसमास, सात निर्वृत्यपर्याप्त जीवसमास, सात लब्ध्यपर्याप्त जीवसमास ये सब मिलकर इक्कीस जीवसमास होते हैं।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, सकलेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा आठ पर्याप्त जीवसमास, आठ निर्वृत्यपर्याप्त जीवसमास और आठ लब्ध्यपर्याप्तक जीवसमास होते हैं। इस प्रकार चौबीस जीवसमास होते हैं।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, सप्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पतिकायिक, अप्रतिष्ठित-प्रत्येक वनस्पतिकायिक, नित्यनिगोद, चतुर्गतिनिगोद, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय इन

दस प्रकार के जीवों की अपेक्षा दस पर्याप्त जीवसमास, दस निर्वृत्यपर्याप्त जीवसमास और दस लब्ध्यपर्याप्त जीवसमास होते हैं। इस प्रकार तीस जीवसमास होते हैं।

उपरोक्त 30 भेदों में वनस्पति के दो की बजाय तीन विकल्प कर देने से कुल 16, उनके पर्याप्त व अपर्याप्त के भेद से बत्तीस जीवसमास होते हैं।

पृथ्वीकायिक बादर-सूक्ष्म पर्याप्त - अपर्याप्त, जलकायिक बादर, सूक्ष्म पर्याप्त-अपर्याप्त, अग्निकायिक बादर - सूक्ष्म पर्याप्त - अपर्याप्त, वायुकायिक बादर - सूक्ष्म पर्याप्त - अपर्याप्त, साधारण वनस्पतिकायिक बादर – सूक्ष्म पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येकवनस्पतिकायिक बादर – सूक्ष्म पर्याप्त-अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त, पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त इस प्रकार 34 जीवसमास होते हैं।

उपरोक्त तीस भेदों में वनस्पति के दो विकल्पों की बजाय ये पाँच (प्रत्येक वनस्पति, साधारण नित्यनिगोद बादर, साधारण नित्य निगोद सूक्ष्म, साधारण इतरनिगोद बादर, साधारण इतरनिगोद सूक्ष्म) विकल्प लगाने से कुल विकल्प 18 इनके पर्याप्त-अपर्याप्त = 36 जीवसमास होते हैं।

उपरोक्त तीस भेदों में वनस्पति के दो विकल्पों की बजाय ये छह विकल्प (प्रत्येकवनस्पति प्रतिष्ठित, प्रत्येकवनस्पति अप्रतिष्ठित, साधारण नित्यनिगोद बादर, साधारण नित्यनिगोद सूक्ष्म, साधारण इतरनिगोद बादर, साधारण इतरनिगोद सूक्ष्म) लगाने से कुल विकल्प = 19 इसके पर्याप्त व अपर्याप्त = 38 जीवसमास होते हैं।

बत्तीस भेदों वाले 16 विकल्पों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त = 48 जीवसमास होते हैं।

छत्तीस भेदों वाले 18 विकल्पों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त = 54 जीवसमास होते हैं।

38 भेदों वाले 19 विकल्पों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त = 57 जीवसमास होते हैं।

तिर्यञ्चों के 85, मनुष्यों के 9 व देव-नारकियों के 4 इस प्रकार 98 जीव समास होते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है।

तिर्यंचों के दो भेद स्थावर व त्रस। स्थावरों में-पृथ्वीकायिक बादर-सूक्ष्म, जलकायिक बादर-सूक्ष्म, अग्निकायिक बादर-सूक्ष्म, वायुकायिक बादर-सूक्ष्म, साधारणवनस्पति नित्यनिगोद बादर सूक्ष्म, साधारणवनस्पति इतर निगोद बादर-सूक्ष्म, प्रत्येक वनस्पति प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित। त्रसों में-विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सकलेन्द्रियों में कर्मभूमिज व भोगभूमिज के भेद से–कर्मभूमिज संज्ञी गर्भज-जलचर-थलचर-नभचर, कर्मभूमिज संज्ञी संमूर्च्छन जलचर, थलचर, नभचर, कर्मभूमिज असंज्ञी गर्भज- जलचर, थलचर, नभचर, कर्मभूमिज असंज्ञी संमूर्च्छन-जलचर, थलचर, नभचर व भोगभूमिज संज्ञी गर्भज थलचर व नभचर। उपरोक्त सर्व विकल्पों में स्थावर व विकलेन्द्रिय संबंधी 17 विकल्प

केवल संमूर्च्छन जन्म वाले हैं। वे 17 तथा सकलेन्द्रिय वाले 9 मिलाकर 23 विकल्प संमूर्च्छन के हैं। इनके पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त = 69 व गर्भज के उपरोक्त 8 विकल्पों के पर्याप्त व अपर्याप्त = 16 तो 69 + 16 = 85 जीवसमास तिर्यंचों के हैं।

पुनः तिर्यंचों में उपरोक्त + मनुष्यों में आर्यखण्ड के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त ये 3 + म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि व कुभोगभूमि के पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त ये 3 × 2 = 6 व देव नारकियों में पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त ये चार इस प्रकार 85 + 9 + 4 = 98 जीवसमास होते हैं।

शुद्धपृथ्वी, खरपृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारणवनस्पति के नित्य व इतरनिगोद इन सातों के बादर व सूक्ष्म = 14, प्रत्येक वनस्पति में तृण, बेल, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष और कन्दमूल ये 5, इनके प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित भेद से 10; ऐसे एकेन्द्रिय के विकल्प = 24। विकलेन्द्रियों के द्वी, त्री व चतुरिन्द्रिय ऐसे विकल्प = 3 इन 27 विकल्पों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त रूप तीन-तीन भेद करने से कुल 81।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच के कर्मभूमिज संज्ञी-असंज्ञी, जलचर, थलचर, नभचर के भेद से छः, इन, छः के गर्भज पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त 12 तथा इन्हीं छः के संमूर्च्छन पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त 18, उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्यभोगभूमि में संज्ञी गर्भज थलचर व नभचर ये छः इनके पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त ऐसे 12 इस प्रकार कुल = 42।

मनुष्यों में सम्मूर्च्छन मनुष्य का आर्यखण्ड केवल एक विकल्प तथा गर्भज के आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड, उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य भोगभूमि तथा कुभोगभूमि इन छः स्थानों में गर्भज के पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त ये 12 कुल विकल्प = 13।

देवों में 10 प्रकार भवनवासी, 8 प्रकार व्यंतर, 5 प्रकार ज्योतिषी और 63 पटलों के 63 प्रकार वैमानिक ऐसे 86 प्रकार के देवों के पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त = 172, नारकियों में 49 पटलों के पर्याप्त व निर्वृत्यपर्याप्त सब– 81 + 42 + 13 + 172 + 98 = 406 जीवसमास होते हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! ये सर्व जीवसमास पौद्गलिक कर्मों से युक्त संसारी जीव के होते हैं। शुद्ध निश्चयनय से मैं परम स्वभाव वाला जीव द्रव्य हूँ अतः चौदह भेद सहित जीवसमास मुझमें नहीं हैं।

णाहं मग्गणठाणो, णाहं गुणठाण-जीवठाणो वा।
कत्ता ण हि करइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।78।।–नि.सा.

मैं न मार्गणा स्थान हूँ, न गुणस्थान हूँ, न जीवसमास हूँ, न इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले का अनुमोदक हूँ।

मेरी यह सलौनी आत्मा नाना प्रकार के विकल्पों से रहित है। मैं सहज निश्चयनय से सदा सहज शुद्ध ज्ञान रूप हूँ, सहज चैतन्यशक्तिमय हूँ, सहजदर्शन के विकास से परिपूर्ण हूँ, स्वरूप में अविचल

हूँ। अत: समस्त सांसारिक क्लेशों के कारण स्वरूप कषायादि मेरे नहीं हैं। अहो! मैं अज्ञानी अब तक क्रोध आदि कषायों के द्वारा अपनी आत्मा को कष्ट देता रहा। बस! अब मैं संसार के कारण ाभूत राग-द्वेष वा मोह को नष्ट करने का उपाय करूँगा।

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटंतौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥218॥–अमृतकलश

इस संसार में ज्ञान ही अज्ञान भाव से राग-द्वेष परिणत होता है, वस्तु में स्थापित दृष्टि से-द्रव्य दृष्टि से देखने पर तो वे राग- द्वेष कुछ भी नहीं हैं इसलिए आचार्य महाराज कहते हैं कि आप सम्यग्दृष्टि पुरुष, तत्त्वदृष्टि से पुन: राग-द्वेष को स्पष्ट रीति से ऐसा क्षय करो कि जिससे पूर्ण और अचल किरणों वाली ऐसी सहज ज्ञानज्योति जाज्वल्यमान हो जावे।

मग्गणाठाण-रहिदो हं॥45॥

अर्थ–मैं मार्गणा स्थान से रहित हूँ।

भावार्थ–सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारों से युक्त चौदह जीव समास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं।[1]

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होंति॥141॥–गो.जी.

जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों से खोजे जाते हैं, अनुमार्गण किए जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसी मार्गणायें श्रुतज्ञान में 14 कही गई हैं। जिनके नाम हैं– 1. गति, 2. इन्द्रिय, 3. काय, 4. योग, 5. वेद, 6. कषाय, 7. ज्ञान, 8. संयम, 9. दर्शन, 10. लेश्या, 11. भव्यत्व, 12. सम्यक्त्व, 13. संज्ञी, 14. आहारक।

1 गतिमार्गणा–गति नाम कर्म के उदय से उस गतिविषयक भाव के कारणभूत जीव की अवस्था विशेष को गति कहते हैं।

गइउदयजपज्जाया, चउगइ गमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुस, देवगई त्ति य हवे चदुधा॥146॥–गो.जी.

1. चतुर्दश जीवसमासा: सदादिविशिष्टा: मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम्॥–ध. 1

गति कर्मोदय जनित पर्याय 'गति' है। अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। यह नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव इस प्रकार चार प्रकार की हैं।

2. इन्द्रिय मार्गणा–इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होने वाले संसारी आत्मा के बाह्य चिह्न विशेष को इंद्रिय कहते हैं।

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहंति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण॥164॥–गो.जी.

जिस प्रकार स्वयं अहमिन्द्र देव बिना किसी विशेषता के "मैं इंद्र हूँ–मैं इंद्र हूँ" इस प्रकार मानते हुए स्वयं को स्वामी मानते हैं उसी प्रकार इंद्रियों को जानना चाहिए। इंद्रिय मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं–

1. एकेंद्रिय, 2. द्वीन्द्रिय, 3. त्रीन्द्रिय, 4. चतुरिन्द्रिय, 5. पंचेन्द्रिय, 6. अतीन्द्रिय।

3. कायमार्गणा–आत्मप्रवृत्ति अर्थात् योग से संचित पुद्गलपिण्ड को काय कहते हैं।

जाई अविणाभावी, तसथावर उदय जो हवे काओ।
सो जिणमदम्हि भणियो, पुढवीकायादि छब्भेयो॥181॥–गो.जी.

जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस व स्थावर नाम कर्मोदय से काय होती है। वह जिनमत में पृथ्वीकायिक आदि के भेद से छः प्रकार की कही है।

4. योग मार्गणा–मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मप्रदेश के परिस्पंद का कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे योग कहते हैं।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो॥216॥–गो.जी.

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण में कारणभूत शक्ति है वह योग है।

योग मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं–

1. सत्य मनोयोग, 2. असत्य मनोयोग, 3. उभय मनोयोग, 4. अनुभय मनोयोग, 5. सत्य वचनयोग, 6. असत्य वचनयोग, 7. उभय वचनयोग, 8. अनुभय वचनयोग, 9. औदारिक काययोग, 10. औदारिकमिश्र काययोग, 11. वैक्रियक काययोग, 12. वैक्रियकमिश्र काययोग, 13. आहारक काययोग, 14. आहारकमिश्र काययोग, 15. कार्माण काययोग।

5. वेद मार्गणा–पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न हुई मैथुन की अभिलाषा को वेद कहते हैं।

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा।।271।।–गो.जी.

पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद कर्म के उदय से भावपुरुषवेद, भावस्त्रीवेद, भाव नपुंसकवेद होता है। अंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुषवेद, द्रव्य स्त्रीवेद, द्रव्य नपुंसकवेद होता है। द्रव्य और भाव ये दोनों वेद प्राय: सम होते हैं, परन्तु कहीं पर विषम भी हो जाते हैं।

6. कषाय मार्गणा–जो आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र या सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र रूप गुण को घाते उसे कषाय कहते हैं।

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओ त्ति णं बेंति।।282।।–गो.जी.

सुख-दु:ख आदि अनेक धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यंत दूर है ऐसे कर्मक्षेत्र को जो कर्षण करती है वह कषाय है। कषाय मार्गणा इस प्रकार है–

1-4 अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, 5-8 अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, 9-12 प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, 13-16 संज्वलनक्रोध, मान, माया, लोभ, 17. हास्य, 18. रति, 19. अरति, 20. शोक, 21. भय, 22. जुगुप्सा, 23. स्त्रीवेद, 24. पुरुषवेद, 25. नपुंसकवेद, 26. अकषाय।

7. ज्ञान मार्गणा–सत्यार्थ प्रकाश करने वाली शक्ति को ज्ञान मार्गणा कहते हैं।

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणं ति णं बेंति।।299।।–गो.जी.

जिसके द्वारा त्रिकालविषयक द्रव्य और बहुभेद सहित उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायें प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से जानी जाती हैं वह ज्ञान कहा गया है। ज्ञान मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं–

1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मन:पर्ययज्ञान, 5. केवलज्ञान, 6. कुमतिज्ञान, 7. कुश्रुतज्ञान, 8. कुवधिज्ञान।

8. संयम मार्गणा–संयमन करने को संयम कहते हैं।

वदसमिदि कसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारण पालण णिग्गह-चाग-जओ संजमो भणिओ।।465।।–गो.जी.

व्रतों को धारण करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, (मन-वचन-काय रूप) दण्डों का त्याग करना तथा पाँच इन्द्रियों को जीतना संयम कहा गया है। संयम मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं–

1. सामायिक, 2. छेदोपस्थापना, 3. परिहारविशुद्धि, 4. सूक्ष्मसाम्पराय, 5. यथाख्यात चारित्र, 6. असंयम, 7. संयमासंयम।

9. दर्शन मार्गणा–आत्माभिमुख अवलोकन को दर्शन कहते हैं।

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये।।482।।–गो.जी.

वस्तुओं का आकार न करके व पदार्थों में विशेषता न करके जो सामान्य ग्रहण किया जाता है उसे शास्त्रों में दर्शन कहा है। दर्शन मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं–

1. चक्षुदर्शन, 2. अचक्षुदर्शन, 3. अवधिदर्शन, 4. केवलदर्शन

10. लेश्या मार्गणा–कषायों से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

लिंपइ अप्पीकीरइ, एदीए णिय अपुण्णपुण्णं च।
जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा।।489।।–गो.जी.

जिसके द्वारा जीव पुण्य व पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके अधीन रहता है वह लेश्या है। ऐसा लेश्या के स्वरूप को जानने वाले गणधरादि देव ने कहा है। लेश्या मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं–

1. कृष्ण, 2. नील, 3. कापोत, 4. पीत, 5. पद्म, 6. शुक्ल

11. भव्यत्व मार्गणा–जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है अर्थात् जो सिद्धपद प्राप्त करने के योग्य है वह भव्य है।

भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति।।557।।–गो.जी.

जिन जीवों की सिद्धि होने वाली हो अथवा जो जीव सिद्धत्व अवस्था पाने के योग्य हों वह भव्यसिद्ध हैं। भव्यसिद्ध से विपरीत अभव्य सिद्ध हैं, जो संसार से कभी नहीं निकलते।

12. सम्यक्त्व मार्गणा–प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य की प्रकटता जिसका लक्षण है, उसको सम्यक्त्व कहते हैं।

छप्पंचणवविहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।561।।–गो.जी.

जिनेन्द्र प्रभु द्वारा उपदिष्ट छः द्रव्य, पंचास्तिकाय और नव प्रकार के पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

इसके भेद इस प्रकार हैं–1. औपशमिक सम्यक्त्व, 2. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, 3. क्षायिक सम्यक्त्व, 4. मिथ्यात्व, 5. सासादन सम्यक्त्व, 6. सम्यगमिथ्यात्व।

13. संज्ञी मार्गणा–जो मन सहित हैं उन्हें संज्ञी कहते हैं।

णो इंदियआवरण, खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी, इदरो सेसिंदिअवबोहो॥660॥–गो.जी.

नो इंद्रिय (मन) आवरण कर्म का क्षयोपशम और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान संज्ञा है। यह संज्ञा जिसके होती है वह संज्ञी है और असंज्ञी के मात्र इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है।

14. आहारक मार्गणा–औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरों में से उदय को प्राप्त हुए किसी एक शरीर के योग्य भाषा व मन के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को जो नियम से ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं।

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं णाम॥664॥–गो.जी.

शरीर नाम कर्मोदय को प्राप्त जीव शरीर, वचन, मन के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण करता है वह आहारक है। इस मार्गणा के भेद इस प्रकार हैं– 1. आहारक, 2. अनाहारक।

हे तत्त्ववेत्ता! चौदह मार्गणास्थान भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं शुद्ध निश्चय नय का आलंबन लेकर स्वयं को देखता हूँ तो ज्ञात होता है कि मैं अनंत गुणों से युक्त सत्ता परम चैतन्य और ज्ञान की अनुभूति में लीन हूँ। कोई भी पुद्गल का विकार मुझमें नहीं है। पुद्गल द्रव्य से संबंध नहीं होने से, कर्म का अभाव होने से वैभाविक पर्याय भी मेरी नहीं है।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणाः।
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥185॥–अमृतकलश

उदार-उज्ज्वलचित्त और उत्कृष्ट चारित्र वाले मोक्षार्थी मुनियों को यही सिद्धांत सेवन करना चाहिए, अपनाना चाहिए कि "मैं सदा ही शुद्ध, चिन्मय, एक परम ज्योति ही हूँ" और जो ये भिन्न लक्षण वाले नाना भाव प्रगट हो रहे हैं 'वे मैं नहीं हूँ' क्योंकि वे सभी मेरे लिए पर द्रव्य हैं।

संठाणसंहणणबंधणसंघाद-रहिदो हं।।46।।

अर्थ–मैं संस्थान, संहनन, बंधन और संघात से रहित हूँ।

भावार्थ–संस्थान का अर्थ आकृति है। जिसके उदय से औदारिकादि शरीरों की आकृति बनती है वह संस्थान नामकर्म है।[1] समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन व हुंडक के भेद से शरीर संस्थान छः प्रकार का होता है।

ऊपर नीचे मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा बनाए गए समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों की रचना होना समचतुरस्र संस्थान है। बड़ के पेड़ के समान नाभि के ऊपर भारी और नीचे लघुप्रदेशों की रचना न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान है। न्यग्रोध से उल्टा ऊपर लघु और नीचे भारी बामी की रचना सदृश स्वाति संस्थान है। पीठ पर बहुत पुद्‌गलों का पिंड हो जाना अर्थात् कुबड़ापन कुब्जक संस्थान है। सभी अंग-उपांगों को छोटा बनाने में कारण वामन संस्थान है। सभी अंग व उपांगों का बेतरतीब हुंड की तरह रचना हुंडक संस्थान है।[2]

जिसके उदय से अस्थियों का बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है।[3] इसके भी छः भेद हैं–वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक व असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

जिसमें वज्रमय हड्डियाँ वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमय नाराच से कीलित होती हैं वह वज्रवृषभनाराच संहनन है। इसी प्रकार का अस्थि बंध जिसमें होता है किन्तु वज्र ऋषभ (वेष्टन) से रहित होता है वह वज्रनाराच संहनन है। जिसमें वज्र विशेष से रहित नाराच, कीलें और हड्डियों की संधियाँ होती हैं वह नाराच संहनन है। जिसमें हाड़ों की संधियाँ नाराच से आधी बिंधी हुई होती है वह अर्धनाराच संहनन है। जिसमें वज्र रहित हड्डियाँ और कीलें होती हैं वह कीलक संहनन है। जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बन्ध न हो मात्र बाहर से सिरा, स्नायु, माँस आदि लपेट कर संघटित की गयी हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है।

शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए पुद्‌गलों का अन्योन्य प्रदेश संश्लेष जिसके निमित्त से होता है वह बन्धन नामकर्म है। इसी के कारण सर्व पुद्‌गल परमाणु आपस में बंध जाते हैं। इसके अभाव में शरीर लकड़ियों के ढेर जैसा हो जाता है।

जिससे औदारिकादि शरीरों की छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशों के अनुप्रवेशन द्वारा एकरूपता आती है वह संघात नामकर्म है। यदि संघात नामकर्म न हो तो जीव तिल के मोदक के समान अपुष्ट शरीर वाला हो जाएगा। शरीरों के 5 भेद के समान संघात व बंधन के भी वही 5 भेद हैं–औदारिक, वैक्रियक, तैजस, आहारक और कार्माण।

---

1. यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवतितत्संस्थाननामा।। –स.सि.
2. राजवार्तिक 8
3. यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनन नाम।। –स.सि.

ये संस्थान, संहनन, बंधन, संघात नामकर्म हैं। ये मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा न कोई आकार है, न संहनन। शुद्ध निश्चय नय से शरीर रहित निकल रूपी होने से मेरे न कोई बंधन है, न कोई संस्थान।

''णवि रूवं ण सरीरं, णवि संठाणं ण संहणणं।।50।। –स.सा.

जीव के रूप नहीं है, शरीर नहीं है, संस्थान नहीं है और संहनन नहीं है।

हे तत्त्ववेत्ता! जब तुम जान गए हो कि ये तुम्हारा स्वरूप नहीं है तो पुनः पुनः इसमें आसक्त क्यों होते हो। इन पर अहंकार कर क्यों अन्य जीवों का तिरस्कार करते हो। ये सब कर्मजनित हैं। आज पुण्योदय से श्रेष्ठ संस्थान, संहननादि प्राप्त हुआ हो तो दूसरे के पाप कर्मोदय को देख हँसना नहीं, ग्लानि का भाव नहीं लाना, अन्यथा कहीं अज्ञानतावश यह पापकर्म तुम्हारे यहाँ ही डेरा न डाल ले। अब भी सावधान हो जाओ। जो तुम्हारा है वह तुम्हें दिख नहीं रहा और जो तुम्हारा नहीं है उसे देखकर इठलाते हो। निज वैभव को पहचानो। सर्व जीवों में शक्ति रूप से परमात्म रूप विद्यमान है अतः सबके प्रति साम्यभाव को धारण करते हुए निज स्वरूप का चिंतन करो।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।49।।– स.सा.

इस जीव को रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, प्रगटता रहित, चेतना गुण सहित, शब्द रहित, किसी भी चिह्न से ग्रहण में न आने वाला और जिसका आकार कहा नहीं जा सकता, ऐसा जानो।

बादर-सुहुमावत्था-रहिदो हं।।47।।

अर्थ–मैं बादर व सूक्ष्म अवस्था से रहित हूँ।

भावार्थ–बादर नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली जीव की अवस्था बादर अवस्था है। अन्य बाधाकर शरीर का निर्वर्तक कर्म बादर नामकर्म है। जिसके उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म है। अथवा जिन जीवों का पृथ्वी से, जल से, आग से और वायु से प्रतिघात नहीं होता, उन्हें सूक्ष्मकायिक जानो।[1] बादर नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है और सूक्ष्म नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह बादर-सूक्ष्मावस्था तुम्हारा स्वरूप नहीं है। यह तो शरीर की संज्ञा है। और शुद्ध निश्चय नय से जीव शरीर रहित है, जब शरीर ही नहीं होगा तो सूक्ष्म व बादर अवस्था कैसे हो सकती है।

1. ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी तोएहिं अग्गिवाएहिं।
ते जाण सुहुमकाया इयरा पुण थूलकाया य।।127।। –का.अ.

पज्जत्तापज्जत्ता, जे सुहुमाबादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा, सुत्ते ववहारदो उत्ता।।67।।–स.सा.

जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा जो सूक्ष्म और बादर भेद हैं ये सब शरीर की जीव संज्ञायें हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! अब जानो, ये सूक्ष्म-बादर आदि दशाएँ तुम्हारी नहीं हैं। तुम कर्म जनित सर्व अवस्थाओं से रहित हो। सहज दर्शन, ज्ञानमय हो, चैतन्य चमत्कार मात्र परमज्योति पुंज हो।

भेद-तम-छायादवुज्जोद-रहिदो हं।।48।।

अर्थ–मैं भेद, तम, छाया, आतप व उद्योत से रहित हूँ।

भावार्थ–जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदन मात्र को भेद कहते हैं। वा स्कंधों का विभाग होना भेद है। प्रकाश का विरोधी, अंधकार तम कहलाता है। प्रकाश के आवरणभूत शरीर आदि से छाया होती है अथवा दर्पण में मुखादि का दिखना, प्रतिबिम्ब छाया है। मूल में ऊष्ण व प्रभा भी ऊष्ण हो इसका नाम आतप है और मूल में ऊष्णता रहित व प्रभा भी ऊष्णता रहित का नाम उद्योत है। ये सभी पर्यायें पुद्गल की हैं। यह जीव के कदापि भी नहीं हैं।

सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।16।।–वृ. द्रव्य संग्रह

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप ये सभी पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! ये सब पुद्गल की पर्यायें तुम्हारी कदापि भी नहीं हो सकतीं। जीव द्रव्य में अन्य कोई भी द्रव्य नहीं हो सकता। यह आत्मा चैतन्य रूप परम ब्रह्म में स्थित, स्वस्वरूप में निश्चल स्थिति रूप, अन्य परभावों के प्रपंच से रहित, परद्रव्य से विमुख एवं टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी है।

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि।।38।।–स.सा.

मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ, सदा अमूर्तिक हूँ, मेरा अन्य कुछ भी परमाणु मात्र भी नहीं है।

चदुपुरिसत्थ-रहिदो हं॥49॥

अर्थ–मैं चार पुरुषार्थों से रहित हूँ।

भावार्थ–चेष्टा करना पुरुषार्थ है।[1] ये चार प्रकार का कहा गया है–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अर्थ व काम पुरुषार्थ अशुभ है। इस लोक के दोष और परलोक के दोष अर्थ पुरुषार्थ से मनुष्य को भोगने पड़ते हैं इसलिए अर्थ अनर्थ का कारण है, मोक्ष प्राप्ति के लिए यह अर्गला के समान है।[2] अहो तत्त्ववेत्ता! इस अर्थ के कारण इस जीव ने अब तक कितना पाप किया है। अर्थ का अर्जन न्यायपूर्वक किया या अन्यायपूर्वक किया, इसका तो कभी ध्यान ही नहीं दिया। कितने जीवों की हिंसा हुई, कितनों को दु:ख पहुँचाया, अनर्थकारी अर्थ के कारण झूठ, छल, कपट सब किया। आज तक संसार को वृद्धिगत करने वाला पुरुषार्थ तो किया किन्तु उसको नाश करने वाला सम्यक् पुरुषार्थ आज तक नहीं किया।

यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है, इससे आत्मा लघुता को प्राप्त होती है, इसकी सेवा से आत्मा दुर्गति में दु:ख पाती है। यह पुरुषार्थ अल्पकाल में ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है।[3] विषय-वासना में आसक्त होकर जीव फलकाल में भयंकर दु:खों को सहन करता है। काम-भोग से उत्पन्न सुख निन्दनीय व असह्य दु:खों का कारण है। काम रूपी बैरी का विस्तार मनुष्य को दिग्मूढ़, विभ्रान्त, उन्मत्त, शंकित हृदय और लक्ष्यहीन कर देता है।[4] हे तत्त्ववेत्ता! यह काम पुरुषार्थ जीव को संसार सागर में डुबाने वाला है, शरीर की अस्वस्थता, कुल कलंक व गुण निरोध का कारण है।

अर्थ व काम ये दो पुरुषार्थ तो सर्वथा हेय हैं। पुन: संसारी जीवों के लिए धर्म पुरुषार्थ कथंचित् उपादेय है क्योंकि वह पवित्र और सर्वसौख्यों का दाता है तथा पुण्य बंध का कारण होने से कथंचित् हेय है।

धम्महँ अत्थहँ कम्महँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु॥2/3॥–परमात्मप्रकाश

हे जीव! धर्म, अर्थ और काम इन सब पुरुषार्थों में से उत्तम मोक्ष पुरुषार्थ को ज्ञानी पुरुष कहते हैं क्योंकि अन्य धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थों में परम सुख नहीं है।

---

1. पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्। – अष्टशती
2. इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं।
   अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो॥1814॥ –भ.आ.
3. कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा।
   उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा॥1815॥ –भ.आ.
4. दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शंकिताशयम्।
   विलक्ष्यं कुरुते लोकं, स्मरवैरी-विजृम्भित:॥11/25॥ –ज्ञानार्णव

चारों पुरुषार्थों में पहले तीन पुरुषार्थ नाश सहित और संसार के रोगों से दूषित हैं। अहो! मोह का क्षय करने के लिए मोक्ष पुरुषार्थ का आश्रय लो। किन्तु हे तत्त्ववेत्ता! यह चारों ही पुरुषार्थ तुम्हारा स्वरूप नहीं हैं। जिस समय भले प्रकार पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावों के पार को प्राप्त करके अपने निष्कंप चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है।[5]

वही ज्ञायक स्वभावी चैतन्यात्मा मैं हूँ। अत: हे तत्त्ववेत्ता! समस्त बाह्य प्रपंचों से दूर हो जाओ, परद्रव्य का त्याग करो और अपने शुद्धात्म स्वरूप को व्यक्त करो क्योंकि तुम स्वयं तद्रूप हो।

सत्तभयविमुत्तो हं।।50।।

अर्थ–मैं सात भयों से मुक्त हूँ।

भावार्थ–जिसके उदय से उद्वेग होता है वह भय है अथवा भीति को भय कहते हैं। उदय में आए हुए जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा जीव के भय उत्पन्न होता है उनकी कारण में कार्य के उपचार से 'भय' यह संज्ञा है। यह भय सात प्रकार का है–इहलोक भय, परलोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय, वेदना भय और आकस्मिक भय!

इहलोक भय–इस लोक में, इस भव में भी कैसे सुखी रहूँ? कोई चोर, लुटेरे, डाकू या शत्रु मार न देवें, मेरी सम्पत्ति न हड़प लेवें, राजा के लोग छापा आदि न डाल देवें इत्यादि प्रकार से इस लोक के बारे में हमेशा चिंतित-भयभीत रहना इहलोकभय है। व्यवहार सम्यग्दृष्टि भय नहीं करता है क्योंकि जो मैंने पूर्व में कर्म बांधे होंगे वे अवश्य उदय में आकर फल देंगे अत: भयभीत होने से क्या? यह आत्मा तो अजर-अमर नित्य है, ज्ञानस्वरूप है इत्यादि चिंतन करता है।

परलोक भय–अगले भव का नाम परलोक है, पता नहीं मैं मरकर किस गति में जाऊँगा? क्या करूँ? कैसे करूँ? जन्मांतर में माता के गर्भ में रहना कितना दु:खप्रद है इत्यादि चिंता करते रहना परलोक भय है। सरागसम्यग्दृष्टि भी इन दु:खों को जानता है किंतु उनसे व्याकुल चित्त होकर भयभीत नहीं होता। अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन के साथ नियम से देवगति को ही प्राप्त करता है। वह समाधिपूर्वक मरण की भावना भाता है किंतु परलोक से भयभीत नहीं होता है।

वेदना भय–शरीर में वात, पित्तादि के प्रकोप से आने वाली बाधा वेदना कहलाती है। मोह के कारण विपत्ति के पहले ही करुण क्रंदन करना वेदना भय है। शरीर में नाना प्रकार के रोगों से व्याकुल होकर चिंता करना, यह रोग नहीं मिटेगा तो क्या होगा? इसकी वेदना कैसे सहन करूँ? इत्यादि। सम्यग्दृष्टि सोचता है यह वेदना रोग के निमित्त से शरीर में है आत्मा में नहीं है। वेदना से

5. सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्य: सम्यक्पुरुषार्थ सिद्धिमापन्न:।।11।। –पु.सि.

शरीर में कष्ट होगा न कि आत्मा में, अत: वह वेदना न सह सकने से आकुल-व्याकुल भले ही हो जाए किंतु वह मिथ्यादृष्टि के समान भयभीत नहीं होता है।

अरक्षाभय–संसार में मेरी कौन रक्षा करेगा? ऐसा भय संसार के लगभग समस्त प्राणियों को होता है किन्तु सरागसम्यग्दृष्टि भी ऐसा भय नहीं करता क्योंकि वह सदैव चिंतन करता है कि जिनेन्द्रदेव की शरण और धर्म ही मेरा रक्षक है अत: वह अरक्षा का भय नहीं करता है।

अगुप्ति भय–जिसमें किसी का प्रवेश नहीं ऐसे गढ़, दुर्गादिक का नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हो उसको अगुप्ति कहते हैं, वहाँ बैठने से जीव को जो भय उत्पन्न होता है उसको अगुप्ति भय कहते हैं। लोक में दुर्ग, कोट, खाई आदि से राजा लोग अपने देश, नगर, आदि को गुप्त रखते थे जिसमें शत्रुओं को प्रवेश कठिन था। मेरे लिए कोई गुप्त स्थान नहीं है मेरी सुरक्षा कैसे होगी? सरागसम्यग्दृष्टि भी ऐसा भय नहीं करता। वह सोचता है कि यदि पुण्य कर्म का उदय है तो मुझे जंगल में भी कोई कष्ट नहीं दे सकता और यदि पाप का उदय आ जाता है तो कोट के भीतर छिपकर भी बैठने से संकट आ जाते हैं। अत: वह धर्म को करते हुए व आत्म स्वरूप का विचार करता रहता है। अत: उसे अगुप्ति भय नहीं है।

मरणभय–मैं जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हो अथवा दैवयोग से कभी मृत्यु न हो, इस प्रकार शरीर के नाश के विषय में जो चिन्ता होती है वह मृत्युभय कहलाता है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा से प्राणी इनके रहने तक जीता है और इनके नष्ट होने पर मर जाता है। यह मरण आत्मा को नहीं है, मात्र शरीर को ही है अत: सरागसम्यग्दृष्टि भी मरने से डरता नहीं। शरीर को तो एक दिन अंत को प्राप्त होना है, आत्मा को यह शरीर वा पर्याय छोड़कर दूसरा शरीर वा पर्याय प्राप्त करनी ही है, ऐसा सोचकर वह मरने की चिंता नहीं करता है।

आकस्मिक भय–अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् दु:ख आकस्मिक भय है। जैसे कि बिजली आदि के गिरने से प्राणियों का मरण हो जाता है। ''मैं सदैव नीरोग रहूँ, कभी रोगी न होऊँ'', इस प्रकार व्याकुल चित्तपूर्वक होने वाली चिन्ता आकस्मिक भीति कहलाती है। सम्यग्दृष्टि यही सोचता है कि कर्म के उदय से कभी कोई अकस्मात् भय आ भी जाए तो वह शरीर, धन, कुटुंब आदि के आश्रित ही तो है। अत: वह आत्मा के स्वरूप का चिंतवन करते हुए भयभीत नहीं होता है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम सदा निर्भीक होकर निज चैतन्य वाटिका में विचरण करो। निर्भीकता के साथ निज संयम का, व्रतों का पालन करो। निज लक्ष्य की ओर बढ़ो और मुक्ति महल की ओर प्रयाण करो जो तुम्हारा शाश्वत निवास स्थान है।

दव्व-भाव-णोकम्म-रहिदो हं।।51।।

अर्थ–मैं द्रव्य-भाव-नोकर्मों से रहित हूँ।

भावार्थ–जीव को परतंत्र करने वाला कर्म है। जीव के मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि परिणाम भावकर्म हैं और इससे जो पौद्गलिक कर्म वर्गणाएँ जीव से आकर बंधती हैं वह द्रव्य कर्म है। तथा (कार्माण वर्गणा को छोड़कर) शेष 19 प्रकार की वर्गणाएँ नो कर्म हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारा यह आत्मा द्रव्य-भाव व नोकर्म से रहित शुद्ध है।

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।75।।–समयसार

कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को आत्मा नहीं करता है, जो इस बात को जानता है, वह ज्ञानी है।

जिस प्रकार कलश का उपादान कर्त्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म-नोकर्म परिणाम का कर्त्ता पौद्गलिक द्रव्य है, आत्मा उनका उपादान कर्ता नहीं है। अत: स्पष्ट है ये राग-द्वेषादि विकारी भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं।

यदि कर्म-नोकर्म परिणाम का कर्त्ता आत्मा को माना जाएगा तब तो सिद्धात्मा भी कर्म सहित हो जाएँगे, कर्म सहित होने से संसारी कहलाएँगे और मोक्ष का अभाव हो जाएगा जो कि असंभव है। अत: यही सिद्ध है कि आत्मा इन त्रिविध कर्मों से रहित शुद्ध है।

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिपरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।148।।–समयसार कलश

जैसे मंजिष्ठ या फिटकरी आदि से जिसे कषायला नहीं किया गया है ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग स्वीकृत नहीं किया जाता है–वस्त्र में रंग प्रवेश नहीं करता अर्थात् वह रंग पक्का नहीं हो पाता। इसी प्रकार ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है अत: उसके कर्म, परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होते, चिपकते नहीं।

राग, द्वेष, मोह से सर्वथा रहित होने से जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों से नहीं बंधता। हे तत्त्ववेत्ता! इन कर्मों को नष्ट करने के लिए रागादि भावों का क्षय आवश्यक है और इनके क्षय के लिए उपाय बताते हुए कहते हैं–

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।।136।।–अमृत कलश

सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अभ्यास करने के लिए अपने स्वरूप को ग्रहण करके पर के स्वरूप को छोड़ देता है। इसी कारण वह अपने और पर के भेद को वास्तविक रीति से जानकर अपने में ही स्थित होता है तथा अन्य रागादि के संयोग से सब प्रकार से विरक्त हो जाता है।

हे तत्त्ववेत्ता! मैं निज शुद्धात्मा में स्थित हो स्वसमय की प्राप्ति को करता हूँ और उसके लिए रत्नत्रय को धारण करता हूँ। प्रिय चेतना! अभेद रत्नत्रय से एकत्व के साथ निश्चित रूप से एक होकर रहो, एकत्व का आश्रय करो। यह अभेद रत्नत्रय ही शाश्वत, अनंत सुख का कारण है।

कम्मणोकम्मोजलेव-कवलमणसाहार-रहिदो हं॥52॥

अर्थ–मैं कर्माहार, नोकर्माहार, ओजाहार, लेपाहार, कवलाहार और मानसिक आहार से रहित हूँ।

भावार्थ–उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्‌गलों का ग्रहण आहार है। यहाँ आहार से अर्थ उस भोजनादि से है जिससे देह की स्थिति बनी रह सकती है। यह आहार छः प्रकार का होता है–कर्माहार, नोकर्माहार, ओजाहार, लेपाहार, कवलाहार और मानसिक आहार।

संसारी जीव प्रति समय कर्मों का बंध करता है। कार्माण वर्गणाओं का आहरण ही कर्माहार कहलाता है।

शरीर निर्माण के निमित्तभूत नोकर्मवर्गणाओं का प्रतिसमय होना नोकर्माहार है।

मुख में कवल या ग्रास बनाकर जो आहार किया जाता है वह कवलाहार है।

मन में सोचने भर से होने वाला आहार मानसिकाहार या मानस आहार कहलाता है।

शरीर के स्पर्श मात्र से ग्रहण किया जाने वाला आहार लेप्याहार कहलाता है।

पक्षियों द्वारा अपने अंडे को सेना, उन्हें ऊर्जा देना ओजाहार कहलाता है।

यह जीव कभी अनुकूल भोजनादि हो तो राग रूप और प्रतिकूल आहार हो तो द्वेष रूप परिणाम करता है। अरे! और तो और यह जीव अभक्ष्य वा अशुद्ध पदार्थ ग्रहण करने में भी भयभीत नहीं होता। गंदे से गंदे पदार्थ, होटल का भोजन, जिसमें कितने ही त्रस जीवों की उत्पत्ति हो गई हो ऐसा भोजन या पैकेट का त्रस जीवयुक्त भोजन बड़े स्वाद के साथ ग्रहण करता है, वही हिंसक भोजन फिर उसकी अस्वस्थता और कर्म बंध का कारण बनता है। अहो विवेकी! हाथ में लिए इस ग्रास को मुख में रखने से पहले विचार करो, क्या यह योग्य है, भक्ष्य है तब ग्रहण करो। अन्यथा अयोग्य होने पर छोड़ दो। यही तुम्हारे ज्ञान की महिमा है।

हे तत्त्ववेत्ता! यदि भवभ्रमण से मुक्ति पाना चाहते हो तो अपने सम्यक् स्वरूप की पहचान करो, उसे जानो। ये षट् प्रकार का आहार भी तेरा स्वभाव नहीं है। यह आत्मा न तो कुछ ग्रहण करता

है और न कुछ छोड़ता है। जब ग्रहण करना तुम्हारा स्वरूप है ही नहीं तब ग्रहण करने में आसक्ति क्यों? **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'** धर्म साधना हेतु शरीर की स्थिति के लिए चाहे आहार स्वादिष्ट हो या स्वाद रहित, दोनों में ही समत्व भाव रखकर उसे ग्रहण करो। यह जीव प्रतिकूल-ठंडा, गर्म, अधिक रस वा नीरसादि आहार होने पर क्रोधादि रूप परिणामों से कर्मों का बंध कर अधिक दुःख प्राप्त करता है। अहो! जीव की अज्ञानता तो देखो, पुद्गल के लिए पुद्गल ग्रहण करने में आत्मा को भयंकर कष्ट देता है।

हे तत्त्ववेत्ता! अब निज निराहार स्वरूप को पहचानो, प्रत्येक दिन आहार ग्रहण करने से पूर्व विचार करो **'निराहारस्वरूपोऽहं'।** मेरा स्वरूप निराहार है। हे परमात्मा! मैं इस भावना के साथ आहार ग्रहण करता हूँ कि मैं शाश्वत अनाहारक अवस्था को प्राप्त कर सकूँ। मैं जानता हूँ कि आहार ग्रहण करना मेरा स्वभाव नहीं है किन्तु सम्यक् तप व साधना हेतु शरीर की स्थिति के लिए सर्व प्रकार की आसक्ति को त्यागकर समता भाव से आहार ग्रहण करता हूँ। उपवासादि के द्वारा स्वयं को तपाने में प्रवृत्त होता हूँ। कर्म बंध के मूल प्रत्यय राग-द्वेषादि का त्याग करता हूँ।

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं, ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम्।

तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी, प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः॥86॥–नि.सा./ता.वृ.

जो तपस्वी भक्त जन के हस्ताग्र के द्वारा दिए हुए भोजन को ग्रहण करता है, पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से युक्त अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए समीचीन तप को तपता है वही अतिशय दैदीप्यमान मुक्ति रूपी अंगना को प्राप्त होता है।

मैं आनन्दमय, चैतन्यमय ज्ञान-दर्शन स्वरूपी हूँ। उसी स्वरूप में लीन होने के लिए मैं निज आत्मतत्त्व की भावना करता हूँ, उसी में लीन होने का पुरुषार्थ करता हूँ।

संका-कंखाइ-सव्वदोस-रहिदो हं॥53॥

अर्थ–मैं शंका, कांक्षादि सर्व दोषों से रहित हूँ।

भावार्थ–"सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहुमं..." इत्यादि सिद्ध भक्ति के काव्य से जानते हैं कि निज अवस्था को प्राप्त करने वाले क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त हैं। वह अनंतकाल तक भी क्षय को प्राप्त नहीं होगा। हे तत्त्ववेत्ता! यह सम्यक्त्व आत्मा का स्वभाव है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये संसार वृक्ष के मूल हैं। जो आत्म तत्त्व में श्रद्धा न करता हुआ इन्हें नष्ट करने का पुरुषार्थ नहीं करता वह शंका दोष से युक्त है। इसके विपरीत यह ज्ञान स्वभावी आत्मा निःशंकित गुण से युक्त है। आचार्य भगवन् ने कहा है–

जो चत्तारिवि पाए, छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।229।।–स.सा.

जो आत्मा कर्म बंध के हेतुभूत मोह के करने वाले उन मिथ्यात्व आदि भाव रूप चारों पायों को भी छेद डालता है, वह सम्यग्दृष्टि आत्मा नि:शंकित है ऐसा जानना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से संपूर्ण भी कर्मफलों में और सर्व वस्तुओं के धर्मों में आकांक्षा करने वाला नहीं होने से कांक्षा दोष से मुक्त होता है।

जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।230।।–स.सा.

जो कर्मों के फलों में और सर्वधर्मों में वांछा को नहीं करता है। वह आत्मा सम्यग्दृष्टि नि:कांक्षित गुण वाला है ऐसा जानना चाहिए।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होने से आत्मा वस्तु के संपूर्ण धर्मों में ग्लानि नहीं करता अत: विचिकित्सा दोष से रहित है।

जो ण करेदि दुगंछं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।231।।–स.सा.

जो आत्मा संपूर्ण ही धर्मों या वस्तु स्वभावों के प्रति ग्लानि नहीं करता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि आत्मा निर्विचिकित्सा गुण वाला है ऐसा जानना चाहिए।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होने से आत्मा संपूर्ण भावों में मोह नहीं करने से मूढ़ता दोष से रहित है।

जो हवइ असम्मूढो, चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।232।।–स.सा.

जो आत्मा सर्वभावों मे यथार्थदृष्टि रखता हुआ मूढ़ नहीं होता है वह सम्यग्दृष्टि नियम से अमूढ़दृष्टि है ऐसा जानना चाहिए।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होने से अपनी आत्मा की शक्तियों का वर्धन करने से और मिथ्यात्वादि विभाव भावों को आच्छादित करने से सम्यग्दृष्टि जीव अनुपगूह दोष से रहित है।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।233।।–स.सा.

जो सिद्धों की भक्ति से युक्त है और अन्य वस्तु के सर्व धर्मों का गोपन करने वाला है वह सम्यग्दृष्टि उपगूहनधारी है ऐसा जानना चाहिए।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होने से मोक्षमार्ग से च्युत हुई अपनी आत्मा को मोक्ष मार्ग में स्थापित करने से आत्मा अस्थितिकरण दोष से रहित है।

उम्मग्गं गच्छंतं, सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥234॥–स.सा.

जो उन्मार्ग में जाते हुए अपने को भी मार्ग में स्थापित करता है वह सम्यग्दृष्टि आत्मा स्थितिकरण से सहित है ऐसा जानना चाहिए।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को अभेदबुद्धि कर देखता है, अभेद रूप धारण कर उस अभेद रत्नत्रय मोक्ष-मोक्षमार्ग में वात्सल्य करने वाला होने से अवात्सल्य दोष से रहित है।

जो कुणदि वच्छलत्तं, तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छल-भावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥235॥–स.सा.

जो मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप तीन प्रकार के साधकों या साधनों (अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन तीन साधुओं के प्रति) के प्रति वात्सल्य करता है, वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्यभाव से युक्त है ऐसा जानना चाहिए।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होने से समस्त शक्ति के प्रबोध से ज्ञान का प्रभाव फैलाने वाला होने से आत्मा अप्रभावना दोष से रहित है।

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥236॥–स.सा.

जो विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मनोरथ के मार्ग में (ज्ञान रूपी रथ के चलने के मार्ग में) भ्रमण करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला है, ऐसा जानना चाहिए।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम शंका, कांक्षादि आठ दोषों से रहित विशुद्ध, विराग, विमल, विशद ज्ञान युक्त, विमुक्त आत्मा स्वरूप हो। उस स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रतिपल अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध बनाने के लिए प्रयासरत होओ।

खंध-देस-पदेसाइ-रहिदो हं॥54॥

अर्थ–मैं स्कंध, देश, प्रदेशादि से रहित हूँ।

भावार्थ–बहुत से परमाणुओं का समुदाय स्कन्ध है। उसके आधे परमाणुओं का स्कंध देश होता है और आधे के भी आधे का स्कंध प्रदेश होता है और परमाणु विभाग रहित सबसे सूक्ष्म होता है।

खंधं सयल समत्थं, तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो, परमाणू चेव अविभागी॥81॥–पंचास्तिकाय

ये सभी स्कंधादि पुद्गल काय के होते हैं, ये जीव से अत्यंत भिन्न हैं। हे तत्त्ववेत्ता! यह जीवद्रव्य, पुद्गल द्रव्य से पृथक् है।

खंधा य खंधदेसा, खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा, पोग्गलकाया मुणेयव्वा॥80॥–पंचास्तिकाय

स्कंध, स्कंध देश तथा स्कंध प्रदेश एवं परमाणु, ये चार भेद रूप पुद्गल काय जानने चाहिए।

अहो! सुख रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से विलक्षण होने से यह पुद्गल द्रव्य हेय है। आत्मा के स्कंध, देशादी नहीं हैं अर्थात् आत्मा अनादिकाल से असंख्यात प्रदेशी था, है और रहेगा। उसका एक भी प्रदेश कभी बढ़ेगा नहीं और एक भी प्रदेश कभी घटेगा नहीं। पुद्गल तो भेद व संघात के माध्यम से हीनाधिक परमाणुओं वाला होता रहता है किन्तु जीव ऐसा नहीं है। सभी आत्मा वा जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! निज दशा को प्राप्त करने के पूर्व उसे जानो। निज आत्म स्वरूप को जाने बिना उसे प्राप्त किस प्रकार कर सकोगे। स्कंधादि से रहित मैं सभी प्रकार के विकल्पों से रहित होकर निज आत्म तत्त्व का विचार करता हूँ।

पुग्गलधम्माधम्मायासकाल-रहिदो हं॥55॥

अर्थ–मैं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से रहित हूँ।

भावार्थ–स्पर्श, रस, गंध व वर्ण से सहित पुद्गल द्रव्य है। जो चलते हुए जीव या पुद्गल को चलने में सहायक (उदासीन निमित्त) हो वह धर्म द्रव्य है। जो ठहरते हुए जीव या पुद्गल को ठहरने में सहायक (उदासीन निमित्त) हो वह अधर्म द्रव्य है। जो सभी द्रव्यों को स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। वर्तना जिसका लक्षण है वह काल द्रव्य है।

मैं इन सबसे पृथक् निराला जीव द्रव्य हूँ।

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥2॥–द्र.सं.

वह जीव जीने वाला है, उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

जीवो–यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से आदि, मध्य और अन्त से रहित, निज तथा पर का प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य रूप प्राण है, उससे जीता है तथापि अशुद्ध निश्चय नय से अनादि कर्म बन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण व भाव प्राण है, उनसे जीता है इसलिए जीव है।

उवओगमओ–यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से परिपूर्ण तथा निर्मल ऐसे जो ज्ञान और दर्शनरूप दो उपयोग हैं, उन स्वरूप जीव है तथापि अशुद्धनय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से रचा हुआ है, इस कारण ज्ञानदर्शन उपयोगमय है।

अमुत्ति–यद्यपि जीव व्यवहारनय से मूर्तकर्मों के आधीन होने से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाली मूर्ति से सहित होने के कारण मूर्त है तथापि निश्चय नय से अमूर्त, इंद्रियों के अगोचर, शुद्ध और शुद्ध रूप स्वभाव का धारक होने से अमूर्त है।

कत्ता–यद्यपि यह जीव शुद्धनिश्चयनय से क्रिया रहित टंकोत्कीर्ण (निरुपाधि) ज्ञायक एक स्वभाव का धारक है, तथापि व्यवहारनय से मन, वचन तथा काय को उत्पन्न करने वाले कर्मों से सहित होने के कारण शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला है, इसलिए कर्त्ता है।

सदेहपरिमाणो–यद्यपि जीव निश्चय से स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों का धारक है, तथापि शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न संकोच-विस्तार के अधीन होने से घट आदि भाजनों में स्थित दीपक की तरह निजदेह परिमाण है।

भोत्ता–यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि विकल्प रूप उपाधियों से शून्य है, और अपनी आत्मा से उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत है, उसका भोगने वाला है तथापि अशुद्धनय से उस प्रकार के सुखरूप अमृत भोजन के अभाव से शुभकर्म से उत्पन्न सुख और अशुभकर्म से उत्पन्न जो दु:ख है, उनका भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है।

संसारत्थो–संसार में स्थित अर्थात् संसारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसाररहित है और नित्य आनन्दरूप एक स्वभाव का धारक है, तथापि अशुद्धनय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार के संसार में रहता है, इस कारण संसारस्थ है।

सिद्धो–यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज आत्मा की प्राप्तिस्वरूप जो सिद्धत्व है, उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है तथापि निश्चयनय से अनंतज्ञान और अनंतगुण स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है।

ऊर्ध्वगमन–इन उपर्युक्त गुणों का धारक जीव ''विस्ससोड्ढगई'' स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यद्यपि व्यवहार से चार गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय के वश से ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है। निश्चय से केवलज्ञान की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है, उसमें जाने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

सत्तुमित्तभाव-रहिदो हं।।56।।

अर्थ–मैं शत्रु-मित्र भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–आत्मा जब राग-द्वेष से रहित होती है तब उसमें किसी के प्रति शत्रुता या मित्रता का भाव विद्यमान नहीं होता। क्योंकि जिसके प्रति राग होता है उसके प्रति मित्र का भाव उत्पन्न होता है और जिसके प्रति द्वेष होता है उसके प्रति शत्रुता का भाव जन्म लेता है। राग व द्वेष नष्ट हो जाने पर शत्रुता या मित्रता का भाव कैसे हो सकता है? क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम्हारी आत्मा के सहज स्वभाव में शत्रु-मित्र भाव के जनक कर्म नहीं हैं। तुम्हारी ज्ञायक स्वभावी आत्मा में शत्रु-मित्र भाव का कारक राग-द्वेष नहीं है। तुम्हारी आत्मा में पर का विकल्प नहीं है। तुम्हारी आत्मा में एक को अच्छा या एक को बुरा करने वाली निर्णायक बुद्धि नहीं है। तुम्हारी आत्मा का स्वभाव सकल पदार्थों के प्रति निरपेक्ष रहना है, उदासीन रहना है। तुम्हारा स्वभाव गतराग, गतद्वेष रूप से रहना है, साक्षी भाव से समस्त द्रव्यों का अवलोकन करना है।

व्यवहारनय से शुद्धात्म स्वरूप का ग्रहण संभव नहीं है, शुद्ध निश्चय नय से ही शुद्धात्म को समझा जा सकता है। इसलिए शुद्ध नय से ग्रंथकार महोदय ने यहाँ आत्म स्वरूप का कथन किया है। मेरी आत्मा जब आत्मा में लीन है तब आत्मा से अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब मेरे लिए न बुरे हैं न अच्छे हैं, वे जैसे हैं वैसे ही हैं। उनसे न तो मुझे कोई लाभ है और न कोई हानि है। वे सभी मुझसे पर हैं, उनका परिणमन उनके आधीन है मेरे आधीन नहीं। मेरा परिणमन मेरे आधीन है उनके आधीन नहीं।

अहो! शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान के लिए, निजानुभव की प्राप्ति के लिए मैं समस्त विषयों से पराङ्मुख होता हूँ क्योंकि पंचेंद्रिय के विषयों में रंजायमान होता हुआ जीव आत्म रस के आस्वादन में समर्थ नहीं हो सकता। कहा भी है–

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमं।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।37।।–इष्टोपदेश

जैसे-जैसे सम्यग्ज्ञान में उत्तम तत्त्व (शुद्धात्म स्वरूप) का प्रतिभास होता है वैसे-वैसे सुलभता में भी प्राप्त पंचेन्द्रिय विषयों में रुचि नहीं होती। और जैसे-जैसे सुलभ पंचेंद्रिय विषय रुचिकर नहीं होते

वैसे-वैसे ज्ञान में उत्तम शुद्धात्म तत्त्व आ जाता है। अर्थात् जिस समय पंचेंद्रिय विषय रुचिकर नहीं होते तब स्वकीय ज्ञान धारा में श्रेष्ठ, शुद्ध आत्मतत्त्व का स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है।

अतः शत्रु-मित्र भाव से रहित, रागद्वेष से हीन, निर्विकारी, सर्व पंचेंद्रिय विषयों से विमुख हो उसी उत्कृष्ट परम आत्मतत्त्व का चिंतन करता हूँ।

चदुपाण-रहिदो हं॥57॥

अर्थ—मैं चार प्राणों से रहित हूँ।

भावार्थ—जिनके द्वारा जाना जाता है कि जीव जीवित है, वह प्राण है अथवा जीव के जीवितव्य के लक्षणों को प्राण कहते हैं।

बाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहि पाणेहिं।
जीवंति जेहिं जीवा, पाणा ते होंति बोहव्वा॥1/45॥—पं.सं.

जिस प्रकार बाह्य प्राण के द्वारा जीव जीते हैं उसी प्रकार जिन अभ्यंतर प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, वे प्राण कहलाते हैं।

ये प्राण निश्चय व व्यवहार के भेद रूप भी कहे जाते हैं। इंद्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वास ये चार जीव के व्यवहार प्राण हैं[1] अथवा 5 इंद्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण), 3 बल (मनबल, वचनबल, कायबल), श्वासोच्छ्वास व आयु इस प्रकार दस प्राण हैं।[2]

स्थावर जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये चार प्राण होते हैं। दो इंद्रिय जीवों के स्पर्शन इंद्रिय, रसना इंद्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये छः प्राण होते हैं। इनमें घ्राण इंद्रिय मिला देने पर तीन इंद्रिय जीव के सात प्राण होते हैं। इनमें चक्षु इंद्रिय मिला देने पर चतुरिंद्रिय जीव के आठ प्राण होते हैं। इनमें कर्ण इंद्रिय मिला देने पर असंज्ञी पंचेंद्रिय जीव के नौ प्राण होते हैं और इनमें मनबल मिला देने पर संज्ञी पंचेंद्रिय जीव के दस प्राण होते हैं। जब तक जीव संसारी है तब तक ये व्यवहार प्राण उसके रहेंगे ही किन्तु सर्व कर्मों का क्षय होने पर मुक्तावस्था में व्यवहार प्राण नहीं होते, चेतना रूप निश्चय प्राण ही होता है। संसारी जीव द्रव्य प्राणों की अपेक्षा से और सिद्ध जीव भाव प्राणों की अपेक्षा से जीव कहे जाते हैं।[3]

---

1. तिक्काले चदुपाणा, इंदियबलमाउआणपाणो य। —द्र.सं.
2. पंचय इंदियपाणा, मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा।
   आणप्पाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दस पाणा॥1193॥ —मू.आ.
3. स्याद्वाद मंजरी 27

ये चार वा दस प्राण जीव का स्वभाव नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य से रचित हैं और पुद्गल आत्मा से अत्यंत भिन्न है। व्यवहार नय से आयु आदि चार अशुद्ध प्राणों से संबद्ध होने से जीता है वह शुद्ध नय से जीव का स्वरूप नहीं है।[1]

हे तत्त्ववेत्ता! ये व्यवहार प्राण भी तुझसे भिन्न हैं। किन्तु इनका नाश व मात्र निश्चय रूप निज चेतना में निवास तभी संभव है जब जीव स्व-पर के भेद विज्ञान से युक्त हो। क्योंकि तभी वह राग- द्वेष-मोहादि के क्षय में समर्थ हो सकता है।

शस्ताशस्तसमस्त राग विलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्,
द्वेषाम्भः परिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात् पावनम्।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधिप्रव्यक्तिनित्योदितं,
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम्॥20॥–नि.सा./ता.वृ.

शुभ-अशुभ सभी प्रकार के राग के नष्ट हो जाने से, मोह के निर्मूल होने और द्वेष रूपी जल से भरे हुए मनोविकार रूपी घट के फूट जाने से जो पवित्र है, उत्कृष्ट है, उपाधिरहित है, स्पष्ट है, निरंतर उदित रहता है और जगत् में मंगल रूप है ऐसा यह भेदज्ञान रूपी वृक्ष का समीचीन फल सदा वंदना करने योग्य है।

अहो तत्त्ववेत्ता! जब गुरु उपदेश से स्व व पर का भेद जान चुके हो, आचार्य गुरुवर बार-बार करुणा दृष्टि से यहाँ निज वैभव, निजात्मा व निज चेतना का ज्ञान करा रहे हैं तब शुद्ध चैतन्य ही जिसका स्वरूप है ऐसी अपनी आत्मा को जानकर सर्व संकल्प-विकल्प, सुख-दु:ख को छोड़कर निर्विकल्प हो जाओ। यही निर्विकल्पता निर्विकल्प दशा को प्राप्त कराने में भी सहयोगी होगी।

पज्जत्तापज्जत्तावत्था-रहिदो हं॥58॥

अर्थ–मैं पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था से रहित हूँ।

भावार्थ–आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा के परमाणुओं को शरीर, इन्द्रिय आदि रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। अथवा आहार, शरीर, इंद्रिय आदि व्यापारों में अर्थात् प्रवृत्तियों में परिणमन करने की जो शक्तियाँ हैं, उन शक्तियों के कारण जो पुद्गल स्कंध हैं उन पुद्गल स्कंधों की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं।[2]

---

1. प्रवचनसार/तात्पर्य वृत्ति।
2. आहार-सरीरिंदियणिस्सासुस्सास-भास-मणसाणं।
   परिणइ-वावारेसु य, जाओ छच्चेव सत्तीओ॥134॥
   तस्सेव कारणाणं पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ती।
   सा पज्जत्ती भण्णदि. छब्भेया जिणवरिंदेहिं॥135॥ –का.अ.

जह पुण्णापुण्णाइं, गिह-घड-वत्थादियाइं दव्वाइं।
तह पुण्णिदरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा॥118॥–गो.जी.

जिस प्रकार गृह, घट, वस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं। पूर्ण जीवों को पर्याप्त और अपूर्ण जीवों को अपर्याप्त जानना चाहिए।

जिसके कारण जीव पर्याप्त कहा जाता है वह पर्याप्ति छः प्रकार की है–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन।

1. आहार पर्याप्ति–शरीर नाम कर्म के उदय से जो परस्पर अत्यंत परमाणुओं के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मा से व्याप्त आकाश क्षेत्र में स्थित हैं, ऐसे पुद्गलविपाकी आहारक वर्गणा संबंधी पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्ध के संबंध से कथंचित् मूर्तपने को प्राप्त हुए हैं, आत्मा के साथ समवाय रूप से संबंध को प्राप्त होते हैं, उन खल भाग और रस भाग के भेद से परिणमन करने की शक्ति से बने हुए आगत पुद्गल स्कंधों की प्राप्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

2. शरीर पर्याप्ति–तिल की खली के समान उस खल भाग को हड्डी आदि कठिन अवयव रूप से और तिल तेल के समान रस भाग को रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयव रूप से परिणमन करने वाले औदारिकादि तीन शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गल स्कंधों की प्राप्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

3. इन्द्रिय पर्याप्ति–योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करने रूप शक्ति की उत्पत्ति के निमित्तभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को इंद्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

4. आनपान/श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति–उच्छ्वास और निःश्वास रूप शक्ति की पूर्णता के निमित्तभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को आनपान पर्याप्ति कहते हैं।

5. भाषा पर्याप्ति–भाषा वर्गणा के स्कंधों के निमित्त से चार प्रकार की भाषा रूप से परिणमन करने की शक्ति के निमित्तभूत नोकर्म पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

6. मनः पर्याप्ति–अनुभूत रूप से स्मरण रूप शक्ति के निमित्तभूत मनोवर्गणा के स्कंधों से निष्पन्न पुद्गल प्रचय को मनःपर्याप्ति कहते हैं। अथवा द्रव्य मन के आलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति की उत्पत्ति को मनः पर्याप्ति कहते हैं। जीव के शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होने पर वह अपर्याप्त कहलाता है।

अपर्याप्त के दो भेद हैं–निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त।

निर्वृत्य पर्याप्त–जिन जीवों की पर्याप्ति पूर्ण अवश्य होंगी किन्तु अभी तक हुई नहीं, वे निर्वृत्यपर्याप्त कहलाते हैं।

पज्जत्तस्स य उदये, णियणियपज्जत्ति णिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्तियपुण्णगो ताव॥121॥–गो.जी.

पर्याप्ति नामकर्म के उदय से एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों की संपूर्णता की शक्ति से युक्त होते हैं। जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उतने काल तक अर्थात् एक समय कम शरीर पर्याप्ति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्वृत्य अपर्याप्त कहते हैं।

लब्ध्यपर्याप्त–जिन जीवों की शरीर पर्याप्ति पूर्ण हुई नहीं और होगी भी नहीं, अर्थात् जो पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे वे लब्ध्यपर्याप्त कहलाते हैं।

उदये दु अपुण्णस्स य, सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि।
अंतोमुहुत्तमरणं, लद्धिअपज्जत्तगो सो दु॥122॥ –गो.जी.

अपर्याप्त नामकर्म के उदय से एकेंद्रियादि जो जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं वे लब्धि अपर्याप्त कहे जाते हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम कर्मोजनित पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था से हीन हो। यह शरीरादिक भी तुम्हारा नहीं है। प्रिय आत्मन्! बाह्य पदार्थों का त्याग कर निज आत्म तत्त्व में रुचि करो। पर्याय बुद्धि का त्याग कर द्रव्य दृष्टि करो। अनादिकाल से निज स्वरूप से विचलित होने के कारण स्थिरता को न प्राप्त करते हुए विभिन्न प्रकार के दुःखों को उठा रहे हो अब कुछ ऐसा उपाय करो जिससे इन दुःखों की संतति अनंतकाल के लिए नष्ट हो जाए।

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने,
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन्।
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे,
भवसि हि परमश्री कामिनी कामरूपः॥38॥–नि.सा./ता.वृ.

विविध प्रकार के दिखाई देने वाले पुद्गल द्रव्य में हे भव्य शार्दूल! तू अनुराग नहीं कर किन्तु चैतन्य चमत्कार मात्र शुद्ध आत्मस्वरूप में अनुपम अनुराग कर। ऐसा करने से ही तू मुक्ति रूपी लक्ष्मी का इच्छित वर हो सकेगा।

चउसण्णा-रहिदो हं॥59॥

अर्थ–मैं चार संज्ञाओं से रहित हूँ।

भावार्थ–वांछा को संज्ञा कहते हैं। **''आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति।**[1] आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। संज्ञा के चार भेद हैं–आहार, भय, मैथुन व परिग्रह।

1. सर्वार्थसिद्धि

आहार संज्ञा–विशिष्ट अन्नादि में संज्ञा अर्थात् वांछा का होना आहार संज्ञा है। बहिरंग में आहार के देखने से, उसके उपयोग से और उदर रूप कोष्ठ के खाली होने पर तथा अंतरंग में असाता वेदनीय की उदीरणा होने पर आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।[1]

भय संज्ञा–अत्यंत भय से उत्पन्न भागकर छिप जाने आदि की इच्छा ही भय संज्ञा है। बहिरंग अति भयानक देखने से, उसके उपयोग से, शक्ति की हीनता होने पर, अंतरंग में भय कर्म की उदीरणा होने पर भयसंज्ञा उत्पन्न होती है।[2]

मैथुन संज्ञा–मैथुन रूप क्रिया में जो वांछा है, वह ही मैथुन संज्ञा है। बहिरंग में गरिष्ठ, स्वादिष्ट और रसयुक्त भोजन करने से, पूर्व भुक्त विषयों का ध्यान करने से, कुशील का सेवन करने से तथा अंतरंग में वेदकर्म की उदीरणा होने पर मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।[3]

परिग्रह संज्ञा–धन-धान्यादि के अर्जन करने रूप जो वांछा है उसे परिग्रह संज्ञा जाननी चाहिए। भोगोपभोग के साधनभूत उपकरणों के देखने से, उनका उपयोग करने से, उनमें मूर्च्छाभाव रखने से तथा लोभ कर्म की उदीरणा होने पर परिग्रह संज्ञा होती है।[4]

मिथ्यात्व गुणस्थान से प्रमत्त गुणस्थान तक संज्ञाएँ होती हैं। अप्रमत्त व अपूर्वकरण में भय, मैथुन व परिग्रह संज्ञा होती है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मात्र मैथुन व परिग्रह संज्ञा रह जाती है। मैथुन संज्ञा इस गुणस्थान के सवेद भाग पर्यन्त रहती है पुनः इसका व्युच्छेद हो जाता है तब सूक्ष्मसांपराय में सूक्ष्म लोभ रह जाने से परिग्रह संज्ञा होती है। इसके ऊपर गुणस्थान में कोई संज्ञा नहीं होती क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

अहो तत्त्ववेत्ता! विभिन्न विभाव परिणामों वा कर्म की उदीरणा से होने वाली संज्ञा तेरा स्वरूप कदापि नहीं हो सकती। जो तुम्हारा है ही नहीं उसकी वांछा करना सद्ज्ञान का तो परिचायक नहीं, वह तो मूढ़ता है। और तुम तो अपार ज्ञान के महासागर हो तब सांसारिक सुखों की ओर क्यों दौड़ते हो? संसार मार्ग से पराङ्मुख होकर मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ होओ।

क्वचिद् व्रजति कामिनीरति समुत्थ सौख्यं जनः,
क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो,
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः॥9॥ –नि.सा./ता.वृ.

1. आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
साददिरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु॥135॥ –गो.जी.
2. अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं॥136॥ –गो.जी.
3. पणिदरसभोयणेण य, तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं॥137॥ –गो.जी.
4. उवयरणदंसणेण य, तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए, परिग्गहे जायदे सण्णा॥138॥ –गो.जी.

मन्दबुद्धि प्राणी कहीं तो स्त्रियों के संभोग से उत्पन्न हुए सुख की ओर दौड़ता है और कहीं धन की रक्षा करने में बुद्धि लगाता है पर जो बुद्धिमान् जिनेन्द्रदेव का मार्ग पाकर निज आत्मा में लीन होता है वही इस मुक्ति को प्राप्त करता है।

सव्वाजोणि-रहिदो हं।।60।।

अर्थ–मैं सर्व योनियों से रहित हूँ।

भावार्थ–उत्पत्ति के स्थान को योनि कहते हैं। अथवा उपपाद देश के पुद्गल प्रचय रूप योनि है।[1] आकार की अपेक्षा यह तीन प्रकार की है–शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र। शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नष्ट हो जाता है। कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्री, अर्धचक्री, प्रतिवासुदेव और बलदेव ये उत्पन्न होते हैं और शेष योनियों में शेष मनुष्यादि पैदा होते हैं। ये सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, ऊष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत व संवृतविवृत के भेद से नौ प्रकार की है। एकेन्द्रिय, नारकी, देव इनके संवृत योनि है, दो इन्द्रिय से चौइन्द्री तक विवृत योनि है और गर्भजों के संवृतविवृत योनि है। अचित्त योनि देव और नारकियों के होती है, गर्भजों के मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है और शेष संमूर्च्छनों के तीन ही योनि होती हैं। नारकी और देवों के शीत, ऊष्ण योनि है, तेजकायिक जीवों के उष्ण योनि है और शेष एकेन्द्रियादि के तीनों प्रकार की योनि हैं।

इन्हीं सचित्तादि के प्रभेद कर 84 लाख योनियाँ हो जाती हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, जलकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, अग्निकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, वायुकायिक जीवों के सात लाख योनियाँ, नित्यनिगोदिया जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, चतुर्गति निगोदिया जीवों के सात लाख योनियाँ हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनियाँ हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनियाँ हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनियाँ हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनियाँ हैं, नारकियों के चार लाख योनियाँ हैं, तिर्यंचों के चार लाख योनियाँ हैं और मनुष्यों के चौदह लाख योनियाँ हैं।[2]

अहो तत्त्ववेत्ता! राग-द्वेषादि के वशीभूत हो विभिन्न जातियों में जन्म लेते हुए संसार में परिभ्रमण करना तेरा स्वभाव नहीं है। जिन कार्यों को करने से संसार का वर्द्धन होता है उन समस्त कार्यों का विरोध करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को धारण कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होओ। शुद्ध रत्नत्रय रूप परिणति ही मोक्ष का उपाय है। स्वात्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन, स्वात्मा का ज्ञान ही

---

1. योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयः। – स.सि.
2 णिच्चिदरधादुसत्तय, तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुर णिरयतिरिय चउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा।।35।। –बा.अ.

सम्यग्ज्ञान और स्वात्मरूप में स्थिरता ही सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार इन तीनों को जो धारण करते हैं वे पुन: गर्भ को प्राप्त नहीं होते।

हे तत्त्ववेत्ता! यदि तुम कर्म शत्रुओं को जीतकर मुक्ति महल पर विजय पताका फहराना चाहते हो तो समस्त बाह्य पदार्थों से आसक्ति को छोड़कर, सर्व द्रव्यों की स्वतंत्र परिणति जानकर चारित्र को अंगीकार करने का पुरुषार्थ करो, सदा-सदा समता रस का पान करो।

तुम्हें तुम्हारे ही कर्म का फल प्राप्त होगा किसी और के कर्म का फल तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकता और तुम्हारे कर्म का फल अन्य नहीं भोगेगा। अत: जो कर्म तुमने किए उनके विपाक समय समता भाव धारण करो जिससे आर्त रौद्र परिणाम कर तुम आगे के किए कर्म का बंध न करो।

मुक्त्यंगना लिमपुनर्भवसौख्यमूलं, दुर्भावनातिमिर संहति चंद्रकीर्तिम्।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां, या संभवा भवति संयमिनामजस्रम्॥

मैं उस समताभाव की निरन्तर भावना करता हूँ जो कि मुक्ति रूपी ललना की सखी है, मोक्ष सुख का मूल कारण है, खोटी-खोटी भावनाओं रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने के लिए चंद्रमा के समान है, स्वयं उत्कृष्ट है और संयमी जन जिसे निरन्तर चाहते हैं।

हे भगवन्! मुझे ऐसे ही समत्व भाव की प्राप्ति हो जिससे मैं श्रेष्ठ चारित्र रूप आचरण कर कर्मों की निर्जरा करने में तत्पर होऊँ।

सव्वकुल-रहिदो हं॥61॥

अर्थ–मैं सर्व कुलों से रहित हूँ।

भावार्थ–शरीर के भेद के कारणभूत नो कर्म वर्गणाओं के समूह को कुल कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल हैं, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रियों में जलचरों के साढ़े बारह लाख करोड़ कुल हैं, आकाश में उड़ने वाले जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं, चौपाये जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं, सरीसृपों के नौ लाख करोड़ कुल हैं, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं, मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल हैं और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। इस प्रकार सब मिलाकर एक कोड़ाकोड़ी सतानवे लाख पचास हजार कुल हैं।[1]

1. कहीं-कहीं मनुष्यों में 14 लाख करोड़ कुल माने हैं, इस प्रकार 199.5 लाख कोटि कुल होते हैं, यह मतान्तर है।

अहो तत्त्ववेत्ता! देह व आत्मा को एक मानकर संसार में अनादिकल से परिभ्रमण किया है। बाह्य पदार्थों को आज तक अपना माना है किन्तु जिन्हें आज तक तुमने अपना माना है, वह तुम्हारा है ही नहीं।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहवि हुण परिग्गहो मज्झ।।209।।–समयसार

यह परद्रव्य छिद जावे या भिद जावे या इसे कोई ले जावे अथवा इसका प्रलय हो जावे या जहाँ कहीं भी चला जावे फिर भी यह परिग्रह मेरा नहीं है।

यथार्थ में मैं इन कुल आदि से रहित हूँ, ये मेरा स्वरूप नहीं हैं। मैं तीन लोक रूपी साम्राज्य का स्वामी हूँ, मेरी आत्मा का अनंत वैभव है। अब पर द्रव्यों को अपना मानने रूप अज्ञान भाव को तजकर उस शुद्धात्मा की भावना करता हूँ जिसके बल से ज्ञानी क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो जाते हैं।

सव्वजादि-रहिदो हं।।62।।

अर्थ–मैं सर्व जातियों से रहित हूँ।

भावार्थ–जो कर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भाव का बनाने वाला है वह जाति नामकर्म है। यह जाति पाँच प्रकार की कही गई हैं–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय।

हे तत्त्ववेत्ता! इंद्रिय विषय की लंपटता रूप से परिणत होने के द्वारा जीव विभिन्न जातियों में उत्पन्न हो भयानक दु:खों को भोगता है। कभी तेरा मन राग में प्रवृत्त होता है तो कभी द्वेष में प्रवृत्त होता है और राग-द्वेष की इसी प्रवृत्ति के कारण संसार की निवृत्ति नहीं हो पा रही है। यदि इसी प्रकार की प्रवृत्ति रही तो तुम्हें तुम्हारा निज आत्म वैभव कैसे प्राप्त हो सकेगा? यदि खजाना चाहते हो तो नक्शे के अनुसार निज पथ का चयन कर आगे बढ़ो। इसी प्रकार निज परमात्म पद को प्राप्त करना चाहते हो तो सर्व संकल्प-विकल्पों को छोड़कर निज परमात्मा का आश्रय लो। अन्यथा संकल्प-विकल्प की लहरों के साथ उन्मज्जन-निमज्जन करता हुआ चित्त संसार सागर में डूब ही जाएगा।

जीव को संसार में फँसा हुआ देखकर करुणापूरित आचार्य भगवन् कहते हैं।

दौर्विध्यदग्धमनसोऽतरुपात्तभुक्ते श्चित्तंयथोल्लसति ते स्फुरितान्तरंगं।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतुस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूति:।।2/12–यश. चं.

हे भद्र! दुर्भाग्य से मन के दग्ध होने पर खाने-पीने आदि के विषय में लालायित होकर तेरा मन दौड़ धूप करता फिरता है। यदि इसी प्रकार से तेरा यह मन परम तेज स्वरूप परमात्मा में लग

जाए तो फिर उस मन का उत्पन्न होना भला व्यर्थ कैसे हो सकेगा? अर्थात् फिर तो तुम्हें परमात्म पद की प्राप्ति हो जाएगी।

लोक में लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र वर्ण को भी जाति कहते हैं, शुद्ध नय से मैं इन सब जातियों से भी रहित हूँ। जीव स्वयं को उच्च जाति का मानकर अहंकार करता है और कभी नीच जाति का मानकर हीन भावना से परिपूरित हो जाता है। हे तत्त्ववेत्ता! इन सब प्रपंचों में क्यों पड़ते हो? यह सब तुम्हारा स्वभाव नहीं है। जीव जिस कार्य को करता है, उसी जाति का लोक में कहलाता है जैसे स्वर्ण का काम करने वाला स्वर्णकार, लोहे का कार्य करने वाला लुहार इत्यादि। किन्तु यह सब भी मेरा स्वभाव नहीं है, मैं इन सबसे अत्यंत भिन्न हूँ। मैं स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध, अविकारी, अविनाशी व नित्य हूँ। मैं सर्व बाह्य विकल्पों को त्यागकर निज स्वभाव की प्राप्ति के लिए गुरु के द्वारा बताए गए मार्ग पर अग्रसर होता हूँ, रत्नत्रय को विशुद्धि पूर्वक धारण करता हुआ निज आत्मतत्त्व में लीन होता हूँ।

सव्वज्झाण-रहिदो हं॥63॥

अर्थ– मैं सर्व ध्यान से रहित हूँ।

भावार्थ–एक विषय में चिन्तन के रुकने को ध्यान कहते हैं। चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।[1] अथवा इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं।[2] ध्यान चार प्रकार का होता है–आर्त्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल ध्यान। आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान ये दो अप्रशस्त तथा धर्म व शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं।

जीवों के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्त्वों के अयथार्थ रूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ ध्यान अप्रशस्त व असमीचीन है। तथा पुण्य रूप आशय के वश से तथा शुद्ध लेश्या के आलंबन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप चिन्तवन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त है।

आर्त्तध्यान–आर्त्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से 'ऋत' का अर्थ दु:ख है और 'अर्ति' का 'अर्दनं अर्ति:' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है इसमें जो होता है वह आर्त्त ध्यान है।[3]

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम्।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानार्त्तुर्यमंगिनाम्॥25/24॥–ज्ञानार्णव

पहला आर्त्तध्यान (अनिष्ट संयोग) तो जीवों के अनिष्ट पदार्थों के संयोग से होता है। दूसरा आर्त्तध्यान (इष्ट वियोग) इष्ट पदार्थ के वियोग से होता है। तीसरा आर्त्तध्यान (पीड़ा चिंतन) रोग

1. चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्। –स.सि.
2. अन. ध.; 3. स.सि.

के प्रकोप की पीड़ा से होता है और चौथा आर्त्तध्यान निदान आगामी काल में भोगों की वांछा के होने से होता है।

रौद्र ध्यान–चोर-जार-शत्रुजनों के वध-बन्धन संबंधी महाद्वेष से उत्पन्न होने वाला रौद्र ध्यान है। तीव्र कषाय के उदय से हिंसा में आनंद मानना पहला हिंसानंदी रौद्रध्यान है। जिन पर दूसरों को श्रद्धा न हो सके ऐसी अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पना की हुई युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिए झूठ बोलने के संकल्प का बार-बार चिंतवन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है। जबरदस्ती अथवा प्रमाद की प्रतीक्षापूर्वक दूसरे के धन को हरण करने के संकल्प का बार-बार चिंतवन करना तीसरा रौद्रध्यान है। चेतन-अचेतन रूप अपने परिग्रह में 'यह मेरा परिग्रह है, मैं इसका स्वामी हूँ', इस प्रकार ममत्व रखकर उसके अपहरण करने वाले का नाश कर उसकी रक्षा करने के संकल्प का बार-बार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानन्द नाम का चौथा रौद्र ध्यान है।[1]

हे तत्त्ववेत्ता! ये आर्त्त, रौद्र ध्यान दुर्गति के कारण हैं। इनका आश्रय लेने वाला जीव नियम से तिर्यंच वा नरक गति में पहुँच वहाँ के असह्य दु:खों को सहन करता है। जो अनिष्ट पदार्थ का संयोग हुआ है वह पूर्व पाप कर्म का ही फल जानो। दु:ख व पीड़ा से हाय-हाय कर क्यों पाप कर्मों को निमंत्रण देते हो। इष्ट का वियोग हुआ तो हे तत्त्ववेत्ता! जानो... प्रत्येक संयोग के साथ वियोग जुड़ा हुआ है। दिन-रात उसी के विषय में सोचकर रुदन करके दुर्गतियों का द्वार खोल लेते हो। अथवा शरीर के स्वभाव को जानकर प्रति समय समता युत रहने का प्रयास करो। एक ही रोग को लेकर दिन-रात रोने से रोग तो ठीक नहीं होगा अपितु आर्त्तध्यान पुण्य रूपी रुई के ढेर में चिंगारी के समान कार्य करेगा।

प्रिय चेतना! आगामी भोगों की आकांक्षा कर क्यों भिखारी बनते हो, तुम तो अपरिमित आत्म निधि के स्वामी हो। हिंसा, झूठ, चोरी वा परिग्रह एकत्रित कर आनंद मनाना, सिद्ध प्रभु के वंशज का यह कार्य हो ही नहीं सकता। यह दोनों ही ध्यान तेरा स्वभाव नहीं हैं।

धर्मध्यान–जिससे धर्म का परिज्ञान होता है वह धर्मध्यान का लक्षण समझना चाहिए। यह आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का होता है। पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञाग्राह्य अन्य जितने पदार्थ हैं उनका यह आज्ञाविचय ध्यान के द्वारा चिन्तवन करता है। अपने या पर के रागादि भाव जो दु:ख के मूल हैं उनके विनाश होने का चिन्तवन करना अपायविचय धर्मध्यान है। कर्मों के फल के सम्बन्ध में संवेगवर्द्धक चिन्तवन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। लोक के आकार, काल आदि के आश्रय जीव के परिभ्रमणादि विषयक असारता का चिन्तवन करना व अरिहंत, सिद्ध, मन्त्र, पद आदि के आश्रय से तत्त्वचिन्तवन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

---

1. चारित्रसार-170/2

शुक्ल ध्यान–जहाँ गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मों का क्षय और उपशम होता है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। अर्थ, योग व शब्दों के परिवर्तन सहित श्रुत के चिन्तवन को पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान कहते हैं। एक ही अर्थ में एक ही योग से उन्हीं शब्दों में श्रुत के चिन्तवन को एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान कहते हैं। सयोग केवली के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जबकि बादर योग भी नष्ट हो जाता है तब सूक्ष्म काययोग से भी दूर होने के लिए जो योग, उपयोग की स्थिरता है उसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान कहते हैं। समस्त योग नष्ट हो चुकने पर अयोग केवली के यह व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह दोनों प्रशस्त ध्यान भी तेरा स्वभाव नहीं हैं। तुम टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी हो। तुम अविनश्वर, नित्य, निरंजन, विभाव पर्यायों से हीन, पुण्य-पाप से विहीन, निर्मोही, निष्पाप, पर परिणति से रहित हो।

णवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥181॥–नियमसार

जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्त्तरौद्र ध्यान है और न धर्म, शुक्ल ध्यान है वहीं निर्वाण होता है।

मैं निजभाव से भिन्न समस्त विभाव भाव का त्याग कर चैतन्य मात्र, निर्मल एक शुद्धात्मा का ही चिंतन करता हूँ और संसार समुद्र से पार होने के लिए अभेद रूप तथा मुक्ति के मार्ग स्वरूप उसी शुद्ध आत्मा की निरन्तर स्तुति करता हूँ। –नि.सा./ता.वृ.

सुहासुहसुद्धुवजोग-रहिदो हं॥64॥

अर्थ–मैं शुभ, अशुभ व अशुद्ध उपयोग से रहित हूँ।

भावार्थ–चेतना की परिणति विशेष को उपयोग कहते हैं। यह शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार का है। देव, गुरु और यति की पूजा में तथा दान में एवं सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है। जो जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों की श्रद्धा करता है और जीवों के प्रति अनुकंपा युक्त है, उसके यह शुभ उपयोग है।[1] जिसका उपयोग विषय-कषाय

1. देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥69॥
जो जाणादि जिणिंदे, पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥157॥ –प्र.सा.

में अवगाढ़, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, उग्र है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है, उसके अशुभोपयोग है।[2] अथवा कषाय रूप अग्नि से प्रज्ज्वलित और इंद्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है।[3]

ये शुभ व अशुभ उपयोग दोनों ही अशुद्धोपयोग के भेद कहे जाते हैं। शुभोपयोग पुण्य के आस्रवभूत है और अशुभ भाव पाप के आस्रवभूत हैं।

जिन्होंने पदार्थों और सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त हैं; जो वीतराग हैं और जिन्हें सुख-दु:ख समान हैं, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।[4]

मिथ्यादष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभ उपयोग रहता है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक और प्रमत्तसंयत नामक जो तीन गुणस्थान हैं, इनमें परम्परा से शुद्ध उपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक 6 गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेश शुद्ध नय रूप शुद्ध उपयोग वर्तता है।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह सब तेरा स्वरूप नहीं है। तुम तो राग-द्वेष से रहित, पुण्य-पाप से रहित हो। अत: सदा समता भाव धारण करो। किसी के कुछ कहने से इतने शीघ्र विचलित क्यों हो जाते हो? क्या स्वभाव में स्थिर रहने का प्रयास भी नहीं करोगे? करोगे ना। तब देखना यदि आपके समक्ष कोई प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो तो अपने समता रूप स्वभाव को नहीं छोड़ना। यही समता रूपी देवी की आराधना से मोक्ष दुर्ग में प्रवेश पा सकोगे।

अनशनादितपश्चरणैः फलं, समतया रहितस्य यते र्न हि।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं, भज मुने समताकुलमंदिरम्॥–अमृताशीति

समता से रहित यति को अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा निश्चित रूप से फल नहीं है इसलिए हे मुने! समता का कुल मन्दिर ऐसे इस आकुलता रहित निज तत्त्व को तुम भजो।

---

2. विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्त-दुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥158॥ –प्र.सा.
3. कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
संचिनोति मन: कर्म जन्मसंबंधसूचकम्॥2/4॥ –ज्ञानार्णव
4. सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥14॥ –प्र.सा.

पंचविहसंसार-रहिदो हं॥65॥

अर्थ– मैं पाँच प्रकार के संसार से रहित हूँ।

भावार्थ–संसरण अर्थात् जन्म-मरण करने का नाम संसार है। वा कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है।[1] अथवा जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है इस प्रकार अनेक बार शरीर को ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व कषाय वगैरह से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण होता है, परिभ्रमण होता है, उसे संसार कहते हैं।[2]

यह संसार पाँच प्रकार का है–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। कर्म और नोकर्म वस्तु और विषयाश्रय के भेद से द्रव्य संसार चार प्रकार का है। स्वक्षेत्र और परक्षेत्र के भेद से क्षेत्रसंसार दो प्रकार का है। लोकाकाश के समान असंख्य प्रदेशी आत्मा को कर्मोदय वश संहरणविसर्पण स्वभाव के कारण जो छोटे-बड़े शरीर में रहना है वह स्वक्षेत्र संसार है। सम्मूर्च्छन, गर्भ, उपपाद आदि नौ प्रकार की योनियों के आधीन परक्षेत्र संसार है। काल व्यवहार और परमार्थ के भेद से दो प्रकार का है। परमार्थ काल के निमित्त से होने वाले परिस्पन्द और अपरिस्पन्द रूप परिणमन जिनमें व्यवहार काल का विभाग भी होता है काल संसार है।

भव निमित्त संसार बत्तीस प्रकार का है–सूक्ष्म, बादर और पर्याप्त व अपर्याप्त के भेद से चार-चार प्रकार के पृथ्वी, जल, तेज और वायुकायिक; पर्याप्तक और अपर्याप्तक प्रत्येक वनस्पति, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार साधारण वनस्पति पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो-दो प्रकार के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार पंचेंद्रिय इस प्रकार बत्तीस प्रकार का भव संसार है। भाव निमित्तक संसार के दो भेद हैं–स्वभाव और परभाव। मिथ्यादर्शनादि स्वभाव संसार है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों का रस परभाव संसार है।

इन्हीं पाँच प्रकार के संसार में जीव अतीत अनंतकाल से परिभ्रमण कर रहा है। अहो तत्त्ववेत्ता! एक भी क्षेत्र ऐसा नहीं जहाँ तुमने जन्म-मरण न किया हो, एक भी समय ऐसा नहीं जब देह की उत्पत्ति व विनाश न हुआ हो। एक भी (मिथ्यात्व सहित) पर्याय ऐसी नहीं जो तुमने प्राप्त न की हो अब थोड़ा विश्राम लो। अहो करुणा के भंडार! निजात्मा पर थोड़ी करुणा करो। कब तक उसे भव में रुलाते रहोगे। क्या पौद्गलिक वस्तुओं के बीच तुम्हें तुम्हारी आत्मा की पुकार सुनायी नहीं देती या सुनना नहीं चाहते। उसे सुनो... फिर सुनो... फिर सुनो...।

1. कर्म विपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। –स.सि.
2. एक्कं चयदि सरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
   पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुबारं॥32॥
   एवं जं संसरणं णाणा-देहेसु होदि जीवस्स।
   सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहिं जुत्तस्स॥33॥ –का.अ.

वह कह रही है इस संसार में परिभ्रमण करना मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो अनंत शक्ति का धारक और अनंत गुणों का पुंज हूँ।

अहो तत्त्ववेत्ता! स्वयं को पहचान कर निज आत्मा पर श्रद्धान कर उसी में लीन होने का पुरुषार्थ करो। आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार जी में दृष्टांत देते हुए कहा है कि जैसे कोई पुरुष राजा को जानकर उस पर विश्वास करता है पुनः धन का इच्छुक हुआ प्रयत्नपूर्वक उस राजा की सेवा करता है इसी प्रकार से जीव रूप राजा को जानना चाहिए व उसी प्रकार श्रद्धान करना चाहिए और पुनः उसी जीव राजा की सेवा करनी चाहिए।[1]

मैं संसार के क्षय के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को विशुद्ध करता हुआ निज आत्मा में ही निरन्तर वर्तन करता हूँ। उसी की चर्चा व उसी में चर्या करता हूँ।

जम्म-जरा-मरणरोय-रहिदो हं॥66॥

अर्थ– मैं जन्म, जरा व मृत्यु रोगों से रहित हूँ।

भावार्थ–एक पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय में उत्पन्न होना अथवा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना जन्म है। **'प्राणग्रहणं जन्मः'**[2] प्राणों का ग्रहण करना जन्म है। संसारी जीवों के जन्म के तीन भेद हैं–सम्मूर्च्छन, गर्भज और उपपाद। इधर-उधर से कुछ परमाणुओं के मिश्रण से जो स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, वे संमूर्च्छन हैं। तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे देह का चारों ओर से मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है।[3]

माता का रुधिर और पिता का वीर्य रूप पुद्गल का शरीर रूप ग्रहण कर जीव का उपजना गर्भ जन्म है।[4] प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं।[5] यह उपपाद जन्म मात्र देव और नारकियों के होता है। गर्भ जन्म जरायुज, अंडज व पोतज के भेद से तीन प्रकार का है। विकलेन्द्रिय व एकेन्द्रिय सम्मूर्च्छन ही होते हैं। मनुष्य और तिर्यंच यथासम्भव गर्भज और सम्मूर्च्छन होते हैं।

बुढ़ापा को जरा कहते हैं। तिर्यंचों और मनुष्यों का आयुकृत देह विकार जरा है।[6] आयु का क्षीण हो जाना मरण कहलाता है। अथवा अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इंद्रियों का और

---

1. 20-21 गाथा। – समयसार
2. भ.आ./वि.
3. त्रिषुलोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनमवयव-प्रकल्पनं। –स.सि.
4. जायमानजीवेनं शुक्रशोणितरूपपिण्डस्य गरणं। –गो.जी./जी.प्र.
5. उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। –स.सि.
6. तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा। –नि.सा./ता.वृ.

मन, वचन, काय इन तीन बलों का कारण विशेष मिलने पर नाश होना मरण है।[7] मरण के दो भेद हैं–नित्य मरण व तद्भव मरण। प्रतिक्षण आयु आदि प्राणों का बराबर क्षय होते रहना नित्य मरण है और नूतन शरीर पर्याय को धारण करने के लिए पूर्व पर्याय का नष्ट होना तद्भव मरण है।[8]

मरण के पाँच भेद भी हैं–पंडित-पंडित, पंडित, बालपंडित, बाल और बाल-बाल। क्षीण कषाय केवली भगवान् का पंडित-पंडित मरण होता है। चारित्रवान् मुनियों के पंडित मरण होता है। विरताविरत जीव का मरण बाल-पंडित मरण है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के मरण को बाल मरण कहते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल-बाल मरण कहते हैं।

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नोगतिर्वा।
तदतिविशद चित्तैलभ्यतेङ्गेऽपि तत्त्वम्,
गुरुगुणगुरुपादाम्भोज-सेवाप्रसादात्॥56॥ –अमृताशीति।

जिसमें ज्वर-जन्म और जरा की पीड़ा नहीं है, जिसका मृत्यु पराभव नहीं कर सकती एवं जो गति-आगति से रहित है वह परमतत्त्व, गुणों से श्रेष्ठ गुरुओं के चरण कमलों की सेवा के प्रसाद से हम लोगों के भी अतिशय निर्मल चित्त में प्राप्त किया जा सकता है।

हे तत्त्ववेत्ता! जन्म-जरा-मृत्यु ये आत्मा के महारोग हैं। तुम इन सब रोगों से सदा विहीन हो। रत्नत्रय की महौषधि के द्वारा ही इन महारोगों का नाश संभव है।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम संसार वा कर्मों को नष्ट करने वाली शक्ति से युक्त हो। यदि संसार रूपी बेल के मूल को काटना चाहते हो तो गुरु का मार्गनिर्देशन पा रत्नत्रय रूप कुठार को धारण करो। निज आत्म तत्त्व को जानो और उसी में लीन होओ।

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं,
मुक्ति श्री ललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।
बुद्ध्येत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा,
सोऽयंत्यक्तबहिःक्रियोमुनिपतिःपापाटवीपावकः॥255॥–नियमसारकलशकाव्य

निज आत्मा में स्थिर रहने वाला तथा सांसारिक दुःखों को दूर करने वाला यह चारित्र मुक्ति रूपी लक्ष्मी से उत्पन्न होने वाले उत्कृष्ट सुख का कारण है ऐसा समझकर जो सदा निष्पाप समयसार को जानता है वह बाह्यक्रियाओं को छोड़ने वाला मुनीश्वर पाप रूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि के समान है।

---

7. स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्। –स.सि.
8. राजवार्तिक 7/22

घादपडिघाद-रहिदो हं॥67॥

अर्थ–मैं घात-प्रतिघात से रहित हूँ।

भावार्थ–किसी पदार्थ के द्वारा पदार्थ का नष्ट होना वा चोटादि पहुँचना घात है। व एक मूर्तिक पदार्थ का दूसरे मूर्तिक पदार्थ के द्वारा जो व्याघात होता है, उसे प्रतिघात कहते हैं।[1] हे तत्त्ववेत्ता! यह आत्मा घात व प्रतिघात दोनों से रहित है।

मेरा आत्मा जैसा है सदा वैसा ही रहेगा। उत्पत्ति, नाश आदि शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा को किसी भी प्रकार से नष्ट नहीं किया जा सकता। मेरी आत्मा शुद्ध निश्चय नय से कर्मों से विमुक्त शुद्ध है। वह एक परमात्मा ही मेरा है, जो कि नित्य है, स्वाभाविक-उत्कृष्ट चैतन्य-चिन्तामणि स्वरूप है। अत्यन्त शुद्ध है एवं सीमा रहित स्वकीय दिव्य ज्ञान और दिव्य दर्शन से सम्पन्न है। अनेक विकल्पों से भरे हुए बाह्य भावों से मेरा क्या प्रयोजन है?[2] मैं इन सभी बाह्य भावों से परे हूँ। शुभ-अशुभ कर्मों के संयोग से होने वाले बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह रूप जितने भी भाव हैं, वे सब बाह्य हैं, मुझसे भिन्न हैं। मैं जन्म-मरण से हीन, घात-प्रतिघात से विहीन निज आत्म तत्त्व का ही चिंतन करता हूँ जिससे आत्मसुख को प्राप्त कर सकूँ।

अजीवत्तपरिणाम-रहिदो हं॥68॥

अर्थ–मैं अजीवत्व परिणाम से रहित हूँ।

भावार्थ–ज्ञान-दर्शन चेतना व उपयोग युक्त जीव है। **''चेतनालक्षणो जीवः''** इससे विपरीत जिसमें चेतना नहीं पायी जाती वह अजीव है। अथवा जिसमें उपयोग के साथ रहने वाली, यथोक्त लक्षण वाली चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित, प्रतिभासित होता है वह अजीव है।[3] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य तथा पुद्गल द्रव्य ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। अजीव द्रव्य में अजीवत्व परिणाम ही होता है। किन्तु जीव इन अजीवत्व परिणामों से रहित है।

यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥21॥–वृहद द्रव्यसंग्रह

1. मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतिघातः। –स.सि.
2. नि.सा./ता.वृ.
3. प्र.सा./त.प्र.

हे तत्त्ववेत्ता! इन उपर्युक्त लक्षणों में शुद्ध स्वभाव है, वही तू है। यह अजीवत्व परिणाम तेरे हैं ही नहीं। सदा सर्वकाल जीवत्व परिणामों से युक्त निज शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने का उद्यम करो। अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को विशुद्ध करो। रत्नत्रय को संसार के वृक्ष को छेदने वाली कुठार समझो और उसकी निरन्तर बढ़ती हुई विशुद्धि मानो उस कुठार की धार को पैना करना ही है। अत: हे प्रिय आत्मन्! उन्हीं कार्यों को करने में प्रवृत्त हो जिनसे रत्नत्रय विशुद्ध हो। पुन: सर्व पुण्य-पाप का त्याग कर निज आत्मा में निमग्न होओ।

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं,
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम्।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चै: त्रिभुवनजनैरर्चित: सन् जिन: स्यात्।।215।।–नि.सा./ता.वृ.

जो सांसर के मूलभूत सर्वप्रकार के पुण्य-पाप को छोड़कर नित्यानन्दरूप सहज चैतन्य भाव को प्राप्त होता है, शुद्ध जीवास्तिकाय रूप उसी जीव में निरन्तर सम्यग्दर्शन का विहार होता है और वही बाद में त्रिभुवन के लोगों से पूजित होता हुआ जिनेंद्र होता है।

सव्व-दव्वभावकम्मासव-रहिदो हं।।69।।

अर्थ–मैं सर्व द्रव्य व भाव कर्मास्रव से रहित हूँ।

भावार्थ–कर्मों का आना मात्र आस्रव है। आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आता है उस परिणाम को भावास्रव कहते हैं। एवं ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसे द्रव्यास्रव जानना चाहिए। हे तत्त्ववेत्ता! निश्चय से यह आस्रव तेरा स्वभाव नहीं है। आस्रव आत्मा से पृथक्भूत है। आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि आत्मा और आस्रव इन दोनों में जब तक भेद नहीं जानता है तब तक यह जीव अज्ञानी हुआ क्रोध आदि कषायों में प्रवृत्ति करता रहता है। पुन: क्रोधादि भावों में वर्तन करते हुए उस जीव के कर्मों का संचय होता है और इस प्रकार कर्मों का बंध होता रहता है।[1]

जब इस जीव को आत्मा और कर्मास्रवों का विशेष अंतर वा परस्पर का भेद ज्ञात हो जाता है तब उसको कर्म बंध नहीं होता।[2] हे तत्त्ववेत्ता! आस्रव अत्यंत दु:ख का कारण है। कषायादि को

1. जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी तावदु सो, कोहादिसु वट्टदे जीवो।।69।।
कोहादिसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं।।70।।
2. जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं, तु तइया ण बंधो से।।71।। –समयसार

करते हुए अभी तक इस जीव ने कर्मों का आस्रव ही किया है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग व कषायों से कर्मों का आस्रव कर स्वभाव से अत्यंत च्युत ही रहा। जिस कारण तुम्हें अनेक दु:खों को भोगना पड़ा।

अहो सलौनी आत्मा! यह आस्रव महान् दु:ख का कारण है। तुम्हारे से अत्यंत भिन्न है अत: इनसे विरक्त हो जाओ।

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीय भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।72।। –स.सा.

आस्रवों के अशुचिपने को, विपरीत भाव को और ये दु:खों के कारण हैं इस बात को जानकर यह जीव उनसे निवृत्त-दूर हो जाता है।

हे तत्त्ववेत्ता! ये आस्रव जीव के साथ बंधे हुए हैं, अध्रुव हैं तथा अनित्य हैं, दु:ख रूप हैं और दु:खमय फल को देने वाले हैं ऐसा जानकर इन आस्रवों से दूर हो।[1] जब तक आस्रव रहेगा तब तक दु:खों की संतति का नाश संभव नहीं है, अनादिकालीन परंपरा का छेद नहीं हो सकेगा। कर्म करते हुए तो ध्यान रखते नहीं हो और फिर विपाक समय दु:ख उठाने पड़ते हैं।

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो, सव्वे एदे खयं णेमि।।73।।–स.सा.

मैं निश्चित ही एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता से रहित हूँ और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ ऐसे उस आत्मा में स्थित हुआ उसी चैतन्य में लीन हुआ मैं इन सभी आस्रवों का क्षय कर देता हूँ।

चउविहकम्मबंध-रहिदो हं।।70।।

अर्थ–मैं चार प्रकार के कर्म बंध से रहित हूँ।

भावार्थ–आत्म प्रदेशों में कर्मों का एकक्षेत्रावगाह संबंध बन्ध कहलाता है।[2]

णिच्चं अप्पदेसेसुं, बंधंति कम्म-वग्गणा।
बंधतच्चं सया णेयं, बंधो भवस्स कारणं।।127।।

–तच्च-सारो (आ. वसुनंदी मुनि)

1. जीवणिबद्धा एदे, अद्धुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य, णादूण णिवत्तदे तेहिं।।74।। –स.सा.
2. आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बन्ध:। –रा.वा.

आत्म प्रदेशों में कर्म वर्गणाओं का बंधना बंध तत्त्व है। यह बंध संसार का कारण जानना चाहिए।

द्रव्य व भाव बंध की अपेक्षा बंध दो प्रकार का जानना चाहिए। कर्म को परतंत्र करने वाले आत्म परिणामों का नाम भाव बन्ध है अथवा क्रोधादि परिणाम भाव बन्ध हैं। एवं कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह द्रव्य बंध है।

बंध प्रदेश, प्रकृति, अनुभाग तथा स्थिति के भेद से चार प्रकार का होता है। ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों के उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्य का स्व-आकार वह प्रकृति बंध है। संख्या का अवधारण अदेश है। कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कंधों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश बंध है। कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति कहते हैं, विविध प्रकार के पाक अर्थात् फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभव है अथवा कर्मों के अपना कार्य करने (फल देने) की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। प्रकृति व प्रदेश बन्ध योग से तथा स्थिति व अनुभाग बन्ध कषाय से होता है।

राग, द्वेष, अज्ञान व मोह से नियम से बंध होता है और उनके द्वारा जीव अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करता है।[2] हे तत्त्ववेत्ता! बंध के कारणभूत रागादि को छोड़े बिना बंध नहीं रुक सकता और बंध के रुके बिना, उसके नाश के बिना निज संसार का क्षय नहीं हो सकता। अत: इन कारणों का त्याग करो।

पुण्य और पाप के भेद से भी बंध दो प्रकार का होता है। शुभ क्रिया, भावादि के द्वारा पुण्य का बंध होता है और अशुभ क्रिया, भावादि के द्वारा पाप का बंध होता है। पाप व पुण्य दोनों ही जीव को संसार में बांधने वाले हैं। जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है वैसे ही सोने की बेड़ी पुरुष को बांधती है। इस प्रकार से जीव किए हुए शुभ या अशुभ कर्मों से बंध जाता है इसलिए हे तत्त्ववेत्ता! तुम कुत्सित कर्मों के साथ राग मत करो और उनका संसर्ग भी मत करो क्योंकि इन कर्मों के प्रति अनुराग से स्वाधीनता का विनाश हो जाता है।[3]

प्रिय चेतना! ''कम्मेसु मा रज्जह'' कर्मों में अनुरक्त मत होओ। निज सहज अवस्था को देखते हुए सहज भाव से सहज चैतन्य विलास निज आत्मा में लीन हो।

ण वि परिणमदि ण गेण्हइ, उप्पज्जइ णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।52।। –प्रवचनसार

आत्मा न तो पदार्थों के आकार परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है सिर्फ जानता है इसलिए अबन्धक-बन्ध रहित कहा गया है।

---

2. रायद्दोस-अण्णाण-मोहेहिं होदि बंधो णियमेण।
   तेहिं भमेदि जीवो, भवम्मि य अणंतकालंतं।।102।। –अप्पविहवो (आ. वसुनंदी मुनि)
3. समयसार 153-154

णो ठिदिबंधट्ठाणा, पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा॥40॥–नियमसार

शुद्ध जीव के न स्थिति बंध के स्थान हैं, न प्रकृति बंध के स्थान हैं, न प्रदेश बंध के स्थान हैं, न अनुभाग बंध के स्थान हैं और न कोई उदय स्थान हैं।

इन चार प्रकार के बंधों का आत्मा में कोई अवकाश नहीं है। अत: आचार्य श्री अमृतचंद्र स्वामी संबोधन देते हुए कह रहे हैं कि जिस आत्मा में ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव ऊपर-ऊपर तैरते रहने पर भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो पाते और जो सब ओर से प्रकाशमान हैं ऐसे समीचीन स्वभाव के धारक उसी शुद्ध आत्मा का यह सारा संसार निर्मोह होकर अनुभव करे।[1]

सव्व-दव्व-भावसंवर-रहिदो हं॥71॥

अर्थ–मैं सभी द्रव्य संवर व भाव संवर से रहित हूँ।

भावार्थ–आस्रव का निरोध संवर है। जैसे नाव के छिद्र रुक जाने पर उसमें जल प्रवेश नहीं करता उसी प्रकार व्रतादि के द्वारा आत्मा में कर्मों का आना रुक जाना संवर है।

आसवस्स णिरोहोत्थि, संवरो खलु पंचहा।
अणुवेक्खा वदं धम्मो, तिगुत्ती समिदी तहा॥129॥–तच्च-सारो

आस्रव का निरोध संवर है और यह संवर पाँच प्रकार का है–धर्म, अनुप्रेक्षा, त्रिगुप्ति, समिति तथा व्रत।

द्रव्य और भाव के भेद से यह संवर भी दो प्रकार का है। संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भाव संवर है और इसका निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्मपुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्य संवर है।[2]

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा के यह संवर नहीं होता आत्मा इन सबसे रहित है। आत्मा निरन्तर निरावरण, निरंजन स्व-स्वभाव में निरत रहता है।

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योत स्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकार स्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥192॥–अमृतकलश

---

1. न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोही भूय सम्यक्स्वभावम्॥11॥ –समयसार कलश
2. संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे-तत्पूर्वकर्म-पुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः॥ –स.सि.

जो प्रतिपक्षी कर्मबन्ध का छेद हो जाने से अतुल्य एवं अविनाशी मोक्ष पद का अनुभव करता है, निरन्तर प्रकाशमान रहता है, जिसमें आत्मा की सहज अवस्था प्रकट हुई है, जो एकान्ततः शुद्ध है। आत्मरस के भार से अत्यन्त गम्भीर एवं धीर है और जो अपनी अविनाशी महिमा में लीन है ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रकाशमान होता है।

अतः हे तत्त्ववेत्ता! अपनी महिमा को जानो, पहचानो। द्रव्य-भाव संवरादि रूप तुम अतिशय स्वरूप है। अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन उसी अविनाशी परमात्म स्वरूप को चिंतन करो। जिन्होंने उस निज स्वरूप को जान लिया है, जो शाश्वत पद प्राप्त कर चुके हैं, वे जिस मार्ग पर चले, तुम भी उस मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करो।

सव्व-दव्व-भावणिज्जरा-रहिदो हं॥72॥

अर्थ–मैं सर्व द्रव्य-भाव निर्जरा से रहित हूँ।

भावार्थ–आत्म प्रदेशों से एक देश कर्म का झरना निर्जरा है।

सव्वेसिं कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा जाण॥103॥–का.अ.

सब कर्मों की शक्ति के उदय होने को अनुभाग कहते हैं। उसके पश्चात् कर्मों के खिरने को निर्जरा कहते हैं।

द्रव्य व भाव के भेद से निर्जरा दो प्रकार की कही गई है। जीव के जिन शुद्ध परिणामों से पुद्गल कर्म झड़ते हैं वे जीव के परिणाम भावनिर्जरा है और जो कर्म झड़ते हैं वह द्रव्यनिर्जरा है।

सविपाक व अविपाक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की होती है। सविपाक निर्जरा संसार के समस्त प्राणियों के होती है और व्रतियों के तपादि से अविपाक निर्जरा होती है।

सा पुण दुविहा णेया, सकाल पक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे विदिया॥67॥–बा.अ.

शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा सर्व निर्जरा से रहित है। जैसे कोई भी चोर यद्यपि मरना नहीं चाहता है फिर भी कोतवाल के द्वारा पकड़ा गया होने से मरण का अनुभव करता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी यद्यपि आत्मा से उत्पन्न हुए सुख को उपादेय जानता है और विषय-सुखों को हेय जानता है फिर भी चारित्रमोह कर्म रूपी तलवर-कोतवाल के द्वारा पकड़ा हुआ होने से उस कर्म का अनुभव करता है इसी कारण से वह (भाव) निर्जरा का निमित्त हो जाता है।[1]

1. समयसार आत्मख्याति टीका से।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम इन द्रव्य-भाव निर्जरा से रहित हो, यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुम शुद्ध चैतन्य आत्मा हो, निज स्वरूप को जानकर उसी आत्मतत्त्व में लीन हो निर्वाण के पात्र बनो। आत्मज्ञान आवश्यक क्यों है तब इसका उत्तर देते हुए आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं–

आत्मज्ञानाद्‌भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण,
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा।
कर्मारण्योद्‌भवदवशिखाजालकानामजस्रं,
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती॥186॥

आत्मज्ञान से मुनियों को क्रमपूर्वक वह आत्म लब्धि अर्थात् उस आत्मा की प्राप्ति होती है जिसमें कि ज्ञान रूप ज्योति के द्वारा इंद्रिय समूह का समस्त घोर अंधकार नष्ट हो चुकता है और जो कर्म रूपी वन में उत्पन्न होने वाली दावानल की ज्वालाओं के समूह को नष्ट करने के लिए निरन्तर जल रूपी धारा को शीघ्र प्रकट करती रहती है।

अतः ऐसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थरत होओ। वही तुम्हारा अनुपम व परम लक्ष्य है।

दव्वभावमोक्खरहिदो हं॥73॥

अर्थ–मैं द्रव्य और भाव मोक्ष से रहित हूँ।

भावार्थ–आत्मा से सर्व कर्मों का वियोग हो जाना, सभी कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष है। सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

विणासो सव्वकम्माणं, ताणं फलाण सव्वदा।
णोपुणोताणबंधोहु,सोमोक्खोजिणसासणे॥132॥–तच्च-सारो

सभी कर्मों का तथा उनके फलों का सर्वदा विनाश होना और पुनः उनका बंध नहीं होना, जिनशासन में मोक्ष कहा गया है।

द्रव्य और भाव के भेद से मोक्ष दो प्रकार का है। क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यात चारित्र नाम वाले (शुद्ध रत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किए जाते हैं उन परिणामों को भाव मोक्ष कहते हैं और संपूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है।

हे तत्त्ववेत्ता! आत्मा न द्रव्यमोक्ष है और न भावमोक्ष है। आत्मा जो है, सो है। आत्मा क्या है और क्या नहीं, इसका कथन व्यवहार मात्र है। वास्तव में उसे कहा नहीं जा सकता।

रहिमन बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहिं
जानत है वो कहत नहीं, कहत सो जानत नाहिं॥

व्यवहार नय मुख मानें और निश्चय नय नेत्र। आत्मा के स्वरूप को निश्चय नय देखता है किन्तु कह नहीं सकता और व्यवहार नय कहता है किन्तु देखता नहीं। जो देख रहा है वह कह नहीं सकता और जो कह रहा है वह देख नहीं सकता। तब आत्मा के स्वरूप को कहना शक्य नहीं।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णायव्वा॥297॥ –समयसार

जो यह चेतन आत्मा है निश्चय से मैं वही हूँ इस प्रकार बुद्धि से ग्रहण करना चाहिए। जो अवशेष भाव हैं वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा जानना चाहिए।

समस्त पर भाव चेतन स्वरूप व्यापक आत्मा को व्याप्त न करते हुए मुझसे अत्यंत भिन्न हैं। इस प्रकार गुरु उपदेश प्राप्त कर मैं समस्त विकल्प जालों को छोड़ निजात्म तत्त्व में लीन होता हूँ।

सव्वफास-रसगंधवण्णसद्द-रहिदो हं॥74॥

अर्थ– मैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द से रहित हूँ।

भावार्थ–ठण्डा आदि स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है। मीठा आदि रस रसना इन्द्रिय का विषय है, सुगंधादि घ्राणेन्द्रिय का विषय है, सफेद आदि वर्ण चक्षु इन्द्रिय का विषय है और शब्द कर्णेन्द्रिय का विषय है। ये इन्द्रियाँ पुद्गल हैं। पौद्गलिक होने से ये सभी मुझसे अत्यंत भिन्न हैं। व्यवहार नय से इन वर्ण को आदि में लेकर गुणस्थान पर्यन्त ये सभी भाव जीव के हैं किन्तु निश्चय नय से ये कोई भी भाव जीव के नहीं हैं।[1]

''जीवस्स णत्थि वण्णो, णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो॥50॥'' –समयसार

जीव के न वर्ण है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है।

आचार्य महाराज ने समयसार जी में उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार मार्ग में लुटते हुए पुरुष को देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है किन्तु कोई मार्ग नहीं लुटता है उसी प्रकार जीव में कर्म और नोकर्मों के वर्णों को देखकर जीव का यह वर्ण है जिनेंद्र ने ऐसा व्यवहार कहा है। यह वर्णादि संसारी प्राणियों के हैं किन्तु संसार से मुक्त हुए जीवों के कुछ भी नहीं। इन स्पर्श, रस, गंध, वर्ण को जीव के मानोगे तो जीव और पुद्गल में क्या अंतर रह जाएगा। कुछ भी नहीं।

एदेहिं य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
णयहुंतितस्सताणिदु,उवओग-गुणाधिगोजम्हा॥57॥–स.सा.

1. ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स॥56॥ –स.सा.

इन वर्णादिकों के साथ जो जीव का संबंध है वह दूध और जल के संबंध जैसा ही मानना चाहिए किंतु उस जीव के वे वर्णादि नहीं होते हैं क्योंकि जीव तो उपयोग गुण से परिपूर्ण है।

अहो तत्त्ववेत्ता! जब ये वर्णादि तुम्हारे हैं ही नहीं तब इन पर अभिमान कैसा? ज्ञानी तो अपनी वस्तु का भी अहंकार नहीं करते और तुम अज्ञानी बन जो तुम्हारे नहीं हैं ऐसे कभी अपने गौर वर्ण पर, तो कभी स्वयं प्राप्त होने वाले मिष्ट भोजन पर, कभी स्पर्शनेन्द्रिय को सुख देने वाले सॉफ्ट कपड़े या मखमली गद्दों पर और कभी निज मीठी वाणी पर, मधुर स्वरों पर अभिमान करते हो। जागो चेतन जागो, अज्ञानता के अंधकार को छोड़ ज्ञान के प्रकाश में प्रवेश करो। परद्रव्यों का परित्याग कर निज शुद्ध आत्मतत्त्व को पहचानो, उसको ही समझो, उसको ही देखो, उसका ही अनुभव करो और उसमें ही लीन होओ।

परदव्वखेत्तकालभाव-रहिदो हं।।75।।

अर्थ– मैं पर द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–इस संसार में जो कुछ भी है वह स्वचतुष्टय की अपेक्षा से ही है, परचतुष्टय की अपेक्षा कुछ भी नहीं है। जो अस्ति है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही है। अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नहीं। जैसे माना एक घड़ा है जो मिट्टी का है। इस क्षेत्र में वर्तमान में यह पर्याय है और रक्तादि वर्तमान भावों से है। तब वह घड़ा जलादि का नहीं है, अन्य क्षेत्र की अपेक्षा नहीं है, उसकी पूर्व पर्याय स्थाणु, कुशूल आदि की अपेक्षा नहीं है और श्वेतादि भावों से नहीं है। मिट्टी उस घड़े का स्वद्रव्य है, उसका अपना क्षेत्र स्वक्षेत्र है, वर्तमान पर्याय स्वकाल है और रक्तादि भाव स्वभाव है। इसके अतिरिक्त सब पर द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव है। परचतुष्टय से प्रत्येक वस्तु नास्ति रूप होती है। उसका अस्तित्व स्वचतुष्टय से ही है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारी यह आत्मा पर द्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल व परभाव से रहित है। पर चतुष्टय से रहित ज्ञानानन्द स्वभावी, चिदानन्दमय, अनाद्यनन्त, निष्कलंक, निराहार, कषाय रहित यह आत्मा सर्वदा ध्याने योग्य है। ऐसी शुद्धात्मा के ध्यान के अभ्यास के लिए मैं निज संयम में दृढ़ होता हूँ। इस श्रेयकारी आत्मा को ही प्रेय के रूप में स्वीकार करता हूँ।

स्त्रीणां भर्ता बलानां हरय इठ धरा भूपतीनां स्ववत्सो,
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चातकानां घनार्णः।
रोगाज्जीर्णाङ्गभाजाममृतमिव नृणां स्वर्निजौकः सुराणां,
वैद्यो रोगातुराणां प्रिय इव हृदि मे शुद्धचिद्रूपनामा।।

जिस प्रकार स्त्रियों को पति, बलभद्रों को नारायण, राजाओं को पृथ्वी, गायों को अपना बछड़ा, चकवी को सूर्य, चातकों को मेघजल, रोग से जीर्ण शरीर वाले को अमृत, देवों को स्वर्ग और रोग पीड़ित मनुष्यों को वैद्य प्रिय होता है उसी प्रकार मेरे हृदय में शुद्ध चिद्रूप नामक आत्मतत्त्व प्रिय है।

पर चतुष्टय से रहित, स्वचतुष्टय से युक्त अत्यंत प्रिय अपनी आत्मा का ध्यान मैं बार-बार उसी के शुद्ध गुणों के प्रकटीकरण के लिए करता हूँ।

णामट्ठावणाइ-णिक्खेव-रहिदो हं।।76।।

अर्थ–मैं नाम, स्थापनादि निक्षेपों से रहित हूँ।

भावार्थ–जो अनिर्णीत वस्तु नामादिक के द्वारा निर्णय करावे उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा नामादिकों में वस्तु को रखने का नाम निक्षेप है।

वत्थूणं हु णामाइ-खेवणं सुजुत्त-मग्गणुसारेण।
णिक्खेवो णादव्वो, रिआविदुं लोयववहारं।।327।।

–वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व) आ. वसुनंदी मुनि

लोक व्यवहार चलाने के लिए सुयुक्त मार्ग के अनुसार वस्तुओं का नामादि क्षेपण करना निक्षेप है।

यह निक्षेप चार प्रकार का है–नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव।

1. नाम निक्षेप–संज्ञा के अनुसार जिसमें गुण नहीं हैं ऐसी वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम निक्षेप कहते हैं।[1]

2. स्थापना निक्षेप–काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्ष निक्षेप आदि में 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं।[2]

3. द्रव्य निक्षेप–भूत और भावी पर्याय का कथन वर्तमान काल में करना द्रव्य निक्षेप जानना चाहिए। जैसे सिद्ध को अरिहंत कहना।[3]

4. भावनिक्षेप–द्रव्य की वर्तमान पर्याय का कथन भावनिक्षेप है, जैसे पूजा करता हुआ पुजारी।[4]

मैं शुद्ध जीवात्मा नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव निक्षेप से भी कहने योग्य नहीं हूँ, निक्षेप के गोचर नहीं हूँ। मैं स्वभावतः शुद्ध हूँ। मैं सर्व पर परिणतियों से रहित हूँ, पर से मेरा कोई संबंध नहीं है।

हे तत्त्ववेत्ता! संसार परिभ्रमण करते हुए बहुत लंबा समय व्यतीत हो गया अतः संसार वर्धन के सर्व कारणों का परित्याग करो। ध्यान की सिद्धि के द्वारा अजर-अमर-अविनाशी अवस्था का शीघ्र दर्शन करो।

1, 2–स.सि.; 3, 4–वयण-पमाणत्तं

सत्तणयरहिदो हं॥77॥

अर्थ–मैं सात नयों से रहित हूँ।

भावार्थ–उच्चारण किए अर्थ, पद और उसमें किए गए निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं इसलिए वे नय कहलाते हैं।[1] अथवा जिस नीति के द्वारा एक देश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है, अर्थात् प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं।[2] **''विकलादेशो नयाधीनः''** वस्तु के एक देश कथन करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। सात नय इस प्रकार हैं–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

नैगम नय–

णेगमो तह संकप्प-मेत्तगाहगो णाणावियप्पाण।
णेगं गच्छदि णिगमो, सो वियप्पो तं गहदि णयो॥388॥–वयण पमाणत्तं

संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला या नाना विकल्पों को ग्रहण करने वाला नैगम नय है। जो एक को प्राप्त नहीं होता वह निगम या विकल्प है। वह विकल्प को ग्रहण करता है इसलिए नैगम नय है।

संग्रहनय–

सजादि-अविरोहेणं, संपुण्ण-पदत्था गहदे जो सो।
संगहो णेयो दुविहो, सामण्णो विसेसो तह सो॥397॥–व.प.

स्वजाति के अविरोधपूर्वक संपूर्ण पदार्थों को जो ग्रहण करता है वह संग्रह नय दो प्रकार का है–सामान्य तथा विशेष।

व्यवहारनय–

संगहगहीदत्थेसु भेयकारगो हु णयो ववहारो।
सामण्ण-विसेसाणं, भेयादु दुविहो णेयो सो॥400॥–व.प.

संग्रहनय से ग्रहण किए पदार्थों में भेद करने वाला व्यवहार नय जानना चाहिए। वह सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुसूत्रनय–

सरलं सुत्तदि कहदे, जो सो उजुसुत्तो संविदिदव्वो।
बेवियप्पो खलु सुहुम-थूलाणं तहा भेयादो॥403॥ –व.प.

---

1. उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
   अत्थं णयंत्ति पच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया॥3॥ –ध. 1
2. नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः। –स्या.मं.

जो सरल को सूचित करता है, सरल को कहता है, वह ऋजुसूत्रनय जानना चाहिए। वह सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो प्रकार का है।

शब्दनय–

संखा-कारगुवग्गह-लिंगादीण वभियारणिवट्टगो।
सद्दणयो चिय जो सो, संविदिदव्वो सण्णाणस्स।।406।। –व.प.

जो संख्या, कारक, उपग्रह और लिंग आदि के व्यभिचार का निवर्तक है, सम्यग्ज्ञान के लिए वह शब्दनय जानना चाहिए।

समभिरूढ़नय–

सद्दाणमणेगत्था, किण्णु पसंगाणुसारेण गहेज्ज।
समभिरूढो णाणत्थमुज्झित्ता गहदि रूढत्थं।।417।। –व.प.

शब्दों के अनेक अर्थ हैं किन्तु प्रसंगानुसार उन्हें ग्रहण करना चाहिए। जो नाना अर्थों का त्यागकर रूढ़ि अर्थ को ग्रहण करता है वह समभिरूढ़ नय है।

एवंभूतनय–

जो पुरिसो जं किरियं, कुणदि याले जम्मि एवंभूदो।
तस्सिं पुरिसे ताइ, किरियारोवगो णादव्वो।।420।। –व.प.

जो पुरुष जिस काल में जो क्रिया करता है उस पुरुष में उस क्रिया का आरोपण करने वाला एवंभूत नय जानना चाहिए।

हे तत्त्ववेत्ता! कोई इस आत्मा को नित्य कहता है तो कोई अनित्य कहता है या किसी ने नित्य व अनित्य इन दोनों ही पक्षों को ग्रहण किया है। किन्तु यह आत्मा किसी भी पक्ष के द्वारा कथनीय नहीं है अत: मैं सप्तनयों के विकल्प से रहित चिदानन्द, ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।69।।–अमृतकलश

जो पुरुष नय के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरन्तर स्थित होते हैं, वे ही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शान्तचित्त हुए साक्षात् अमृत पीते हैं।

दिट्ठसुदाणुभूदभोयकंखा-रहिदो हं॥78॥

अर्थ–मैं दृष्ट, श्रुत, अनुभूत भोगाकांक्षा से रहित हूँ।

भावार्थ–संसारी अज्ञानी प्राणी देखे हुए, सुने हुए अथवा अनुभव किए भोगों की आकांक्षा करता है। वह अज्ञानी जीव भोग के विषय में नहीं जानता कि ये भोग, रोग से अधिक हैं, निन्दनीय हैं, सब अनर्थों के कारण हैं, अतृप्ति को करने वाले हैं, सर्प के समान हैं तथा दुष्कर्म के दायक हैं।[1] किन्तु ज्ञानी भोग के विषय में नित्य ही निःस्पृहवृत्ति रखता है। वह स्वसंवेदन ज्ञानी अनागत में निदानबंध रूप भविष्यत्कालीन भोगों के उदय की आकांक्षा नहीं करता है।

उप्पण्णोदयभोगे, वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥215॥

ज्ञानी उत्पन्न हुए वर्तमान काल के भोगों में नित्य ही वियोग वा हेय बुद्धि रखता है। वह ज्ञानी उदय में आने वाले अनागत भोगों की भी आकांक्षा नहीं करता है।

हे तत्त्ववेत्ता! ख्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षा का त्याग कर विषयसुखों के आनंद की वासना से वासित चित्त को छोड़कर निज आत्म गुणों का चिन्तन करो। आत्मा के गुणों का चिन्तन करते हुए निज स्वात्मोपलब्धि के लिए प्रयत्नशील होओ। जो तुम्हारा नहीं है उसके पीछे दौड़कर वृथा अपनी ऊर्जा व समय नष्ट मत करो। बहुत ही सीमित समय है, उसका सदुपयोग करो, जो अपना है, उसे जानो, पहचानो, मानो और प्राप्त करो। इन भोगों को सर्प के फन के समान जानकर छोड़ दो।

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वरा,
निन्द्यस्थानभवार्तिभावाजनका विद्याविदां निन्दिताः।
नेत्थं चिन्तयतोऽपि मे वतमतिर्व्यावर्तते भोगतः,
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम्॥ –तत्त्वभावना 15

ये भोग सार रहित हैं, सदा दुःख करने वाले हैं, नश्वर हैं, निन्द्य स्थानों में उत्पत्ति के कारणभूत आर्तभावों के जनक हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के लिए निन्दनीय हैं, मैं यद्यपि ऐसा विचार करता हूँ तो भी मेरी बुद्धि भोगों से व्यावृत्त नहीं होती। मैं मूर्ख किससे पूछूँ? किसका आश्रय लूँ और किस विधि उपाय को प्राप्त करूँ।

अभी तक मैं कितना अज्ञानी बना रहा, बड़े-बड़े विधान, पूजन, विविध व्रत-उपवास, जाप आदि करके भी भोगों की ही चाह की। और यदि इच्छित वस्तु की प्राप्ति हुई भी तो भी मेरी तृष्णा दिन-रात बढ़ती गयी। अब जान गया हूँ कि तृष्णा की यह खाई कभी भी भरने वाली नहीं

1. भोगा रोगाधिका निन्द्या विश्वानर्थनिबन्धनाः।
अतृप्तिजनकाः सर्पोपमा दुष्कर्मदायिनः॥ –स.श.सं.

है। मैं कोई भिखारी नहीं जो भोगों को माँगू, इच्छा करूँ, मैं तो तीनों भुवन का स्वामी हूँ, मेरे पास अपार गुण रूपी वैभव है।

अहो! अभी तक भोगों को मैंने सुखकर जाना और जब सत्यता का परिज्ञान हुआ तब भी बार-बार बुद्धि भोगों में पहुँची। किन्तु अब गुरुवर से आत्म स्वरूप को जानकर मैं समझ गया कि ये सभी भोग मेरी आत्मा का अहित करने वाले हैं, संसार में उलझाने वाले हैं अतः मुझे इनसे अब कोई प्रयोजन नहीं। मैं इन सब भोगाकांक्षाओं का त्याग कर शुद्ध चैतन्य रूप परम ज्योति स्वरूप निज आत्म तत्त्व की उपलब्धि हेतु निज साधना में विशुद्ध भाव से अनुरक्त होता हूँ।

सव्व-इड्ढिरहिदो हं।।79।।

अर्थ–मैं सर्व ऋद्धियों से रहित हूँ।

भावार्थ–तपस्या के प्रभाव से प्राप्त विशेष शक्ति ऋद्धि है। बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस, अक्षीण आदि भेद रूप ऋद्धियाँ होती हैं। ये सभी ऋद्धियाँ कर्म के क्षयोपशम से होती हैं। हे तत्त्ववेत्ता! कर्म के क्षयोपशम से होने वाली ये ऋद्धियाँ तुम्हारी आत्मा का स्वरूप कैसे हो सकती हैं। ये तुम्हारी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

तोते के लिए पिंजरा चाहे लोहे का हो या सोने का हो किन्तु वह दोनों में ही बंध को प्राप्त है, परतंत्र है। इसी प्रकार पाप कर्म लोहे के पिंजरे के समान है और क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली पुण्य रूप ऋद्धियाँ सोने के पिंजरे के समान हैं तब मैं इनमें आसक्त कैसे हो सकता हूँ। तोते को चाहे किसी भी पिंजरे में रखो वह उसे कष्टकर ही प्रतीत होगा। उसी प्रकार पुण्य-पाप दोनों ही निजात्म वैभव को पाने के इच्छुक तत्त्ववेत्ता के लिए हेय हैं। ये ऋद्धियाँ पुण्य से प्राप्त चमत्कारिक शक्तियाँ ही तो हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम्हारी आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है। चेतन को छोड़कर जड़ के पीछे दौड़ लगाना असभ्यता है। अपने धन को छोड़कर दूसरों के धन के पीछे दौड़ना कुसंस्कार है। अपनी आत्मा में पड़े हुए पर धन के पीछे दौड़ने वाले अनादिकालीन कुसंस्कारों को छोड़ो। अहो! कहाँ तुम्हारी अनंत शक्ति-गुण-वैभव युक्त आत्मा और कहाँ कर्मजन्य क्षायोपशमिक लब्धियाँ? सोचो, क्या इन नश्वर ऋद्धियों से तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध होगा?

जिस प्रकार कृषक खेत में फसल बोता है तो साथ में घास- तृणादि उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार तपस्या से उत्पन्न ये ऋद्धियाँ जानो। किन्तु हे तत्त्ववेत्ता! संसार की चकाचौंध को देखकर अपने सम्यक् लक्ष्य से कभी भटकना नहीं। तपादि से प्राप्त विशेष उपलब्धियों में आसक्त नहीं होना। यह तो पुद्गल की परिणति है क्योंकि यह पुण्य की अनुचरी, सेविका व दासी है। तुम चैतन्य राजा हो, इस दासी से तुम्हारा कैसा सम्बन्ध? प्रति समय निज शुद्ध स्वभाव का चिंतन करो।

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देव-श्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥144॥–समयसार कलश

यह आत्मा स्वयं अचिन्त्य शक्ति वाला है, देव है, चिन्मात्र चिंतामणि स्वरूप है, जिस हेतु से यह ऐसा है इसलिए ज्ञानी आत्मा संपूर्ण प्रयोजन को सिद्ध करने वाले ऐसे आत्मस्वरूप से इसको धारण करता है। पुनः उस ज्ञानी को अन्य कुछ ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ नहीं।

हे तत्त्ववेत्ता! निज देह मंदिर में स्थित परमात्मा की प्राप्ति के लिए संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होते हुए समता रस का पान कर व्रती, महाव्रती बनकर आत्मध्यान का अभ्यास करो। पुनः दृढ़ अभ्यास कर समस्त कर्मों का क्षय करो।

सरागदंसणणाणचरित्तविमुत्तो हं॥80॥

अर्थ–मैं राग युक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र से रहित हूँ।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। यह सराग व वीतराग के भेद से दो प्रकार का जाना गया है।

सरागं शमसंवेगानुकम्पास्तिक्यलक्षितम्।
आत्मशुद्धिकरं ज्ञेयं वीतरागं तु दर्शनम्॥–स.श.सं.

प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य गुणों से अभिव्यक्त सम्यग्दर्शन सराग सम्यक्त्व है और आत्मशुद्धि को करने वाला दर्शन वीतराग सम्यक्त्व है।

सराग सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सराग सम्यग्ज्ञान होता है।

तत्त्वबोधमनोरोधः श्रेयोरागात्मशुद्धयः।
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने॥

तत्त्वज्ञान, मन का निरोध, आत्महित का राग, आत्मशुद्धि और मित्रता का प्रकाश जिससे हो वह जिनशासन में सम्यग्ज्ञान माना गया है।

मूलोत्तरगुणानां यत्, पालनं मुक्तये मुनेः।
दृशा ज्ञानेन संयुक्तं, तच्चारित्रं न चापरम्॥ –त.ज्ञा.त. 12/15

मुक्ति के लिए मूलगुणों और उत्तरगुणों का जो पालन है वह मुनियों का सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से सहित सम्यक्चारित्र है।

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का कथन व्यवहार से किया है। इस रूप यह मेरा स्वभाव नहीं है। निश्चय से मैं अपनी आत्मा का ही श्रद्धावान् हूँ, अपनी आत्मा का ही ज्ञान करने वाला हूँ और अपनी आत्मा में ही लीन रहने वाला हूँ किन्तु उस आत्मा की श्रद्धा, आत्मा की आत्मा में रुचि उत्पन्न करने के लिए क्या करें? अनादिकाल से यह जीव परपदार्थों के प्रति रुचिवान् रहा है। जो पदार्थ इसके दृष्टिगोचर, कर्णगोचर, रसनागोचर आदि होते हैं उन पदार्थों को देखकर उनके प्रति यह लालायित होता है। उन्हें ग्रहण करने का भाव रखता है। और जो पदार्थ इंद्रियों को अच्छे नहीं लगते उनके प्रति विरक्ति से, द्वेष से भर जाता है। इस प्रकार अनादिकाल से राग-द्वेष करता हुआ मैं अपनी आत्मा के प्रति रुचिवान् कैसे बनूँ?

मैं अब उन पदार्थों से मध्यस्थ भाव कैसे रखूँ? जब तक मैं आत्मतत्त्व को जानूँगा नहीं, तब तक उस आत्म तत्त्व को प्राप्त करने की रुचि मेरे अंदर नहीं होगी। आत्मा को जानने के लिए शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरुओं का उपदेश, भगवान् की वाणी आवश्यक है। इनके माध्यम से ही आत्मा का परिज्ञान संभव है। आत्मा का परिज्ञान ही आत्मा के प्रति रुचि जागृत करने में समर्थ कारण होता है। वीतरागी मुद्रा को देखकर के भी हमें अपनी आत्मा का भान होता है।

जो अपनी आत्मा के प्रति रुचिवान् है, ज्ञानवान् है, आत्मा में लीन है उसे देखकर भी, उससे निःसृत होने वाली वर्गणाएँ भी जीव के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र को तिरोहित करने वाली होती हैं। उन्हें देख करके भी आत्मा के प्रति रुचि व पर पदार्थों के प्रति विरक्ति होती है। वीतरागी मुद्रा के समीप बैठने से हमारी आत्मा में भी वीतरागता के संस्कारों का बीजारोपण होता है।

अतः हे भव्यवर पुण्डरीक! आप तो सरागता से रहित हो। सरागता के साथ विद्यमान चाहे सम्यक्त्व हो, चाहे ज्ञान हो, चाहे चारित्र हो, चाहे सुख हो, चाहे शक्ति हो जो भी गुण सरागता से युक्त हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। वे मेरे शुद्ध स्वभाव कदापि भी नहीं हो सकते। जब सरागता ही मेरा स्वभाव नहीं है तब उसके अविनाभावी रहने वाली अवस्थाएँ मेरा स्वभाव कैसे हो सकती हैं? नहीं हो सकती। अतः हे भद्र पुरुष! इससे रहित अपनी आत्मा का चिंतन करो। शब्दों का व्यापार तो परकल्याण में निमित्त बनता है, आत्म कल्याण के लिए शब्दों के व्यापार की आवश्यकता नहीं है। अहो! बाह्य प्रवृत्तियाँ बाह्य पापों से मुक्ति का साधन हो सकती हैं किन्तु अंतरंग में विकारी भावों के त्याग के लिए शुद्धात्मा में निवास करना परमावश्यक है। अरे! अपनी आत्मा के सुख सागर में गोते लगाकर तो देखो उससे बाहर आने का मन ही नहीं होगा। तुम तो अनंत आनंद के सागर हो। अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानकर उसका पुनः-पुनः ध्यान करो।

णिंदकज्जभाव-रहिदो हं॥81॥

अर्थ—मैं निंद्य कार्य व भाव से रहित हूँ।

भावार्थ—जूआ आदि सप्त व्यसन, हिंसा आदि पाँच पाप आत्मा को पतित करने वाले कार्य निंद्य कार्य कहलाते हैं। इन्हीं अनुरूप कलुषित परिणाम निंद्य भाव हैं। जो व्यक्ति इन कार्यों में लगे हैं वे अपने स्वभाव से बहुत दूर हैं। आत्मा का स्वभाव इन सबसे अत्यन्त पृथक् है। शुद्धात्मा में वा शुद्ध स्वभाव की ओर तीव्रता से गतिशील जीवों में ये निंद्य कार्यादि संभव नहीं हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! इन सब निंद्य कार्यादि को अपनी चेतना से दूर करो। पूर्व कर्मोदय, कुसंस्कार, कुसंगति आदि के कारण यह जीव निंद्य कार्य व भाव से युक्त होता है। जिससे पाप कर्मों का बंध करता हुआ यह जीव नाना प्रकार के भयंकर कष्टों को भोगता है।

''काणि पावफलाणि। णिरय-तिरियकुमाणुस-जोणीसु जाइ - जरा - मरण - वाहि - वेयणा - दालिद्दादीणि॥'' —ध. 1/1

पाप के फल कौन से हैं? नरक, तिर्यंच, कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।

कौन-कौन से कार्य पाप रूप कर्मास्रव में कारण हैं उसे बताते हुए कहते हैं—योगों की वक्रता (कुटिलता), बहुत प्रमाद वाली चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, पर को परिताप करना तथा पर के अपवाद बोलना[1], मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिर चित्त स्वभावता, झूठे बाट तराजू आदि रखना, कृत्रिम स्वर्ण-मणि रत्नादि बनाना, झूठी गवाही, अंगोपांग का छेदन, पिंजरा आदि बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्य हरण, महारंभ, महापरिग्रह, शौकीन वेष, रूपादि का घमण्ड, कठोर असभ्य भाषण, गाली देना, व्यर्थ बकवाद करना, वशीकरण प्रयोग, दूसरे में कौतूहल उत्पन्न करना, भूषणों में रुचि, मंदिर के धूपादि चुराना, लम्बी हँसी, ईंटों का भट्टा लगाना, दावाग्नि जलवाना, प्रतिमायतन विनाश, आश्रय-उपवनादि विनाश, तीव्रकषाय, पाप कर्म जीविका, धर्म वा देव-शास्त्र-गुरु का अवर्णवाद, निर्बल को सताना, जूआ खेलना, शिकार खेलना, मद्य-माँस-मधु आदि अभक्ष्य व मादक पदार्थों का सेवन, कुशील आदि निंद्य कार्य पाप कर्म के बंध के कारण हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! आत्मा को अत्यन्त दु:ख देने वाले ये निंद्य कार्य तथा रौद्र व आर्त्त ध्यानादि अथवा कृष्णादि निंद्य भाव सर्वथा हेय हैं। ये तुम्हारी आत्मा का स्वभाव नहीं है। तुम्हारी आत्मा रूप तुमसे बार-बार चिल्ला-चिल्ला कर कह रही है कि उसे इन पापकर्म रूप कर्मबंधनों में मत डालो। अरे! एक बार तो अपनी भोली चेतना की आवाज सुनो, उसे इन पाप कर्मों व भावों से मुक्त कराओ, उसे कर्म बंधनों से मुक्ति दो।

---

1. चरिया पमादबहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
   परपरिदावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि॥149॥ **—पं.का.**

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्म- सिद्ध्याभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुम्भ एव। –स.सा./आत्म ख्याति टीका/306

प्रथम तो जो अज्ञानी जनों को साधारण ऐसे अप्रतिक्रमणादि (पाप रूप क्रियाएँ) हैं वे तो शुद्धात्मा की सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाले हैं इसलिए स्वयमेव अपराध स्वरूप होने से विषकुम्भ ही हैं। (क्योंकि यह पाप तो सबसे पहले ही त्यागने योग्य है।)

अतः हे भद्र पुरुष! इन सब निंद्य कार्य-भावादि का त्यागकर संयम से अपनी आत्मा का श्रृंगार करो। यही संयम तुम्हें तुम्हारी शुद्ध दशा की ओर ले जाएगा। ये पाप रूप कार्यादि तुम्हारा स्वरूप नहीं है, तुम पुण्य व पाप दोनों से रहित ज्ञायक स्वभावी हो।

सुद्धणयादो संसारस्स सव्वपज्जाय-रहिदो हं॥82॥

अर्थ–शुद्धनय से मैं संसार की सर्व पर्यायों से रहित हूँ।

भावार्थ–कर्मजनित सर्व पर्याय आत्मा की वैभाविक दशा है क्योंकि कर्म सहित आत्मा अशुद्ध है, विभाव रूप है किन्तु सर्व कर्मों से रहित ही आत्मा की शुद्ध दशा है। तब जो पर्याय आत्मा की है वे सभी शुद्ध व स्वभाव रूप होती हैं। द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय भी शुद्ध होंगी और द्रव्य अशुद्ध है तो पर्याय भी अशुद्ध होंगी।

शुद्ध निश्चयनय से मैं सर्व कर्मों से रहित शुद्ध हूँ। संसार की एक भी पर्याय मेरा स्वभाव नहीं है। चार गति में विद्यमान जीवों की पर्याय अनेक प्रकार की होती हैं। अशुद्ध आत्मा में जितने गुण हैं उनकी पर्याय भी बदलती रहती हैं। अशुद्ध पर्याय अनंतानंत हैं। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा ये कोई भी पर्याय मेरी नहीं है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से तो शुद्ध पर्याय भी मेरी नहीं है क्योंकि यह नय मात्र द्रव्य को ग्रहण करता है, पर्याय को नहीं।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम इन समस्त विभाव परिणति से रहित हो, तुम शुद्ध चैतन्यमय हो, तुम शुद्ध द्रव्य हो। इसी का पुनः पुनः चिंतन करो।

येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति, सम्भावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वम्।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्त-सौख्यं, क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धि रूपम्॥ –स.श.सं.

जो आत्मतत्त्व का बार-बार अभ्यास करते हैं, कथन करते हैं, विचार करते हैं और समादर करते हैं, वे शीघ्र ही अविनाशी, परिपूर्ण, अनन्त सुख से सहित तथा नवकेवललब्धि रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

पदिट्ठिदापदिट्ठिद-भावरहिदो हं॥83॥

अर्थ–मैं प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–संसारी जीव के दो भेद हैं–त्रस और स्थावर। त्रस जीवों के तीन भेद हैं–विकलेन्द्रिय व सकलेन्द्रिय। विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं–दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय व चार इन्द्रिय। सकलेन्द्रिय के दो भेद हैं–समनस्क और अमनस्क। स्थावर जीवों के पाँच भेद हैं–पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इनके भी सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त की अपेक्षा भेद हैं। वनस्पतिकाय के दो भेद हैं–साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं–प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित।

प्रतिष्ठित का आशय होता है जिसमें एक शरीर का एक स्वामी हो किन्तु उसके आश्रय से और अन्य जीव रहें। प्रतिष्ठित अर्थात् साधारण शरीर के द्वारा आश्रित किया गया है। अप्रतिष्ठित का आशय है जिसमें एक शरीर का एक स्वामी होता है, उसके आश्रय से कोई अन्य जीव नहीं रहता। अप्रतिष्ठित अर्थात् जो साधारण शरीरों के द्वारा आश्रित नहीं किया गया।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम इन सप्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित दोनों दशाओं, दोनों भावों से रहित हो। शुद्धात्मा न सप्रतिष्ठित है, न अप्रतिष्ठित है, वह तो जैसी है वैसी है। वह न संज्ञी है, न असंज्ञी है। शुद्धात्मा में इनका व्यवहार ही संभव नहीं है। मेरा स्वभाव सिद्धों जैसा ही है। मैं न सप्रतिष्ठित हूँ, न अप्रतिष्ठित हूँ। मैं सिद्धों के समान ही निज श्रेष्ठ परम स्वरूप का चिंतन करता हूँ। शुद्ध स्वरूप का चिंतन ही मुझे शुद्ध दशा की प्राप्ति में सहायक होगा।

यथा लोहं सुवर्णत्वं, प्राप्नौत्यौषधयोगतः।
आत्मध्यानात्तथैवात्मा परमात्मत्वमश्नुते॥ –कुन्द.श्रा. 11/34

जिस प्रकार औषध के प्रयोग से लोहा सुवर्णत्व को प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्मा, आत्मध्यान से परमात्म तत्त्व को प्राप्त होता है, परमात्मा बन जाता है।

अतः मैं प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित आदि भावों से रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व का चिंतन करता हूँ।

चदुगदिभवभमणभाव-रहिदो हं॥84॥

अर्थ–मैं चतुर्गति भव भ्रमण भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह आत्मा चारों गतियों से रहित है। कर्म युक्त जीव ही नरक-देवादि गतियों में परिभ्रमण करता है। कर्म से युक्त रहना मेरा स्वभाव नहीं है अतः ये चार गतियों में भ्रमण करना भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं इन नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव चारों गतियों से

रहित हूँ, इन चारों गत्यानुपूर्वी व आयु से भी रहित हूँ। मैं चारों गतियों में भ्रमण से रहित हूँ और इन गतियों में भ्रमण करने का जो भाव है उनसे भी रहित हूँ। जिन भावों से विभिन्न गति व आयु का बन्ध होता है वे भाव भी निश्चय से मेरे अंदर नहीं हैं।

मैं चतुर्गति भव भ्रमण भाव से रहित हूँ। जब कोई भी योगी यह चिंतन करता है कि मैं चतुर्गति, चतुर्गति के कारण, उनके फल या चतुर्गति के साथ में होने वाले समस्त कर्म व उनके फलों से रहित हूँ, सिद्धों के समान हूँ तब शुद्धात्मलीनता उनके बनती है। मैं नारकी नहीं हूँ, देव नहीं हूँ, मनुष्य नहीं हूँ, तिर्यंच नहीं हूँ फिर मैं कौन हूँ? मैं शाश्वत अनंतकाल तक शुद्ध रूप से रहने वाला शक्तिरूपेण सिद्ध परमात्मा हूँ। हे तत्त्ववेत्ता! इस प्रकार सदैव अपने निजात्म तत्त्व का चिंतन करो।

लहुदीहभाव-रहिदो हं।।85।।

अर्थ–मैं लघु व दीर्घ भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–सूक्ष्म, स्थूल अथवा लघु, दीर्घादि ये सभी पुद्‌गल की पर्याय हैं। लघु और दीर्घ का व्यवहार पुद्‌गल में ही संभव है। द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य संभव नहीं। अतः पुद्‌गल में ही लघुता व दीर्घता होती है। अहो तत्त्ववेत्ता! तुम पुद्‌गल नहीं हो, चैतन्य रूप आत्मा हो इसलिए लघु, लघुतर व लघुतम यह तुममे नहीं है। दीर्घ, दीर्घतर व दीर्घतम भी तुममें संभव नहीं। यह सब तो पुद्‌गल में ही संभव है। लघु व दीर्घ का व्यवहार आत्मा में संभव नहीं है। प्रत्येक आत्मा में असंख्यात ही प्रदेश होते हैं। एक कम भी नहीं और ज्यादा भी नहीं। तब लघुता और दीर्घता यहाँ कैसे बन सकती है?

अहो पुण्य पुरुष! सभी आत्मा एक समान हैं। जब सभी एक समान हैं तो तुम उनमें राग-द्वेष करके अपने संसार को वृद्धिंगत क्यों कर रहे हो। यह संसार का मूल है, जड़ है।

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।।201।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो।।202।।–समयसार

वास्तव में जिस जीव के परमाणु मात्र, लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है, वह जीव भले ही सर्व आगम का धारी हो तथापि आत्मा को नहीं जानता और आत्मा को न जानता हुआ अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव व अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन के अभाव में तो माक्ष की कल्पना भी मिथ्या है। अतः सर्व प्रकार से राग-द्वेष का परिहार कर टंकोत्कीर्ण, परम विशुद्ध निज परम अवस्था को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

मृत्पिण्डेन विना घटो न च पटस्तन्तून् विना जायते,
धातुर्नैव विना दलं न शकट काष्ठं विना कुत्रचित्।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजं विना
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुने! मोक्षस्तथा नैव च॥–स.श.सं.

जिस प्रकार मृत्पिण्ड के बिना घट, तन्तुओं के बिना पट, दल खंड के बिना धातु, काष्ठ के बिना गाड़ी और बीज के बिना धान्य उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार हे मुने! अन्य साधनों के रहते हुए भी शुद्धात्म स्मरण के बिना मोक्ष नहीं होता।

अतः मैं अपने शुद्धात्म स्वरूप का उसी प्रकार स्मरण करता हूँ जिस प्रकार ग्रंथकार यहाँ आत्म स्वरूप को बतलाते हैं।

एगाणेगभाव-रहिदो हं॥86॥

अर्थ–मैं एक व अनेक भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–हे तत्त्ववेत्ता! तुम एक व अनेक इन दोनों भावों से रहित हो। यह आत्मा एक कूटस्थ नहीं है उसमें प्रतिसमय परिणमन हो रहा है, प्रत्येक गुण में परिणमन हो रहा है। समग्र द्रव्य में परिणमन हो रहा है, अतः एकांततः एक भाव युक्त नहीं कहा जा सकता। यह आत्मा अनेक भावों से युक्त भी नहीं है क्योंकि इस द्रव्य में इस द्रव्य का ही परिणमन है अतः अनेक द्रव्यों का परिणमन इसमें संभव नहीं है।

अहो! मैं एकांततः एक स्वभावी भी नहीं हूँ, अनेक स्वभावी भी नहीं हूँ, अनेकानेक स्वभावी भी नहीं हूँ, मैं चिच्चमत्कार चैतन्य हूँ, मैं जो हूँ सो हूँ। मैं जो हूँ वह शब्दातीत है। मैं उसी शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए निज परिणामों को विशुद्ध बनाता हूँ, प्रशम भाव से युक्त होता हूँ, पर से उपयोग हटाकर निजात्म तत्त्व में लीन होता हूँ।

न भक्तवृंदैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यैः।
न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं विशुद्धचित्यस्तु लयः सदैव॥ –स.श.सं.

न मुझे भक्तों की भीड़ से, न शिष्यों के समूह से, न पुस्तकादि से, न शरीरादि से और न किसी कार्य से प्रयोजन है, विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही मेरी सदा लीनता रहे।

सुण्णपुण्णभाव-रहिदो हं।।87।।

अर्थ–मैं शून्य व पूर्ण भाव से रहित हूँ।

भावार्थ–यहाँ शून्य का अर्थ विकारादि से शून्य नहीं है बल्कि वह भाव है जिसमें कुछ है ही नहीं। क्योंकि शून्य अपने आप में मूल्यहीन होता है। मेरी आत्मा ऐसी शून्य नहीं, मूल्यहीन नहीं जिसमें कुछ भी न हो, कोई परिणमन, कोई गुणवत्ता, कोई पर्याय या ध्रौव्यता न हो। अत: ऐसा शून्य भाव जहाँ कुछ भी नहीं है वह मेरा स्वभाव नहीं है मैं शून्य भाव से रहित हूँ।

मैं पूर्ण भाव से भी रहित हूँ। अर्थात् पूर्णता का भाव तो वहाँ आएगा जहाँ पहले अपूर्णता हो। मेरी आत्मा पहले अपूर्ण नहीं थी जो अब पूर्ण होगी। यदि आत्मा को अपूर्ण मान लें तो आत्मा, आत्मा ही नहीं रहेगी। आत्मा में ज्ञान, दर्शनादि गुण अनादिकाल से थे, हैं और आगे अनंतकाल तक रहेंगे। मेरी आत्मा कभी अपूर्ण नहीं थी। आत्मा का एक गुण न तो वृद्धि को प्राप्त हो सकता है और न ही कम हो सकता है। आत्मा का एक प्रदेश भी बढ़ नहीं सकता और एक घट भी नहीं सकता।

जो क्रमश: बढ़ते-बढ़ते पूर्णता को प्राप्त होता है वह पूर्ण कहलाता है। आत्मा अनादिकाल से असंख्यात प्रदेशी थी, है और अनंतकाल तक रहेगी। गुण भी वैसे ही हैं। कर्म पटल से आवरणित जरूर हैं जो कर्म नाश होने पर प्रकट होते हैं किन्तु नए गुण उत्पन्न नहीं होते। अत: आत्मा कभी इस प्रकार पूर्ण नहीं होती।

इदं ज्ञानरूपं स्वयं तत्त्ववेदी, न पूर्णं न शून्यं न चैत्यं स्वरूपी।
नचान्योनभिन्नंनपरमार्थमेकम्,चिदानन्दरूपंनमोवीतरागम्।।8।।–वीतरागस्तोत्र

मेरी आत्मा शून्यता-पूर्णता या वृद्धि-ह्रास के भावों से सर्वथा रहित है। मैं शुद्ध निश्चयनय से सिद्धों जैसा था, हूँ और रहूँगा। मेरे अंदर सिद्ध की शक्ति थी, आज भी है और ज्ञान, ध्यान, तप, व्रतादि के माध्यम से उस सिद्ध अवस्था का प्रकटीकरण भविष्य में कर लूँगा।

गब्भ-जम्म-सेसव-किसोर-जोव्वण-पोढ-वुड्ढ-मरणावत्था-रहिदो हं।।88।।

अर्थ–मैं गर्भावस्था, जन्मावस्था, शैशवावस्था, किशोरावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था व मरणावस्था से रहित हूँ।

भावार्थ–हे तत्त्ववेत्ता! कर्मबद्ध जीव को प्राप्त होने वाली ये गर्भावस्था, जन्मावस्था, शैशवावस्था, किशोरावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था व मरणावस्था उसकी विभाव परिणति है। विकारी भाव के फलस्वरूप जीव को इन अवस्थाओं को प्राप्त करना पड़ता है। आत्मा का स्वभाव उपपाद

शैय्या से उत्पन्न होना नहीं है। नरक के बिलों में उत्पन्न होना नहीं है। आत्मा का स्वभाव एकेंद्रिय आदि में सम्मूर्च्छनों में जन्म लेना नहीं है। आत्मा का स्वभाव असंज्ञी अवस्था में या संज्ञी अवस्था में भी जन्म लेना नहीं है।

यह आत्मा न कभी शैशव अवस्था को प्राप्त करती है, न किशोर अवस्था को प्राप्त करती है। यह आत्मा न कभी यौवन अवस्था को प्राप्त करती है, न प्रौढ़ावस्था को प्राप्त करती है, न वृद्ध होती है, न मरती है। जो इन अवस्थाओं को देख रहा है वह तो शरीर मिश्रित आत्मा को देख रहा है। किन्तु यह संसार में, शरीर में रहने वाली आत्मा शुद्धात्मा नहीं है। शुद्धात्मा तो शरीरादि से रहित है। शरीर तो नोकर्म है। यह शुद्धात्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म सबसे रहित है।

अतः हे भोले चेतन! तुम क्यों पर पदार्थों में रमे रहते हो। क्यों इस शरीर में रमे रहते हो। क्यों स्वयं को बालक, युवा आदि मानते हो। व्यर्थ ही इन अवस्थाओं पर अभिमान कर पाप बंध करते हो।

णाहं बालो बुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।79।।–नि.सा.

मैं न बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, न जवान हूँ, न उनका कारण हूँ, न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न करने वाले का अनुमोदक हूँ।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।29।।–इष्टोपदेश

निश्चय नय से मेरी मृत्यु नहीं होती इसलिए मुझे मृत्यु का भय कैसे हो सकता है? मूर्तिक शरीर के संबंध से होने वाली वातादि से जन्य व्याधि मेरी अमूर्तिक आत्मा में नही है अतः मुझे व्याधि जन्य पीड़ा कैसे हो सकती है। पौद्गलिक शरीर के परिवर्तन से होने वाले वृद्धापन और युवावस्था रूप भी मैं नहीं हूँ क्योंकि मृत्यु, व्याधि, बालपन, युवापन, वृद्धापन आदि सारी पर्यायें पुद्गल में हैं, अमूर्तिक चैतन्य स्वरूप मेरी आत्मा में नहीं हैं। मैं इन सबसे रहित हूँ। अतः इन सब अवस्थाओं से रहित मैं अपनी शुद्धात्मा का चिंतन करता हूँ।

सद्दंसण-सण्णाण-सच्चारित्तेसु उप्पज्जमाण अदिक्कम-वदिक्कम-अदियार-अणायाराइ-सव्वदोस-रहिदो हं।।89।।

अर्थ–मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में उत्पन्न होने वाले अतिक्रम-व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार व सर्व दोषों से रहित हूँ।

भावार्थ–शब्दातीत आत्मरुचि, उसके अविनाभावी शब्दातीत सम्यग्ज्ञान व शब्दातीत आत्मलीनता रूप सम्यक्चारित्र, ये मेरी आत्मा के गुणधर्म हैं। अहो तत्त्ववेत्ता! व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार

सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यक्चारित्र मेरा स्वभाव नहीं है। व्यवहार रूप अणुव्रत व महाव्रत पालन भी मेरा स्वभाव नहीं है। यद्यपि ये व्यवहार रत्नत्रय मुझे स्वभाव की ओर ले जाने में कारण बन सकते हैं, ये निश्चय का हेतु हो सकता है किन्तु ये व्यवहार, शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जब व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मेरा स्वभाव नहीं है तब इनमें उत्पन्न दोष, अतिचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम मेरी आत्मा के स्वभाव कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। अतिक्रम का अर्थ है–विशुद्धि का ह्रास होना, व्रतादि में विशुद्धि नहीं बढ़ना, यह (अतिक्रम) दोष है। व्यतिक्रम का अर्थ है–उस व्रत का कहीं किंचित भी समल हो जाना। अतिचार का अर्थ है–व्रत का एकदेश खंडित होना और अनाचार का अर्थ है–पूर्ण रूप से व्रत को खंडित या व्रत विघात करने का प्रयास।

अतिक्रमो मानसशुद्धि हानिः व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारं करणालसत्वं भङ्गो ह्यनाचारमिह व्रतानाम्।।–पु.सि./30 में उद्धृत

मन की शुद्धि में हानि होना अतिक्रम है। विषयों की अभिलाषा व्यतिक्रम है। इन्द्रियों की असावधानी अर्थात् व्रत में शिथिलता अतिचार है तथा व्रत का सर्वथा भंग हो जाना अनाचार है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम अपने सम्यग्दर्शनादि रत्नों को मलिन क्यों कर रहे हो, उसकी चमक को धूमिल क्यों कर रहे हो, उनमें दोष क्यों लगा रहे हो? ये तुम्हारे चैतन्य रत्न हैं। जैसे बाह्य रत्न धूलादि से मलिन या जलमिश्रित धूल से पंकिल हो जाते हैं उसी प्रकार ये रत्न बाह्य पदार्थों के संयोग से कदाचित् मल ग्रहण कर लेते हैं। बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने का भाव, उनके प्रति राग-द्वेष का भाव, ये सभी मेरे स्वभाव को मलिन करने वाले हैं। अतः पुनः पुनः अपने स्वभाव का चिंतन करो।

मेरा स्वभाव सिद्धों जैसा है। सिद्धों के जो आत्मा में आत्मरुचि रूप सम्यक्त्व है वही मेरा स्वभाव है। आत्मा में आत्मा का ज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान मेरा स्वभाव है, आत्मा से आत्मा की लीनता रूप सम्यक्चारित्र मेरा स्वभाव है। जैसे सिद्धात्मा की निष्ठा स्वयं की आत्मा में है वैसा ही मेरी आत्मा का स्वभाव है किन्तु इस निश्चय की प्राप्ति व्यवहार के बिना संभव नहीं है।

अहो भोले चेतन! तुम कितने भोले हो, पर पदार्थों के प्रति कभी आकृष्ट हो जाते हो तो कभी उनके प्रति विद्वेष भाव उत्पन्न हो जाता है, उनसे बचो।

प्रादुर्भवन्ति निःशेषा, गुणाः स्वाभाविकाश्चितः।
दोषा नश्यन्त्यहो सर्वे परद्रव्यवियोजनात्।।

अहो! पर द्रव्य का संयोग छूटने से आत्मा के सब स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं और सब दोष नष्ट हो जाते हैं।

अत: बाह्य द्रव्यों को छोड़कर अपनी आत्मा का चिंतन करो। यदि आत्म चिंतन नहीं कर पा रहे हो तो व्यवहार क्रियाओं को आलंबन बनाकर मोक्ष पथ पर आगे बढ़ो। यही व्यवहार चारित्र का पालन तुम्हें यथाख्यात चारित्र तक पहुँचाने में कारण बनेगा।

कत्ता-कम्म-करण-रहिदो हं।।90।।

अर्थ–मैं कर्त्ता, कर्म, करण से रहित हूँ।

भावार्थ–शुद्ध निश्चयनय से आत्म स्वरूप समझने पर ही उसका शुद्ध स्वरूप ज्ञात होता है। यद्यपि आत्मा व्यवहार से पुद्‌गल कर्मों का कर्त्ता है, भोक्ता है, कर्म व करण भी है।

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।84।।–स.सा.

व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्‌गल कर्मों को करता है और उसी अनेक प्रकार के पुद्‌गल कर्मों को भोगता है, अनुभव करता है।

उप्पादेदि करेदि य, बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं, ववहारणयस्स वत्तव्वं।।107।।–स.सा.

यह आत्मा पुद्‌गल द्रव्य कर्म को उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है, परिणमता है और ग्रहण करता है यह व्यवहार नय का कथन है।

किन्तु शुद्ध निश्चय नय से न मैं कर्त्ता हूँ, न कर्म हूँ, न करण हूँ। मैं किसी भवन, वस्तु आदि का कर्त्ता नहीं हूँ, मैं कर्म भी नहीं हूँ, कर्म फल का भोक्ता भी नहीं हूँ, मैं साधन भी नहीं हूँ।

णिच्छयणयस्स एवं, आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं।।83।।–स.सा.

निश्चय नय का कथन है कि आत्मा आत्मा को ही करता है पुन: वही आत्मा अपनी आत्मा को भोक्ता है और आत्म आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम पर के निमित्त नहीं हो, कोई तुम्हारा निमित्त नहीं है। तुम पर के कर्त्ता नहीं हो और कोई तुम्हारा कर्त्ता नहीं है। तुम पर के साधन नहीं हो और कोई तुम्हारा साधन नहीं है, तुम पर के कर्मफल नहीं और कोई तुम्हारा कर्मफल नहीं है। तुम इन सभी पौद्‌गलिक अवस्थाओं से रहित हो। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपनी आत्मा को सिद्धों सम स्वीकार करो। सिद्ध समान निज स्वरूप का चिंतन करो, यह चिंतन ही सिद्धत्व दशा की प्राप्ति में सहायक होगा।

णिम्ममो हं॥91॥

अर्थ–मैं निर्मम हूँ।

भावार्थ–मेरे पने का भाव ममत्व कहलाता है।[1] इस ममत्व भाव से रहित होना ही निर्मम है।

''निर्ममो ममत्वरहितः ममेति अदन्तोऽव्ययशब्दः। निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्ममः।

–मो.पा.टी./12/312

निर्मम अर्थात् ममत्व रहित। 'मम' यह एक अदन्त अव्यय शब्द है। 'मम' जिसमें से निकल गया है ऐसा परिणाम जिसके वर्तता है, वह निर्मम है।

प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावन्निर्ममः॥43॥ –नि.सा./ता.वृ.

प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त प्रकार के मोह, राग व द्वेष का अभाव होने से आत्मा निर्मम है।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह मेरा घर है, मेरी दुकान है, मेरा ऑफिस है, मेरे माता-पिता हैं, मेरी पत्नी है, मेरे बच्चे हैं इत्यादि भाव संसार की वृद्धि करने वाला है। इसी ममत्व भाव के कारण जीव याचना भी करता है, व्यर्थ की चिंता करता है, क्लेश होता है। मोही जीव की यह मेरे पने की बुद्धि उसे स्वभाव से च्युत रखती है।

संसार के समस्त पर पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करो क्योंकि जब तक ममत्व भाव का त्याग नहीं होता तब तक वस्तु के नहीं होने पर भी जीव बंध को प्राप्त करता है।

ममेति चिन्तनाद् बन्धो, मोचनं न ममेत्यतः।
बन्धनं द्व्यक्षराभ्यां च, मोचनं त्रिभिरक्षरैः॥ –त.ज्ञा.त. 10/7-20

'मम' ऐसे चिन्तन से बंध होता है और 'न मम' ऐसे चिंतन से मोक्ष होता है। तात्पर्य यह है कि 'मम' इन दो अक्षरों से बंध और 'न मम' इन तीन अक्षरों से मुक्ति होती है। जब तक यह मनुष्य पर पदार्थों को मेरे-मेरे ऐसा मानता है तभी तक बंध होता है और जब मेरे नहीं हैं, ऐसा निश्चय कर लेता है, तब बन्धन से छूट जाता है।

निर्ममत्वं परं तत्त्वं, ध्यानं चापि व्रतं सुखम्।
शीलं खरोधनं तस्मान्, निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥ –सु.र.सं.

निर्ममत्व श्रेष्ठ तत्त्व है, ध्यान है, सुख है, शील है और इंद्रिय निरोध है अतः निर्ममत्व का चिन्तन करना चाहिए।

यह निर्ममत्व ही मेरी आत्मा का स्वभाव है। बाह्य संयोगी पदार्थ या भाव मेरे कभी नहीं हो सकते। मेरी शुद्धात्मा के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। अतः मैं इन सभी से अपनी बुद्धि को हटाता हुआ अपनी ही शुद्धात्मा का चिन्तन करता हूँ।

1. ममेत्यस्यभावो ममत्वं। –स्व.भू. स्तो.टी.

नाहं कस्यचिन् न मे किंचित् शुद्धचिद्रूपं विना।
तस्मादन्यत्र मे चिन्ता वृथा तत्र लयं भजे॥ –स.श.सं.

मैं किसी का कुछ नहीं हूँ और शुद्ध चिद्रूप को छोड़कर मेरा कुछ नहीं है इसलिए अन्य पदार्थों में मेरी चिन्ता व्यर्थ है, मैं तो उसी चिद्रूप में लीनता को प्राप्त होता हूँ।

चिच्चिंतामणिसरूवो हं॥92॥

अर्थ–मैं चिंतामणि स्वरूप हूँ।

भावार्थ–चिंतामणि का अर्थ है वह रत्न जिसके समक्ष चिंतन करने मात्र से अभीष्ट वस्तु की संप्राप्ति हो जाती है। राग-द्वेष से कलुषित, संसार में पतित हुआ, अपने स्वभाव से च्युत हुआ जीव चिन्तामणि के समक्ष सांसारिक या भौतिक पदार्थों का चिन्तन करता है तो उसे वह प्राप्त हो जाता है किन्तु राग-द्वेष से परे यह जीव शुद्ध आत्मा के अनंत गुणों का उपभोग करना चाहता है, आत्मा की शुद्ध स्वाभाविक परिणति को चाहता है और आत्मा का वह शुद्ध स्वरूप उस शुद्धात्मा के चिन्तन मात्र से आत्मा के द्वारा ही प्राप्त होता है। अत: यह मेरी आत्मा ही चिन्तामणि स्वरूप है। इस शुद्ध आत्मा के चिन्तन से मेरी आत्मा की शुद्धावस्था प्रकट होती है अत: यह मेरी आत्मा चिन्तामणि है।

निर्द्वन्दं निरुपद्रवं निरुपमं, नित्यं निजात्मोद्भवं,
नान्यद्रव्य - विभावनोद्भवमिदं, शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं, चिन्मात्रचिन्तामणिम्॥131॥–नि.सा./ता.वृ.

जो निर्द्वन्द है, निरुपद्रव है, नित्य है, स्वकीय आत्मा से समुत्पन्न है एवं अन्य द्रव्य की विभावना से जिसकी उत्पत्ति असंभव है, ऐसे इस निर्मल आनंद रूपी अमृत का पानकर जो पुण्यात्मा मानव पुण्य को भी छोड़ देता है–पुण्य-पाप से परे हो जाता है वह उसी समय स्पष्ट ही चैतन्य चिन्तामणि रूप अद्वितीय अनुपम पद को प्राप्त हो जाता है।

उसी चिन्तामणि स्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए मैं समस्त बाह्य विकल्पों का त्याग करता हूँ। जब मेरी आत्मा ही चिन्तामणि स्वरूप है तब मैं बाह्य पर पदार्थों की आकांक्षा क्यों करूँ? इन पर द्रव्यों से मेरा क्या प्रयोजन? हे तत्त्ववेत्ता! चिन्तामणि रत्न लेकर भी दरिद्र की भाँति ठोकर खाता हुआ घूमने वाला मूर्ख ही होगा, उसी प्रकार चिन्तामणि स्वरूप आत्मा को विस्मृत कर संसार में भ्रमण करने वाला महाज्ञानी आज महामूर्ख बना हुआ है। परद्रव्यों में आसक्त हो रहा है। अरे! इस आसक्त भाव का त्याग कर चिन्तामणि स्वरूप निजात्म तत्त्व का चिन्तन करो।

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः,
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः,
किमिह बहुविकल्पैः मे फलं बाह्यभावैः॥138॥ –नि.सा./ता.वृ.

वह एक परमात्मा ही मेरा है जो कि नित्य है, स्वाभाविक उत्कृष्ट चैतन्य-चिन्तामणि स्वरूप है, अत्यन्त शुद्ध है एवं सीमा रहित स्वकीय दिव्यज्ञान और दिव्यदर्शन से सम्पन्न है। अनेक विकल्पों से भरे हुए बाह्य भावों से मेरा क्या प्रयोजन है।

अतः समस्त बाह्य विकल्पों, पदार्थों वा भावों का त्यागकर मैं चिन्तामणि स्वरूप निज शुद्ध आत्मा में लीन होने का पुरुषार्थ करता हूँ।

संसयविब्भमविपज्जय-रहिदो हं॥93॥

अर्थ–मैं संशय-विभ्रम-विपर्यय से रहित हूँ।

भावार्थ–संशय, विभ्रम, विपर्यय ये सभी ज्ञान के दोष हैं। मेरी आत्मा तो निर्दोष है। निर्मल, विशद स्वाभाविक ज्ञान से युक्त होना मेरी आत्मा का स्वभाव है। ये संशयादि तो अशुद्ध आत्मा में पाए जाते हैं। अनेक कोटि का अनिश्चयात्मक स्पर्श संशय कहलाता है।

एकवस्तु-विशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः।80/4 –सप्तभंगीतरंगिनी

एक ही वस्तु विषयक, विरुद्ध नानाधर्म विशेषणक युक्त ज्ञान को संशय कहते हैं।

न्यायदीपिका में भी कहा है कि विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे–'यह स्थाणु है या पुरुष है', स्थाणु और पुरुष में सामान्य रूप से रहने वाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मों के देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों को अवगाहन करने वाला यह संशय ज्ञान उत्पन्न होता है।

मिथ्याज्ञान विभ्रम कहलाता है। **'विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव'**[1] वस्तु स्वरूप का अज्ञानपना या अजानपना ही विभ्रम है। द्रव्य संग्रह की टीका में कहा है–अनेकान्तात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है या अनित्य ही है' ऐसे एकान्तरूप जानना सो विभ्रम है। जैसे कि सीप में चाँदी का और चाँदी में सीप का ज्ञान हो जाना।

विपरीत कोटि का निश्चयात्मक ज्ञान विपर्यय कहलाता है।

1. नि.सा./ता.वृ./51

विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः यथा शुक्तिकायामिदं रजतमितिज्ञानम्।

–न्यायदीपिका 1/9/9/9

विपरीत एक पक्ष का निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे–सीप में 'यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना।

अहो! मेरी आत्मा ज्ञान–दर्शन उपयोग से सहित है। शुद्ध ज्ञान–दर्शन उपयोग युगपत् सिद्धों में होता है, वही मेरी आत्मा का स्वभाव है।

संसारी प्राणी मिथ्याज्ञान से युक्त होते हैं। कोई मिश्र ज्ञान से युक्त होते हैं, कोई सम्यग्ज्ञान से युक्त होते हैं। दोष सहित सम्यग्ज्ञान सदोष कहलाता है। संशय, विभ्रम, विपर्यय ये सम्यग्ज्ञान के दोष हैं। इन सभी दोषों से रहित मैं निर्मल केवलज्ञान स्वभाव से युक्त हूँ।

हे तत्त्ववेत्ता! जब–जब भी तत्त्व में संशय उत्पन्न हो, विभ्रम या विपर्यय हो तब जान लेना कि तुम स्वभाव से पतित हो। ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। अरे! तुम तो ज्ञान–दर्शन स्वभावी हो, शुद्ध आत्मा हो, उस शुद्ध स्वरूप का ही तुम सदैव चिंतन करो। इसी चिंतन से तुम एक अभूतपूर्व शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ हो सकोगे। वही शक्ति तुमको निर्दोष सम्यग्ज्ञान, केवलज्ञान वा सिद्धों जैसे अनंत ज्ञान को देने में समर्थ होगी।

धीरत्तभीरुत्तवीरत्तगंभीरत्त–इदरमिस्सभाव–रहिदो हं॥94॥

अर्थ–मैं धीरता, भय, वीरता, गंभीरता रूप भाव, इनसे विपरीत वा मिश्र भावों से रहित हूँ।

भावार्थ–धैर्य से युक्त जीव धैर्यवान् या धीरता भाव से युक्त कहलाता है। जिसमें सहन करने की वा प्रतीक्षा करने की सामर्थ्य हो वह धीर कहलाता है। कारण के उपरान्त कार्य का उतावलापन नहीं, बीज बोने के उपरांत फल प्राप्ति के लिए उतावलापन नहीं। धैर्यवान् व्यक्ति सोचता है कि कार्य के उपरांत फल की प्राप्ति उसके स्वसमय पर ही होगी अतः वह चित्त को आकुलित–व्याकुलित नहीं करता। जहाँ धैर्य है वहाँ धीरता का भाव है।

भीरुता का अर्थ है–भयभीत होना। जहाँ भय संज्ञा है वहाँ भय होता है। किसी भयानक दृश्य आदि को देखने से वा कर्मोदय से डर होता है। उस डर का भय भीरुता है। पौरुष, क्षत्रियत्व, पराक्रम, विक्रम जिसमें पाया जाता है, जो अपने से बलवान् शत्रु को देखने पर भी हिम्मत नहीं हारता वह वीरता के भाव से युक्त वीर कहलाता है।

''गांभीर्यं सहजामूर्तिः'' जो अपनी कषायों को मंद करके रहता है उस व्यक्ति के गंभीरता का भाव माना जाता है। ये सभी धीरता, भीरुता, वीरता, गंभीरतादि के भाव कर्म से संयुक्त संसारी प्राणी में ही संभव हैं किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से मैं इन सब भावों से रहित हूँ, इन भावों के फल से रहित हूँ, इन कर्मों से रहित हूँ।

इन सब भावों के विपरीत अधीरता, अभीरुता, अवीरत्व (दुर्बलपना), अगंभीरता (चंचलपना) भी मेरा स्वभाव नहीं है। अथवा इनके मिश्र अर्थात् धीरता व अधीरता का मिश्र भाव, भीरुता वा वीरता व दुर्बलपने का मिश्र भाव मेरा स्वभाव नहीं है।

मैं शुद्ध चेतना हूँ। मेरी शुद्ध चेतना में कोई विभाव परिणति नहीं है। जीव जैसा चिन्तन करता है शनैः-शनैः वैसा ही हो जाता है। अतः मैं अपने शुद्ध स्वभाव का चिन्तन करता हूँ।

ये याता यान्ति यास्यन्ति, निर्वृतिं पुरुषोत्तमाः।
मानसं निश्चलं कृत्वा, स्वे चिद्रूपे न संशयः॥ –त.ज्ञा.त. 6/19

जो उत्तम पुरुष मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे वे अपने चैतन्य रूप में मन को निश्चय करके हुए हैं, इसमें संशय नहीं है।

उसी सिद्ध, शुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिए मैं इन उपर्युक्त भावों से रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करता हूँ।

सव्वायार-रहिदो हं॥95॥

अर्थ–मैं सर्व आकार व आकृतियों से रहित हूँ।

भावार्थ–मेरी आत्मा का आकार त्रिकोण, चतुर्भुज, पंचभुज, षट्कोण, अष्टकोण आदि नहीं है। त्रिकोण, वर्ग, आयत, वृत्त आदि आकृतियाँ पुद्गल में ही संभव हैं। शुद्ध चेतना में ये सब आकृतियाँ संभव नहीं हैं। संसारी आत्मा जिस शरीर को प्राप्त करता है उसकी आकृति वैसी ही हो जाती है किन्तु यथार्थ में आत्मा की कोई आकृति नहीं है। आत्मा का कोई मूर्त रूप नहीं, वह तो अमूर्त है। शुद्ध निश्चय नय से मैं शुद्ध, सिद्ध हूँ। तब सिद्धों के समान ही मेरा स्वरूप है, वे तो सर्व प्रकार के आकारों से रहित हैं अतः मेरी आत्मा का भी कोई आकार नहीं है।

''आकारं विकल्पं... केन रूपेण। शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादि।'–द्र.सं./टी. 43/186

विकल्प को आकार कहते हैं। वह भी किस रूप से? यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बड़ा है, यह छोटा है, यह घट है, यह पट है इत्यादि।

अहो तत्त्ववेत्ता! यह आत्मा इन छोटे-बड़े, त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, वृत्त आदि विकल्पों से रहित है। जब यह आत्मा सर्व कर्मों का नाश कर देती है तब जिस शरीर का त्यागकर वह लोकाग्र निवासी होती है उसी एक शरीर से किंचित् न्यून होती है।

'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा' वे सिद्ध चरम शरीर से किञ्चित् ऊन या न्यून होते हैं और वह किंचित् न्यूनता शरीर व अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों की पोलाहट के कारण से है।

तिलोयपण्णति में भी कहा है–

अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, बाहुल्य और दीर्घता हो उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

आकृति मूर्तिमान् की ही होती है। अमूर्त की कोई आकृति नहीं होती। आत्मा मात्र एक अनुभूति है, एक संवेदन है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारी आत्मा का शुद्ध निश्चय नय से कोई आकार नहीं है। यह आत्मा स्वानुभवगम्य है। उसी अमूर्तिक आत्मा का सदैव ध्यान करो। एक क्षण का ध्यान भी असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा का कारण है अतः शुद्धात्मा का नित्य चिंतन करो।

णिद्दंदो हं।।96।।

अर्थ–मैं निर्द्वन्द हूँ।

भावार्थ–निर्द्वन्द अर्थात् द्वन्द से रहित।

निर्द्वन्दो निष्कलहः केनापि सह कलहरहितः अथवा निर्द्वन्दो निर्युग्मः स्त्रीभोगरहितः। द्वन्दं कलहयुग्मयोः इति वचनात्। –मो.पा.टी. 12/312/10

क्योंकि द्वन्द कलह व युग्म इन दो अर्थों में वर्तता है इसलिए निर्द्वन्द शब्द के भी दो अर्थ होते हैं–निष्कलह अर्थात् किसी के साथ भी कलह से रहित तथा निर्युग्म अर्थात् भोग से रहित।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम कलह से सर्वथा रहित हो। यह तुम्हारी आत्मा का स्वभाव नहीं है। तुम सर्व भोगादि से रहित हो यह भी तुम्हारी आत्मा का स्वभाव नहीं है फिर भोगों में आसक्त होकर अपने स्वयं के लिए कष्ट का प्रबन्ध क्यों करते हो? ये भोग विषधर के समान तुझे नष्ट करने वाले हैं। ये विषय भोग दुर्गति में ले जाने के लिए उत्तम यान के समान हैं।

विषयाः कुलगुणनाशः, धर्मसुविघ्नाः परत्र बहुदुःखाः।
विषयाः दुर्गतिमार्गाः, निर्वृतिपथरोधकाः विषयाः।। –स.श.सं.

विषय कुल-परम्परागत गुणों का नाश करने वाले हैं, धर्म में विघ्न करने वाले हैं, परभव में बहुत दुःखदायक हैं, दुर्गति के मार्ग हैं तथा मोक्षमार्ग का अवरोध करने वाले हैं।

अत: अहो महात्मन्! इन विषयों को छोड़ो, इनमें आसक्ति भाव का परित्याग करो। ये विषय अनादिकाल से तुम्हें ठग रहे हैं और तुम भी अपनी उत्तम, श्रेष्ठ निधि को छोड़कर इनके बहकावे में आ रहे हो, इन्हें ही सुखकर मान रहे हो। इसी कारण आज तक अपने स्वभाव से च्युत हो। अरे! सत्यता का भान करके, निजात्मा के सम्यक् शुद्ध स्वरूप को जानकर उसमें ही स्थित होने का पुरुषार्थ करो। तुम निर्द्वन्द हो। किसी प्रकार का कोई द्वन्द तुम्हारी आत्मा में नहीं है।

''निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्त समस्तपदार्थसार्थाभावान्निर्द्वन्दः। –नि.सा./ता.वृ./43

निश्चय से परम पदार्थ के सिवाय अन्य समस्त पदार्थों का समूह भी इसके नहीं पाया जाता इसलिए यह अभाव होने से निर्द्वन्द है।

मैं इसी निर्द्वन्द स्वभावी आत्मा का समस्त द्वन्दों से रहित होकर के चिन्तन करता हूँ, यही मुझे शाश्वत, निर्द्वन्द अवस्था देने में समर्थ है। अहो! बाह्य जगत, पर पदार्थों से संबंधित सर्व द्वंदों को छोड़, पर द्रव्यों का त्यागकर उनसे विरक्त होता हुआ मैं निर्द्वन्द स्वरूपी अपनी शुद्ध आत्मा का स्मरण करता हूँ।

विदियाहियारो

अणंतणणसरूवो हं॥1॥

अर्थ–मैं अनंत ज्ञान स्वरूपी हूँ।

भावार्थ–जिस प्रकार सिद्ध भगवान् लोकालोक को प्रकाशित करने वाले, सर्व द्रव्यों की सर्व गुण-पर्यायों को युगपत् जानने वाले अनंत, केवल वा क्षायिक ज्ञान से युक्त हैं वही ज्ञान मेरा भी स्वरूप है किन्तु उनका वह ज्ञान प्रकट रूप में है और मेरा वह ज्ञान अप्रकट रूप में है। जिस प्रकार मेघों का समूह सूर्य को आच्छादित कर लेता है उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्मों ने मेरे अनंतज्ञान को आच्छादित किया हुआ है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से मैं अनंत ज्ञान का स्वामी हूँ।

अहो तत्त्ववेत्ता! मोह का माहात्म्य तो देखो, अनंतज्ञान का स्वामी होकर भी मैं अनजान, अज्ञानी बना हुआ हूँ। यद्यपि मैं स्वयं अनंत ज्ञान रूप हूँ।

अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयासं, णाणं तह दंसणं होदि॥171॥–नियमसार

आत्मा को ज्ञान और ज्ञान को आत्मा जानो, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है और इसलिए जिस प्रकार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है उसी प्रकार दर्शन भी स्व-पर प्रकाशक है।

इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हुए आचार्य श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं–

ज्ञानस्वभाव स्यादात्मा, स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥174॥आत्मानुशासन

आत्मा ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव से च्युत नहीं होना ही स्वभाव की प्राप्ति कहलाती है, अतः जो स्वभाव से अच्युति की इच्छा करता है, यह चाहता है कि हमारा ज्ञान नष्ट न हो वह निरन्तर ज्ञान की भावना करे।

हे तत्त्ववेत्ता! निरंतर ज्ञान की भावना जीव के स्वभाव रूप ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होती है। किन्तु यदि संसारी जीव क्रोध, मान, ईर्ष्यादि के वश दूसरों के ज्ञान में अंतराय डालता है, ज्ञान के उपकरणों पेन, कॉपी, बुक्स, शास्त्र आदि की अविनय करता है, गुरुजनों पर कुपित होता है, अविनय करता है, स्वयं को विषय समझ में आते हुए भी सामने वाले के पूछने पर भी उसे इसलिए नहीं समझाता कि वह बुद्धिमान् न हो जाए इत्यादि से उसे ज्ञानावरण कर्म का निविड बंध होता है।

और यदि इससे विपरीत जीव आदर भाव से ज्ञानीजन, ज्ञानोपकरण आदि की विनय करता है, **''णाणं जीवसरूवं''** ज्ञान आगम है इत्यादि भावना करता है तो निजात्म विशुद्धि के बल से अनंतज्ञान स्वरूप को प्राप्त करता है।

'आत्मैव गुरुरात्मनः' आत्मा ही आत्मा का गुरु है। अतः हे तत्त्ववेत्ता! निजात्मा का आदर करो। उसे राग-द्वेषादि से दूर रखते हुए प्रदोष, निह्नव, अन्तराय आदि का त्याग करो। मैं अनंत ज्ञान रूप हूँ पुनः-पुनः ऐसा चिन्तन करो।

वह अनंतज्ञान कैसा है इस विषय में कहते हैं-

जं पेच्छदो अमुत्तं, मुत्तेसु अइंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं, तं णाणं हवइ पच्चक्खं॥54॥ -प्रवचनसार

जो अमूर्तिक पदार्थों को जानता है, मूर्तिक पदार्थों में अतीन्द्रिय एवं प्रच्छन्न पदार्थों को भी जानता है और समस्त निज तथा परद्रव्य को जानता है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान-केवलज्ञान है।

हे प्रभु! मैं भावना भाता हूँ कि असीम विशुद्धि व शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण कर्म का क्षय कर उसी परम प्रत्यक्ष केवलज्ञान को प्राप्त करूँ। मैंने संसार के पदार्थों को देखने वाले चक्षु-नेत्र तो कई बार प्राप्त किए अब उस केवलज्ञान रूपी नेत्र को प्राप्त करने की भावना भाता हूँ जिससे लोकालोक को, समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को जान सकूँ। हाँ प्रिय आत्मन्! यही तुम्हारा स्वरूप है, यह वैभव किसी अन्य का नहीं, तुम्हारा अपना है। एक बार भी यदि अंदर झाँककर देख लिया तो संसार का समस्त वैभव फीका, निःसार प्रतीत होगा। क्योंकि संसार का यह वैभव तो नश्वर है किन्तु तुम्हारा आत्म वैभव नित्य शाश्वत व अनंत है।

अणंतदंसणसरूवो हं॥2॥

अर्थ-मैं अनंतदर्शन स्वरूपी हूँ।

भावार्थ-जब कोई किसी पदार्थ को देखता है तब, जब तक देखने वाला विकल्प न करे तब तक जो सत्ता मात्र का ग्रहण है वह दर्शन है। दर्शन निर्विकल्प व निराकार होता है। यदि यह वस्तु छोटी है, बड़ी है, लाल है, पीली है इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं तो तब वह ज्ञान जानना चाहिए।

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समए॥482॥-गो.जी.

सामान्य विशेषात्मक पदार्थों के आकार विशेष को ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूप से अंश का या स्वरूप मात्र का सामान्य ग्रहण होता है उसे परमागम में दर्शन कहते हैं।

दर्शनावरण कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों के नाश होने पर यह अनंत वा क्षायिक दर्शन उत्पन्न होता है। दर्शनावरण की 9 प्रकृतियाँ हैं– चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि। ये सभी अनंतदर्शन में बाधक हैं। दिन में सोने से तीव्र दर्शनावरण का बंध होता है। हे तत्त्ववेत्ता! सावधान हो जाओ। यह निद्रा अल्प मृत्यु के समान ही मानो जिस समय जीव को कुछ स्मृति में नहीं रहता। अत: दिन की निद्रा का त्याग करो। रात्रि में भी जितनी आवश्यक हो उतनी निद्रा लेकर पुन: प्रमाद रहित हो ध्यानादि में प्रवृत्त होओ। निद्राओं पर विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

छद्मस्थों के ज्ञान व दर्शन क्रम से होते हैं। दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है। पहले दर्शन फिर ज्ञान होता है। किन्तु केवली जिनों के, सिद्धों के ये ज्ञान व दर्शन युगपत् ही होते हैं।

दंसणपुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥44॥–द्र.सं.

छद्मस्थ जीवों का ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है, उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते पर केवली भगवान् के दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने भी कहा है कि जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और प्रताप दोनों एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन दोनों एक साथ रहते हैं।[1]

हे तत्त्ववेत्ता! यह अनंतज्ञान के साथ होने वाला अनंतदर्शन तुम्हारा स्वभाव है। मैं आँख मूंदकर प्रभु परमात्मा के समक्ष भावना भाता हूँ कि जिस प्रकार अनंतदर्शन का प्रकटीकरण आपने किया है उसी प्रकार मैं भी अपने स्वरूप का, अनंतदर्शन का प्रकटीकरण करने में समर्थ हो सकूँ। हे प्रभु! इतना बल मुझे देना कि आपके द्वारा दर्शाए गए मार्ग पर अग्रसर होकर आपके समान अनंतदर्शन प्राप्त कर सकूँ।

अणंतवीरियसरूवो हं॥3॥

अर्थ–मैं अनंत वीर्य स्वरूप हूँ।

भावार्थ–अंतराय कर्म का क्षय होने पर अनंत वा क्षायिक वीर्य प्रकट होता है। हे तत्त्ववेत्ता! आज संसार में बढ़ते भौतिक संसाधनों, यंत्रादि को देखकर अचंभित होते हो, भौतिक विज्ञान पर

1. जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥160॥ –नि.सा.

आश्चर्य करते हो। अरे! वीतराग विज्ञान के समक्ष संसार के समस्त विज्ञान शक्तिहीन ही हैं। संसार में नए-नए आविष्कारों (Inventions) को देखकर आश्चर्यचकित नहीं होना, आत्मा में अनंत और अद्भुत शक्ति है। पुद्गल से कम तो यह आत्मा नहीं। यदि परमाणु 1 समय में 14 राजू गमन कर सकता है तो आत्मा के पास भी यह शक्ति है। पुद्गल (कर्म) के माध्यम से यदि आत्मा संसार कारागृह में कैद है तो आत्मा में कर्मों की जंजीर को तोड़कर मुक्त होने की सामर्थ्य है।

अहो तत्त्ववेत्ता! अपनी शक्ति को पहचानो, अंनत शक्ति से युक्त होते हुए भी स्वयं को शक्तिहीन समझते हो, नियमादि ग्रहण करने में डरते हो। अरे! दुनिया को अचंभित करने वाली यह आत्मशक्ति है। अपने को शक्तिहीन समझ संयम-साधना से भयभीत होते हो, यह तो ऐसे ही हुआ जैसे जन्म लेते ही कोई सिंह कारणवश गधों के समूह में पहुँच गया और वहाँ वह सिंहों का वंशज है यह भूलकर गधों सी प्रवृत्ति करता है। फिर किसी एक दिन सिंहों के माध्यम से अपनी शक्ति का भानकर दहाड़ लगा गधों के समूह से निकलकर जंगल का राजा बन जाता है।

प्रिय चेतना! तुम्हारे साथ भी कुछ ऐसा ही है। तुम अरिहंतों, सिद्धों के वंशज हो। कर्म रूपी गधों के बीच में रहकर अपनी आत्मा की शक्ति भूल गए हो। यदि एक बार शक्ति की पहचान कर लो तो संयम की दहाड़ लगाकर कर्म रूपी गधों को भगाकर अपने आत्म साम्राज्य के राजा बन सकते हो। अपनी शक्ति को पहचानकर पूजन, वैय्यावृत्ति, व्रत-उपवास, संयम-साधना करो। वर्तमान में जितनी शक्ति है उसका सदुपयोग करोगे तो आगे अनंत शक्ति भी मिलेगी और वर्तमान में जितनी शक्ति प्राप्त हुई है उतनी का भी सदुपयोग ना किया, संयम का पालन नहीं किया तो जैसे अब तक दु:ख उठाते आए हो, वैसे ही आगे भी उठाने पड़ेंगे। अत: मैं अपने इष्ट-आराध्य के समक्ष अनंतवीर्य को प्राप्त वा प्रकट करने की शक्ति चाहता हूँ क्योंकि जिनेंद्र प्रभु की भक्ति हर मुश्किल को आसान बना देती है।

सद्बोध - पोतमतिरूह्य भवाम्बुराशि-
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं,
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमं नः॥274॥-नि.सा./ता.वृ.

हे जिननाथ क्योंकि आपने सम्यग्ज्ञान रूपी जहाज पर आरूढ़ होकर संसार रूपी समुद्र को पार कर सहसा मोक्षपुरी प्राप्त की है अत: उसी मार्ग से मैं भी इस समय चल रहा हूँ। हम लोगों को संसार में इससे बढ़कर दूसरा शरण क्या हो सकता है? अर्थात् और कुछ नहीं।

अणंतसुहसरूवो हं।।4।।

अर्थ–मैं अनंत सुख स्वरूप हूँ।

भावार्थ–आकुलता से रहित सुख आत्मा का स्वभाव है। अहो! आत्मा का सुख अनंत है। उस शब्द को वचनों में नहीं कहा जा सकता। हे तत्त्वज्ञानी! तुम्हारी आत्मा तो सुख का निधान है, सुख पुंज है फिर भी उस सुख से अनजान होकर नश्वर भौतिक सुखों के पीछे दौड़ रहे हो, वह मृगमरीचिका ही तो है अर्थात् जिस प्रकार हरिण गर्मियों में कंठ शुष्क होने पर वन में दौड़ लगाता है तब सूर्य की किरणों से बालू की चमक देखकर व लू से उस बालू में होती हुई हलन-चलन को देखकर, उसमें जल का भ्रम कर उस ओर दौड़ता है और पुनः वहाँ पहुँचकर जब जल नहीं मिलता तब बहुत निराश हो जाता है, इसी प्रकार जल के भ्रम में भटकता हुआ, दौड़ता हुआ अपने प्राणों को तज देता है।

यही दशा तो संसारी प्राणी की है। हे तत्त्ववेत्ता! अनादिकाल से इंद्रिय विषयों में सुख मानकर इस संसारारण्य में भटक रहे हो किन्तु आज तक तुम्हें सुख की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि जिसे तुम सुख मान रहे हो वह सुख नहीं, सुखाभास है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दर्पण में मुख दिखता तो है किन्तु यथार्थ में है नहीं, वैसे ही संसार में सुख लगता तो है किन्तु है नहीं।

ऐहिकं यत्सुखं नाम, सर्व वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं, किन्तु दुःखमसंशयम्।।238।।–पंचाध्यायी

जो लौकिक सुख है, वह सब इन्द्रिय विषयक माना जाता है इसलिए वह सब केवल सुखाभास ही नहीं है किन्तु निःसन्देह दुःखरूप भी है।

अहो भोले आत्मन्! अभी तक अज्ञानतावश स्वाभाविक सुख रूपी अमृत के अभाव में इंद्रिय विषयों का सेवन करता हुआ संसार में भ्रमण कर रहा है। कभी विचार करता है कि अच्छी उच्च शिक्षा प्राप्त कर लूँगा तो सुखी हो जाऊँगा, विवाह हो जाएगा तो सुखी हो जाऊँगा, संतान हो जाएगी तो सुखी हो जाऊँगा या विभिन्न प्रकार के भोग भोगूँगा तो सुखी हो जाऊँगा, अनंत भव व्यतीत हो गए किन्तु आज तक इस जीव को सुख की प्राप्ति नहीं हुई। होती भी कैसे क्योंकि जिसे सुख मानकर पीछे दौड़ रहा है, वह सुख है ही नहीं। अरे! सुख बाहर नहीं है सुख स्वयं तेरे अंदर है।

हे तत्त्ववेत्ता! अपने उस आत्मार्थ सुख को पहचानो जो आत्मानुभव रूप है। वह सुख जो आत्मा में आत्मा से ही सेवन करने से आता है। वह सुख जो अक्षय, अविनाशी व अव्याबाध है। वह सुख जो राग-द्वेषादि के क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। वह सुख जो अनुपम, अनंत और विषयों से रहित है। अहो! जिस सुख की तलाश तुम अनादिकाल से कर रहे हो वह तो तुम्हारे अंदर ही है, तुम स्वयं सुख रूप हो।

''आनंद स्रोत बह रहा, मन क्यों उदास है।
अचरज है जल में रहके भी मछली को प्यास है।''

तुम्हारी आत्मा के स्वभाव रूप सुख के समक्ष यदि समस्त संसारी प्राणियों के सुख को मिला लिया जाए तो भी वह कण बराबर नहीं है। कहा भी है–

चक्किकुरुफणि-सुरिंददेवहमिंदे जं सुहं तिकालभवं।
तत्तो अणंतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि।।560।।–त्रिलोकसार

चक्रवर्ती, भोगभूमिज, धरणेन्द्र, देवेन्द्र और अहमिन्द्र के क्रमशः अनंतगुणा-अनंतगुणा सुख है। इन सबका त्रिकाल में होने वाला अनंत सुख एकत्रित करने पर भी सिद्धों के एक क्षण में होने वाला सुख अनंत गुणा है।

इसी प्रकार भगवती आराधना में भी कहा है कि–स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इत्यादिकों से जो सुख देवेन्द्र, चक्रवर्ती वगैरह को प्राप्त होता है जो कि इस लोक में श्रेष्ठ माना जाता है वह सुख सिद्धों के सुख का अनंतवाँ हिस्सा होता है।[1] तीन काल में मनुष्य, तिर्यंच और देवों में जो सुख मिलता है वे सब मिलकर के भी सिद्धों के एक क्षण के सुख की भी बराबरी नहीं करते।[2]

प्रिय चेतना! भोग रति का सेवन करने से नियम से आत्मा का नाश होता है परन्तु अध्यात्म रति का उत्कृष्ट अभ्यास करने पर आत्मा का नाश नहीं होता और यह अविनश्वर व बाधा से रहित भी है। अतः निज स्वरूपवंत अव्याबाध सुख को प्राप्त करने के लिए बाह्य लौकिक सुख के कारणभूत भोगों से मैं अब विरक्त होता हूँ।

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं,
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं,
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेऽहम्।।197।।–नि.सा./ता.वृ.

भव-भव में होने वाला जो सुख है वह कल्पना मात्र से रमणीय है, मैं आत्मशक्ति से उस समस्त सुख को छोड़ता हूँ और चैतन्यचमत्कार मात्र तथा निज विलास के विकास से युक्त सहज परम सुख का निरन्तर अनुभव करता हूँ।

1. देविंदचक्कवट्टी, इंदियसोक्खं च जं अणुवहंति।
   सद्दरसरूव गंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए।।2148।। –भ.आ.
   अव्वाबाधं च सुहं, सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे।
   तस्स हु अणंतभागो, इंदियसोक्खं तयं होज्ज।।2149।। –भ.आ.
2. तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुस तिरिक्खदेवाणं।
   सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण।।2151।। –भ.आ.

यही अनंत सुख स्वरूपी मैं हूँ जिसमें सुख का सागर हिलोरें ले रहा है। अहो तत्त्ववेत्ता! करुणा कर गुरु महाराज मुझे बार-बार समझा रहे हैं कि जो घर, मकान, स्त्री, पुत्र, धन-धान्यादि से विरक्त हो निज कारण परमात्मा का ध्यान करता है उसी वैराग्य रूपी महल के शिखर पर लगे हुए शिखामणि के समान सुशोभित योगी को आत्मसुख प्राप्त होता है। अतः भव-भव के विषमयी वृक्षों के फल स्वरूप इन दुःखों के कारणों को जानकर सर्व भोगों, क्षणिक सांसारिक सुखों से विरक्त होकर निज आत्मतत्त्व में लीन होता हूँ।

परमवीयरायो हं॥5॥

अर्थ—मैं परम वीतराग स्वरूप हूँ।

भावार्थ—अनादिकाल से यह जीव राग-द्वेष के वशीभूत होकर निरन्तर कर्मों का बन्ध कर रहा है और संसार में दुःख भोगने के लिए परतन्त्र है।

रागद्वेषद्वयीदीर्घ, नेत्राकर्षण कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥11॥—इष्टोपदेश

स्वपर के विवेक ज्ञान के अभाव से रागद्वेष रूपी दो दीर्घ (दही आदि के मंथन करने की) रस्सी के समान कर्म के द्वारा यह जीव अनादिकाल से संसार समुद्र में भ्रमण कर रहा है।

राग शब्द का अर्थ स्निग्धता भी कहा जा सकता है। पौद्‌गलिक परमाणुओं में दो प्रकार की शक्ति होती है—स्निग्ध रूप व रुक्ष रूप। यह स्निग्धता व रुक्षता पुद्‌गल का गुण है और इसी गुण के कारण जीव के राग-द्वेष रूप वैभाविक परिणामों से कार्माण वर्गणाएँ आत्मा से बंध को प्राप्त होती हैं।

स्नेह, प्रेम, अनुराग, अनुरक्ति, आसक्ति, परवस्तु में लीनता इत्यादि ये सब लगभग राग के समानार्थी शब्द हैं। जीव में राग की प्रवृत्ति प्रथम से दसवें गुणस्थान तक पायी जाती है। पहले गुणस्थान में राग मिथ्यात्व के अविनाभावी रूप होता है, वहाँ अनंतानुबंधी कषाय भी होती हैं अतः यहाँ राग अत्यन्त तीव्र होता है। क्रोध व मान ये दोनों कषाय द्वेष रूप होती हैं तथा माया व लोभ ये दोनों कषाय राग रूप होती हैं।

अनंतानुबंधी कषाय का अनुभाग सबसे तीव्र होता है। अप्रत्याख्यान का उससे कम, प्रत्याख्यान का उससे कम और संज्वलन का सबसे कम होता है। जैसे एक दीवार पर जल, दूसरी पर तेल, तीसरी पर फैवीकॉल और चौथी पर तारकोल लगा हो और इन पर धूल फेंकी जाए तो वह दीवार से चिपक जाएगी। किन्तु क्रमशः देखें तो धूल अधिक-अधिक गाढ़ रूप चिपकती जा रही है। जल पर चिपकी धूल शीघ्र स्वतः ही झड़ जाएगी, तेल की धूल थोड़े ज्यादा समय तक, फैवीकॉल से चिपकी धूल बहुत अधिक समय तक और तारकोल वाली तो बहुत ही अधिक समय तक चिपकी रहेगी।

ऐसे ही जितना अधिक राग होता है उतना ही अधिक निविड बंध होता है। प्रथम गुणस्थान का राग जितना अधिक होता है, दसवें गुणस्थान का उतना अधिक नहीं होता वह तो बहुत कम होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तो अनंतानुबंधी कषाय होने एवं उस अनुरूप राग होने से जो कार्माण वर्गणाएँ आती हैं वे जीव को सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक का भी बंध करा सकती हैं। यहाँ राग इतने समय तक के लिए कार्माण वर्गणाओं को पकड़ सकता है क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व का संरक्षण है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह राग बहुत भयंकर है। यह राग करना तेरा स्वभाव नहीं है। न तो अनंतानुबंधी राग युक्त तेरा स्वभाव है, न अप्रत्याख्यान राग युक्त तेरा स्वभाव है, न प्रत्याख्यान राग युक्त तेरा स्वभाव है और जहाँ सूक्ष्म लोभ रह जाता है, उस दसवें गुणस्थान में जो अतिजघन्य राग है वह भी तेरा स्वभाव नहीं है। जहाँ कर्मों का जघन्य स्थिति बंध होता है उतना राग भी तेरा स्वभाव नहीं है।

अप्रमत्त गुणस्थान तक राग व्यक्त पाया जाता है पुनः दसवें गुणस्थान तक राग सूक्ष्म होने से अव्यक्त है। यह सूक्ष्म राग भी तेरा स्वभाव नहीं। 11वें से 14वें गुणस्थान तक यद्यपि वीतरागता है क्योंकि यहाँ कषायों का सद्भाव नहीं तद्यपि वहाँ अन्य कर्मों का आस्रव होने से परम वीतरागता नहीं। वह परम या स्वभाव वीतरागता नहीं है जो सिद्धों में पायी जाती है। अशुद्ध जीव में परम शुद्ध वीतरागता संभव नहीं है, वह परम शुद्ध वीतरागता सिद्धों में संभव है और वही मेरा स्वभाव है।

अहो! मैं सर्वप्रथम उनसे राग तोड़ता हूँ जो मेरी आत्मा का अधिक अहित करने वाले हैं। कई बार जीव अज्ञानतावश या किन्हीं अज्ञानियों की बात में आकर कहता है कि मुझे भगवान् से राग नहीं करना, गुरु से राग नहीं करना, शास्त्र से राग नहीं करना। हे तत्त्ववेत्ता! तुम अपने ज्ञान का उपयोग क्यों नहीं करते, पहले कौन सा राग घटाना है। माना एक व्यक्ति के शरीर में बाण या तीर लगा है जिसे शीघ्र ना निकाला गया तो वह मृत्यु को प्राप्त हो सकता है, दूसरा हाथ में सुई लगी है, तीसरा पैर में काँटा लगा है और चौथा नाखून में तृण लगा है तब वह पहले क्या निकालेगा? या क्या निकालना चाहिए। वह सर्वप्रथम बाण निकालकर अलग करेगा जो उसे अत्यंत वेदना-पीड़ा दे रहा है, उसे निकालने के लिए वह कुशल व्यक्ति का सहयोग लेगा, कहेगा भाई! मुझे तीव्र वेदना हो रही है, इस बाण को निकालने में मदद करो।

इसी प्रकार हे आत्मन्! देव, शास्त्र, गुरु का आलंबन लेकर आत्मा में विद्यमान अनंतानुबंधी युक्त राग रूपी तीर को अपने अंदर से निकालो। देव-शास्त्र-गुरु के बिना यह राग का तीर निकालना संभव नहीं। तीर निकालकर अर्थात् अनंतानुबंधी दूर कर सम्यग्दृष्टि बनो पुनः हाथ में लगी सुई को निकालो। अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी राग को दूर करो और देशसंयम स्वीकार करो। पुनः पैर के काँटे अर्थात् प्रत्याख्यानावरण को दूर कर महाव्रतों को स्वीकार करो। अब नाखून में लगा वह तृण, उसको निकालने की आवश्यकता नहीं। नाखनू को काटने पर वह स्वयं अलग हो जाएगा।

हे तत्त्ववेत्ता! अब स्वयं अपने ज्ञान का सदुपयोग करो। दूसरों की बात मानते-मानते अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण किया। अरे! तुम जनवाणी क्यों सुनते हो, लोगों की बात क्यों सुनते हो, जिनवाणी को अपने हृदय में क्यों नहीं बसाते? **'जिणवयणं परमोसही'** जिनवचन ही परमौषधि हैं। देव-शास्त्र-गुरु ही तुम्हारा कल्याण कर सकते हैं इनके अतिरिक्त कोई भी अव्रती, असंयमी तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकता। अहो! तुम जानते हो कि पत्थर की नाव में बैठने वाला नदी में डूब जाता है तब उसका आश्रय क्यों लेते हो?

हे भव्यजीव! गुरु महाराज तुम्हें करुणापूर्वक समझा रहे हैं कि तुम अपनी आत्मा की ध्वनि को सुनो, जिनवचनों को अपने अन्दर धारण करो। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी ही तुम्हारा कल्याण करने में समर्थ होगी। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान युक्त राग को तो आज भी छोड़ा जा सकता है किन्तु संज्वलन राग को छोड़ने के लिए उत्तम वज्रवृषभनाराच संहनन की आवश्यकता होगी, जो आज इस समय असंभव है। अत: प्रथम तीनों कषाय युक्त राग का क्रमश: त्याग कर, संज्वलन युक्त राग को मंद, मंदतर व मंदतम करो।

अहो भोली चेतना! विषयानुराग, पापानुराग, कषायानुराग, भोगानुराग इत्यादि का त्याग कर पहले धर्मानुराग करो। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अनुराग करो। यही अनुराग तुम्हारी वीतरागता का कारण बनेगा। आचार्य श्री कुंदकुंद देव कहते हैं–

देवगुरुसमयभत्ता, संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता।
रयणत्तय-संजुत्ता, ते मणुया सिवसुहं पत्ता॥9॥–रयणसार

जो देव-शास्त्र-गुरु का भक्त है, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त है, रत्नत्रय से संयुक्त है, वही मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

मैं परम वीतरागता की प्राप्ति के लिए देव-शास्त्र-गुरु की शरण को प्राप्त होता हूँ, निज रत्नत्रय को विशुद्ध करता हूँ और बाह्य पदार्थों से राग को छोड़ता हुआ निज आत्मा में लीन होता हूँ।

वीयदोसो हं॥6॥

अर्थ–मैं दोषों से रहित हूँ।

भावार्थ–रागादि भाव दोष कहे जाते हैं। किन्तु कर्म का क्षय हो जाने पर सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा में कोई दोष विद्यमान नहीं रहता। घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर अरिहंत अवस्था को प्राप्त वह परमात्मा 18 दोषों से रहित होता है।

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ, विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥6॥–नियमसार

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अट्ठारह दोष हैं।

असाता वेदनीय कर्म के उदय से भूख लगना क्षुधा है, असाता वेदनीय कर्म के उदय से प्यास लगना तृषा है। भीति या डर, भय है। क्रोधी का तीव्र क्रोध परिणाम रोष है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से इष्ट पदार्थों में प्रीति रूप परिणाम राग है। दान, पूजा, गुरुओं की वैय्यावृत्ति आदि से उत्पन्न हुआ प्रशस्त राग है और चार विकथाओं के कहने-सुनने के कौतूहल रूप परिणाम अप्रशस्त राग है। जीव के द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ़भाव मोह है। वह भी प्रशस्त व अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। चारों वर्ण के मुनियों के संघ में जो राग परिणाम है वह प्रशस्त मोह है और अन्य अप्रशस्त मोह है। धर्म व शुक्लध्यान रूप प्रशस्त चिंता है, अन्य आर्त्त-रौद्रध्यान रूप अप्रशस्त चिन्ता है।

तिर्यंचों और मनुष्यों का आयु कृत देह विकार जरा या बुढ़ापा है। वात-पित्त व कफ की विषमता से जो शरीर में पीड़ा है वह रोग है। वर्तमान आयु (पर्याय) का क्षय होना मृत्यु है। अशुभ कर्मोदय व देह श्रम से उत्पन्न हुए दुर्गंध युक्त जल की बूंदों का समूह स्वेद या पसीना है। अनिष्ट की प्राप्ति होना खेद है। शरीर, रूप, कुल, ज्ञान आदि का अहंकार, मद कहलाता है। मनोज्ञ वस्तुओं में अत्यंत प्रीति रति है। अपूर्व दृश्य, वस्तु आदि के देखने से जो आश्चर्य होता है वह विस्मय है। पूर्व पर्याय का क्षय होने पर दूसरी पर्याय (देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य) में उत्पत्ति होना जन्म है। दर्शनावरणी कर्म के उदय से नींद आना निद्रा है। इष्ट के वियोग में वैचित्र्य रूप परिणाम उद्वेग है।

अरिहंत व सिद्ध परमेष्ठी इन दोषों से सर्वथा हीन हैं। क्योंकि दोषों की उत्पत्ति का कारण अर्थात् कर्म इनके नहीं है और कारण के अभाव में कार्य का अभाव तो निश्चित ही है। हे तत्त्ववेत्ता! इन अट्ठारह दोषों से तुम भी सर्वथा हीन हो। इसके अतिरिक्त ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष आदि भी वैभाविक परिणाम हैं। तब इन्हें करके पुनः-पुनः स्वभाव से च्युत क्यों होते हो?

तुम अनंत गुणों का पुंज हो। एक भी दोष या एक भी अवगुण जैसे–चिल्लाना, निन्दा करना, चुगली इत्यादि करना, इन सबसे तुम सर्वथा हीन हो। हाय! इस जीव की यह अज्ञानता तो देखो गुण रत्नों का खजाना होने के बाद भी अवगुण रूप कीचड़ में पड़कर कर्म मल इकट्ठा कर रहा है। हे तत्त्ववेत्ता! सिद्धों के समान ही तुम निर्दोष, निष्कलंक हो। अतः सिद्ध का ध्यान करते हुए एक-एक अवगुण को छोड़ते हुए एक-एक गुण ग्रहण करने का अभ्यास करो।

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा॥7॥–नि.सा.

जो समस्त दोषों से रहित है और केवलज्ञान आदि परम विभव से युक्त है वे परमात्मा कहलाते हैं। इससे विपरीत कोई परमात्मा नहीं हो सकता।

हे तत्त्ववेत्ता! शुद्ध निश्चय नय से परमात्म स्वरूप के समान ही तेरा स्वरूप है। उन्हीं के समान तुम भी अठारह दोषों से, सर्व अवगुणों से रहित हो।

अब मैं सर्व अवगुणों को त्याग कर निज गुणों को देखता हूँ, निहारता हूँ, स्वयं में गुण पुंज हूँ ऐसा अनुभव कर अपने आराध्य प्रभु व गुरुवर के चरणों में भावना भाता हूँ कि उन सब स्वाभाविक गुणों की प्राप्ति मुझे हो। क्योंकि उन गुणों की प्राप्ति प्रभु की आराधना, गुरु के निर्देशन व आशीर्वाद के बिना संभव नहीं है। हे प्रभुवर! मुझे शक्ति दो कि मैं उन गुणों की प्राप्ति हेतु कर्म क्षय में समर्थ रत्नत्रय का निर्दोष पालन कर सकूँ। हे गुरुवर! मुझे साहस दो कि मैं निरंतर अबाधगति से मोक्ष पथ पर आगे बढ़ता रहूँ।

अणंतसम्मत्तसरूवो हं।।7।।

अर्थ–मैं अनंत सम्यक्त्व स्वरूप हूँ।

भावार्थ–प्रत्येक आत्मा में श्रद्धा नाम का गुण विद्यमान है और प्रत्येक गुण की कोई न कोई पर्याय होती है। प्रत्येक पर्याय के कम से कम दो रूप होते हैं–एक स्वभाव रूप व दूसरा विभाव रूप। स्वभाव रूप पर्याय सभी स्वभाव लब्ध जीवों के समान होती है। विभाव रूप पर्याय के अनेक रूप हैं। जैसे–किसी भी वस्तु का दो प्रकार का परिणमन होता है–सम्यक् व मिथ्या। सम्यक् व मिथ्या दोनों ही परिणमन में अनंत भेद होते हैं। यथा-चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धों तक सभी का ज्ञान सम्यक् है। चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धों तक सम्यग्ज्ञान के जितने भेद हैं, उतने सम्यक् परिणमन हैं। अत: सम्यक् परिणमन के कई भेद होते हैं। इसी प्रकार निगोदिया जीव से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जो मिथ्यादृष्टि हैं या सासादन सम्यग्दृष्टि हैं वे सभी मिथ्याज्ञान से युक्त हैं। अक्षर के अनंतवें भाग से लेकर ग्यारह अंग 9 पूर्व तक का ज्ञान मिथ्या हो सकता है।

क्षयोपशम सबका अलग-अलग है। क्षयोपशम के अलग होने से गुण की पर्याय भी सबके अलग-अलग है। मिथ्याज्ञान का सबसे जघन्य परिणमन निगोदिया जीव के और सम्यग्ज्ञान का सबसे उत्कृष्ट परिणमन सिद्धों के होता है। चौथे गुणस्थान से 12वें गुणस्थान तक छद्मस्थों के सम्यक् परिणमन तो है किन्तु वैभाविक परिणमन है। 13वें व 14वें गुणस्थान में परिणमन स्वाभाविक तो है किन्तु परम शुद्ध स्वाभाविक नहीं।

श्रद्धा की दो परिणति तो जानते ही हैं, सम्यक् व मिथ्या तीसरा है मिश्र श्रद्धान। मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव के श्रद्धा गुण में मिथ्या (विपरीत) परिणमन है।

माना एक व्यक्ति मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक आ रहा है, जब तक चौथे में नहीं आया तब तक उस मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्या रूप संख्यात, असंख्यात व संख्यातासंख्यात लोक प्रमाण अनेक रूप परिणाम होंगे। यूँ तो मिथ्यात्व के गृहीत-अगृहीत वा विपरीत, एकांत, विनय,

संशय व अज्ञान के भेद से 2 व 5 भेद हैं। इसी प्रकार सम्यक्त्व के दो भेद हैं–निसर्गज-अधिगमज अथवा सराग-वीतराग अथवा व्यवहार व निश्चय। सम्यक्त्व के तीन भेद भी हैं–औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक। सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेद भी हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व निर्मल है किन्तु अन्तर्मुहूर्त का ही इसका काल है। कहा भी है–

देवे अणण्ण भावो, विसयविरागो य तच्चसद्दहणं।
दिट्ठीसु असम्मोहो, सम्मत्तमणूणयं जाणे॥165॥–पं.सं.

उपशम सम्यक्त्व के होने पर जीव के सत्यार्थ देव में अनन्य भक्तिभाव, विषयों से विराग, तत्त्वों का श्रद्धान और विविध मिथ्यादृष्टियों वा मतों में असम्मोह प्रगट होता है। इसे (निर्मलता की अपेक्षा) क्षायिक सम्यक्त्व से कम नहीं जानना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व समल है, चल-मलिन-अगाढ़ दोष से युक्त है। इसका उत्कृष्ट काल 4 पूर्व कोटि अधिक 66 सागर है।

दंसणमोहुदयादो, उप्पज्जई जं पयत्थ-सद्दहणं।
चलमलिनमगाढं तं, वेदगसम्मत्तमिह मुणहु॥–ध. 1

सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है उसको वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व अत्यंत निर्मल है, दर्शन मोहनीय व अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षय से उत्पन्न होता है।

सत्तण्णं पयडीणं, खयादु खइयं तु होदि सम्मत्तं।
मेरु व्व णिप्पकंपं सुणिम्मलं अक्खयमणंतं॥164॥ –लब्धिसार

सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। वह मेरु की भाँति निष्प्रकम्प, निर्मल व अक्षय अनंत है।

इसका उत्कृष्ट काल 8 वर्ष कम 2 कोटि पूर्व अधिक 33 सागर है। यह काल संसार की अपेक्षा से है अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जीव अधिक से अधिक इतने समय तक ही संसार में रह सकता है पुनः मोक्षप्राप्ति का नियम है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह उपशम सम्यक्त्व तेरा स्वभाव नहीं है, किन्तु स्वभाव की ओर ले जाने वाला होने से उपकारक है। इसी प्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व भी तेरा स्वभाव नहीं है किन्तु स्वभाव का भान कराने वाला होने से उपकारक है। हाँ! क्षायिक सम्यक्त्व तेरा स्वभाव है। चौथे गुणस्थान में हुआ क्षायिक सम्यक्त्व स्वभाव का प्रारंभ ही मानो। आगे बढ़ते-बढ़ते 13वें गुणस्थान तक ज्यों-ज्यों ज्ञान व चारित्र में निर्मलता आती है त्यों-त्यों सम्यक्त्व में निर्मलता आती है।

कोई प्रश्न करता है कि क्या गुण एक-दूसरे के अधीन होते हैं? तब कहते हैं कि हाँ! गुण सहवासी होते हैं। एक गुण का दूसरे गुण पर प्रभाव संभव है। जैसे—एक आम में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है। यदि आम खट्टा है तो उसकी गंध में अंतर है। रस के अंतर से गंध में अंतर आ जाता है। आम कच्चा था तो हरा था, पक गया तो पीला हो गया। स्पर्श के अन्तर से वर्ण में भी अंतर है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों सम्यक्त्व में अचलता, अडिगता, निर्मलता आती है।

14वें गुणस्थान में सम्यक्त्व की पूर्णता मानी है। सिद्धों में ही वह स्वाभाविक अनंत रूप सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

संसारी प्राणी के सम्यक्त्व को अनंत नहीं कहा जा सकता क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर उसके संसार की मर्यादा अनंत नहीं है। अनंत कहने की अपेक्षा आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने कई प्रकार से कही—द्रव्य की अपेक्षा, क्षेत्र की अपेक्षा, काल की अपेक्षा या भाव की अपेक्षा अनंत। मोह क्षीण होने पर 12वें, 13वें वा 14वें गुणस्थानवर्ती का सम्यक्त्व काल की अपेक्षा अनंत नहीं है किन्तु वह जो सम्यक्त्व का भाव है वह कभी नष्ट नहीं होगा अतः अनंत है। वह गुण है अतः अविनश्वर होने से अनंत है। किन्तु सिद्धों का सम्यक्त्व जैसा प्रथम समय में था, अनंतकाल तक वैसा ही रहेगा। उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अंतर नहीं आ सकता। अतः वह सिद्धों का सम्यक्त्व अनंत सम्यक्त्व है या परम क्षायिक सम्यक्त्व या सर्वोत्कृष्ट सम्यक्त्व है।

हे तत्त्ववेत्ता! ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त करना ही तेरा स्वभाव है।

उसी सम्यक्त्व को प्राप्त करने की भावना भाओ, उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। अनादिकाल से मिथ्यात्व का ही पोषण करते आ रहे हो, कभी कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को पूजते हो, कभी वस्त्रधारी सरागी देवों को पूजते हो, कभी एकांतवादी के शास्त्रों को पढ़ते हो, कभी कुतीर्थों पर जाते हो, कभी कुलिंग धारण करते हो, इनके माध्यम से अपने अहंकार का पोषण करते हो, अपनी मान्यता का पोषण करते हो।

अहो! अब तो निजात्म कल्याण का विचार करो। अहंकार के पोषण में मत पड़ो, यह शरीर, प्रतिष्ठा, गृहादि शाश्वत नहीं है। बस एक बार श्री गुरुवर की, अरिहंत देव की, माँ जिनवाणी की बात मान लो, वे करुणापूर्वक तुम्हें पुकारकर कह रहे हैं—हे भव्य जीव! अब हठ को छोड़ दे, एकांतवाद को छोड़ दे। एकांतवाद से क्षणभर को तुम्हारे अहंकार की पुष्टि हो सकती है किन्तु आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। यदि अहंकार के कारण अंतर्मुहूर्त में भी मिथ्यात्व का बंध कर लिया तो फिर संसार परिभ्रमण रुकेगा नहीं, नरकों के दुःख भोगने पड़ेंगे, दुर्गतियों में भटकना पड़ेगा।

आज कुगुरुओं की संगति में पड़कर सत्यार्थ को समझ नहीं पा रहा, उन्हीं को सच्चा गुरु मानकर बैठ गया है। अरे! इन मिथ्या धारणा व चिंतन को जिनवाणी कहना चाहता है, तेरी बुद्धि को क्या हो गया है? तुम तो अनंत सम्यक्त्व के भोक्ता हो, आज मिथ्यात्व की कीचड़ में क्यों पड़े हो।

हे प्रिय आत्मन!! बस एकबार जिनवाणी का रसपान कर लो फिर कभी विषयों की कीचड़ का स्वाद नहीं लोगे, फिर जन-जन के शब्दों को नहीं अपनाओगे। एक बार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में आ जा, यह अनंत सम्यक्त्व ही तेरा स्वरूप है, यही तेरा स्वभाव है।

अमुत्तो हं॥8॥

अर्थ–मैं अमूर्तिक हूँ।

भावार्थ–जो स्पर्श, रस, गंध व वर्ण से रहित है वह अमूर्तिक कहलाता है। इस आत्मा को छूकर नहीं जाना जा सकता है क्योंकि यह स्पर्श से रहित है, न हल्की है, न भारी है, न कठोर है, न मृदु है, न रुक्ष है, न स्निग्ध है, न शीत है, न ऊष्ण है क्योंकि ये सभी विषय अनुभूति से भिन्न हैं। इसी प्रकार आत्मा का कोई रस भी नहीं है जो रस के माध्यम से इसका ज्ञान हो सके। यह न खट्टी है न मीठी, न चरपरी है न कसैली और ना ही कटुक। ये सभी रस भी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। आत्मा के कोई गंध भी नहीं है, न सुगंध है, न दुर्गंध है, ये सुगंध-दुर्गंध तो पुद्गल में होती है, उसी का गुण है, ये आत्मानुभूति से भिन्न है। आत्मा के कोई वर्ण भी नहीं होता, न लाल, न पीला, न नीला, न सफेद, न काला। आत्मा सब वर्णों से रहित है। स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र भी जीव के नहीं हैं। स्पर्शादि से रहित होने से निश्चय नय से यह जीव अमूर्तिक है।

निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात् सदाप्यमूर्त्तः। (स.टी.ज.आ.)

निश्चय नय की अपेक्षा से रूप, रस, गंध, स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा अमूर्तिक हूँ।

ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स॥56॥
एदेहिं य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु, उवओग-गुणाधिगो जम्हा॥57॥–समयसार

व्यवहार नय से तो वर्ण को आदि में लेकर गुणस्थान पर्यंत ये सभी भाव जीव के हैं किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से ये कोई भी भाव नहीं हैं। इन वर्णादिकों के साथ जो जीव का संबंध है वह दूध और जल के संबंध जैसा ही मानना चाहिए किन्तु उस जीव के वे वर्णादि नहीं होते क्योंकि जीव तो उपयोग गुण से परिपूर्ण है।

हे तत्त्ववेत्ता! यह आत्मा सदाकाल अरूपी है। स्पर्शादि के माध्यम से पुद्गल को जाना जा सकता है किन्तु आत्मा को नहीं क्योंकि आत्मानुभूति से ये अत्यन्त भिन्न हैं। आत्मा का मात्र अनुभव किया जा सकता है। अभी तक पुद्गल गुणों के माध्यम से आत्मा को जानने का, पाने का प्रयास किया किन्तु यह तो असंभव ही है।

गदि-आगदि-विमुत्तो हं।।9।।

अर्थ–मैं गति, आगति से विमुक्त हूँ।

भावार्थ–गतियाँ चार हैं–मनुष्य, देव, नरक व तिर्यंच और मुख्य रूप से ये चार ही आगति हैं। जब तक जीव संसारी है, कर्म युक्त है तब तक इन्हीं चार गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। जीव एक गति से दूसरी जिस गति में जाता है उसे यहाँ 'गति' ग्रहण किया है और जिस गति से आता है अथवा जिस गति से आकर जन्म लेता है उसे यहाँ 'आगति' ग्रहण किया है।

अहो! राग-द्वेष के वशीभूत होकर यह आत्मा अनादिकाल से चतुर्गतियों में भ्रमण कर रहा है। एक गति से आता है, पुनः दूसरी गति में जन्म लेता है। कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य, कभी देव और कभी नारकी होता रहा है किन्तु आज तक तृष्णावान् यह जीव भोगों से तृप्त नहीं हुआ। हे तत्त्वज्ञानी! अब तो अपना सम्यक् स्वरूप जानो, स्वयं को पहचानो और जो तुम्हारा नहीं है उसे त्यागकर स्वात्म चिंतन करो। अनादिकाल से तुम्हारे संस्कार विषय-भोगों के पड़े हुए हैं अब उनको छोड़कर संयम, व्रत, तपादि के माध्यम से निजात्मा को संस्कारित करो।

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।4।।–समयसार

काम, भोग और बंध की कथा सभी संसारी जीवों को सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई है किन्तु पर से भिन्न, एकस्वरूप आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है।

हे तत्त्ववेत्ता! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। अतः व्यवहार रत्नत्रय का पालन करते हुए पुनः निश्चय रत्नत्रय के माध्यम से निजात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयासरत् होओ। यदि सर्व दुःखों से मुक्ति चाहते हो, कर्मों का क्षय करना चाहते हो तो निज शुद्धात्मा का अनुभव करो।

जो आदभावणमिणं, णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण।।12।।–स.सा.

जो मुनिराज सतत् उद्यमशील होते हुए इस आत्मा में आचरण करते हैं, आत्मा का अनुभव करते हैं, वे थोड़े ही काल में सर्वदुःखों से छुटकारा पा लेते हैं

हे प्रिय आत्मन्! ये गति-आगति में भ्रमण करना तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इस भव-भ्रमण के क्षय का पुरुषार्थ करो, निज स्वरूप को पाने का प्रयत्न करो। मैं स्वयं कारण परमात्मा हूँ। मैं इस कारण परमात्मा का चिंतन कर कार्य परमात्मा रूप होने को तत्पर होता हूँ।

सव्ववियप्पसुण्णो हं॥10॥

अर्थ–मैं सर्व विकल्पों से शून्य हूँ।

भावार्थ–शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा सर्व विकल्पों से रहित है। छद्मस्थ आत्मा ज्ञान के अनेक विकल्पों से युक्त होती है। विकल्प शब्द का अर्थ है–चित्त में एक साथ दो प्रकार की कल्पनाएँ होना, चित्त का द्वय आदि दिशाओं में गतिशील होना। शून्य का अर्थ होता है–सभी अंकों का निकल जाना, जहाँ कुछ भी शेष नहीं रहता। चित्त में से सभी विकल्प रूप अंक विनिर्गत होते हैं तब चित्त विकल्पों से शून्यता प्राप्त कर लेता है।

शून्य, आकाश को भी कहा जाता है अतः शून्य शब्द का दूसरा अर्थ कहा जा सकता है जिसमें अवगाहन देने की शक्ति है। क्योंकि आकाश में अन्य द्रव्यों को अवगाहन देने की शक्ति है। इसी प्रकार जब आत्मा में छद्मस्थ ज्ञान के विकल्प नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा स्वकीय स्वाभाविक शुद्ध गुणों को प्रकट करने में समर्थ होती है।

संसारी प्राणी के जीवन में आत्मा के साथ जो कर्म बद्ध हैं, उनका उदय, संवर, निर्जरा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण हो रहा है। क्षयोपशम, उपशम या क्षय अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं किन्तु जब तक वे पूर्ण रूप से विलय को प्राप्त नहीं होंगे तब तक आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं होगी और जब तक आत्मा में कर्म रहेंगे तब तक उसमें विकल्प भी रहेंगे।

'श्रुतं विकल्पं' श्रुत ज्ञान विकल्प है। ज्ञान चेतना विकल्प युक्त व दर्शन चेतना विकल्प रहित होती है। ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम होने से नाना प्रकार के विकल्प, संकल्प, चिन्तन के बिन्दु उभर-उभर कर आते हैं। जिस प्रकार किसी जलाशय में वायु के निमित्त से लहरें उठती हैं उसी प्रकार क्षयोपशम ज्ञान के कारण चित्त में संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं किन्तु वही जल जब जम करके बर्फ हो जाता है, ग्लेशियर बन जाता है तब उसमें लहरें नहीं उठतीं। इसी प्रकार जब ज्ञानावरणी कर्म का क्षय हो जाता है तब वह निर्मल ज्ञान प्रकट होता है जिसमें कोई संकल्प-विकल्प नहीं होता।

वह केवलज्ञान दर्पण की भाँति निर्मल होता है। उस केवलज्ञान को आचार्यों ने दर्पण की उपमा दी 'दर्पणतल इव सकला..'। जिस प्रकार दर्पण के सामने चाहे अग्नि जले, चाहे बर्फ हो वह सब दर्पण में प्रतिबिम्बित तो होता है किन्तु वह उस दर्पण में है नहीं, उससे दर्पण प्रभावित नहीं होता। चाहे दर्पण के सामने कोई मुस्कुराए या मुँह बनाए किन्तु दर्पण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो मात्र उसमें प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार केवलज्ञान में लोकालोक प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु वास्तव में तो परमात्मा निज आत्मा में ही लीन है। भगवान् स्वात्मज्ञ व स्वदर्शकत्व हैं। उनके परज्ञता व परदर्शकत्व उपचार से ही हैं।

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥159॥–नि.सा.

केवली भगवान् व्यवहार नय से समस्त पदार्थों को जानते-देखते हैं और निश्चय नय से मात्र आत्मा को जानते-देखते हैं।

हे तत्त्वज्ञानी! यह आत्मा सर्व विकल्पों से शून्य है। तुम इन सांसारिक विकल्पों में क्यों उलझे हुए हो। यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। अनादिकाल से विकल्प में उलझकर कब तक अपने स्वभाव से दूर रहना है।

जिया कब तक उलझेगा, संकल्प-विकल्पों में।
कितने भव बीत चुके, संकल्प-विकल्पों में॥

विकल्प के दो भेद हैं। 'ममेदं' और 'अहमेदं'। ये मेरा है और मैं ऐसा हूँ। जब तक परपदार्थों में अहं बुद्धि व मम बुद्धि रहेगी तब तक विकल्प रहेंगे। हे तत्त्वज्ञानी! इस अहं बुद्धि का त्याग करो, ममत्व बुद्धि को छोड़ो और समत्व बुद्धि को जागृत करो। जब चित्त में समत्व की भावना जागृत होने लगती है तब विकल्प शनैः-शनैः शान्त होने लगते हैं।

तुम इन पौद्गलिक पदार्थ घर, दुकान, फैक्ट्री, वाहन, पत्नी, पुत्र-पुत्री, धन आदि के विकल्प में डूबे हो कि इनका कैसे संग्रह करना है, कैसे सुरक्षा करनी है। इस हेतु कभी छल कपट भी करते हो, कभी लोभ की भावना जागृत होती है। अप्राप्ति पर मायाचारी और प्राप्ति पर अहंकार आता है। अहो भोली आत्मन्। तुम इन सब विकल्पों में पड़े हो। जब-जब पुण्य का उदय आता है तब-तब इष्ट वस्तु का संयोग प्राप्त होता है और पाप का उदय आते ही उनका विलय हो जाता है। कोई भी पर वस्तु तेरी शाश्वत नहीं हो सकती एक पुद्गल परमाणु भी तेरा नहीं है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम क्यों इन विकल्पों में पड़ते हो, क्यों परवस्तुओं को अपना मानते हो। हर वस्तु परिणमनशील है उसकी पर्याय बदल जाएगी। परमाणु वही है कभी उनसे किसी वस्तु का निर्माण होता है और कभी वही परमाणु किसी और वस्तु रूप हो जाते हैं उन सभी पौद्गलिक वस्तुओं को तुम पुद्गल ही जानो। जब तक वस्तु का नाम लेते हैं, उसके गुण-दोष जानते हैं तब तक हमारे चित्त में राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होती है और यह राग-द्वेष ही विकल्पों का कारण है। अतः अपनी आत्मा का विकल्पों से रहित चिंतन करो। समस्त परद्रव्यों के विकल्प का त्याग करो। स्त्री, पुत्र, शरीरादि का विकल्प भी तुम्हारा स्वभाव नहीं अतः सर्व विकल्पों का त्याग कर निर्विकल्प समाधि में लीन होओ।

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥19॥–स.तं.

जो मैं अन्य गुरु, अध्यापकादि के द्वारा प्रतिपादन करने योग्य हूँ अथवा अन्य शिष्यादिक को मैं प्रतिपादन करता हूँ, समझाता हूँ, यह सब मेरी उन्मत्त चेष्टा है क्योंकि मैं वास्तव मैं निर्विकल्पात्मक हूँ।

अणाइ-अणंत-सरूवो हं॥11॥

अर्थ–मैं अनादि अनंत स्वरूप हूँ।

भावार्थ–इस संसार में सभी द्रव्य अनादिकाल से हैं और अनंत काल तक रहेंगे। कोई भी द्रव्य विनाश को प्राप्त नहीं होता और किसी भी द्रव्य का उत्पाद नहीं होता। पर्यायें उत्पन्न होती हैं और व्यय को प्राप्त होती हैं। हे तत्त्ववेत्ता! तुम चैतन्य द्रव्य हो। ज्ञान- दर्शन चेतना उस आत्म द्रव्य का विशिष्ट लक्षण है। तुम्हारी यह ज्ञान-दर्शन चेतना सादि-सांत, सादि-अनंत या अनादि-सांत नहीं है वह तो अनादि-अनंत है।

आज कर्मों के वशीभूत हो इस चेतन ने मनुष्य पर्याय प्राप्त की, यह औदारिक शरीर प्राप्त किया। शरीर के परमाणु बिखरकर परमाणु वा स्कंध हो जाएँगे किन्तु आत्मा के प्रदेश कभी नहीं बिखर सकते। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, अनादिकाल से असंख्यात प्रदेश थे और अनंतकाल तक भी असंख्यात प्रदेश ही रहेंगे क्योंकि यह अगुरुलघुत्व गुण से युक्त है।

हे तत्त्ववेत्ता! आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। तुम क्यों भयभीत होते हो। यह शरीर नष्ट होता है तो होने दो। इस शरीर का तो स्वभाव ही यही है, यह शरीर सादि-सांत है। संसार में प्राप्त होने वाले जितने भी पुण्य वा पाप रूप कर्म के फल हैं वे सभी सादि-सांत हैं। कर्म का फल कभी भी अनादि- अनंत नहीं हो सकता।

कोई यहाँ प्रश्न करता है कि अभव्य जीव का मिथ्यात्व तो अनादि-अनंत है, तब कर्म फल सादि-सांत होता है यह कैसे घटित होता है? तब उत्तर देते हैं कि अभव्य जीव भी पुनः-पुनः मिथ्यात्व का बंध करता है। एक कर्म प्रकृति अनादि-अनंत नहीं हो सकती। मिथ्यात्व का उत्कृष्ट बंध 70 कोड़ा-कोड़ी सागर हो सकता है, इससे अधिक नहीं। तब एक बार बद्ध कर्म ने फल दिया पुनः दूसरी कर्म प्रकृति उदय में आती है, अतः स्थिति बंध की अपेक्षा कोई भी कर्म अनादि-अनंत नहीं है।

हे तत्त्ववेत्ता! अपनी आत्मा को अनादिनिधन जानो। मेरी आत्मा अनादिकाल से थी। यह विभिन्न पर्यायों निगोदिया, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक आदि में, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चार इंद्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय वा संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्थाओं में नाना गतियों में भ्रमण कर रही थी। और मेरी यह आत्मा अनंतकाल तक रहेगी। अभी वर्तमान पर्याय पुनः आगे साधु, उपाध्याय, आचार्य व और आगे घातिया कर्मों का नाशकर अरिहंत अवस्था को प्राप्त करेगी। मैं अनादि अनंत स्वरूप हूँ। मेरा कोई प्रारंभ नहीं है और मैं कभी नष्ट नहीं होऊँगा।

मेरी आत्मा का कोई आदि नहीं है, कोई अंत नहीं है। यह जो चैतन्य अनुभव हो रहा है वही मैं अनादि-अनंत स्वरूप हूँ।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥41॥–समयसार कलश

जो अनादि है अर्थात् किसी भी काल में उत्पन्न नहीं हुआ है, अनंत है अर्थात् कभी भी जिसका विनाश नहीं होगा। अचल है (अपने स्वरूप में स्थिर है), जो स्वयं अपने आप से ही (स्वसंवेदन ज्ञान से ही) जाना जाता है और व्यक्त है, ऐसा यह चैतन्य जो अत्यन्त प्रकाशमान है, वह जीव है (यही मैं हूँ)।

हे तत्त्ववेत्ता! अपनी आत्मा का स्वरूप पहचानो। उसे शुद्ध करने का प्रयास करो। कर्मों के साथ रहना मेरा स्वभाव नहीं है। राग-द्वेष प्रवृत्ति कर यह जीव कर्म बद्ध हो कर्मों का फल भोगने को मजबूर होता है किन्तु कर्मों को ध्वस्त कर यह जीव निज शुद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। अहो भव्यात्मा! इन कर्मों को नष्ट कर तुम निज शुद्ध सहज स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप में लीन होओ, यह ही तुम्हारी नियति है।

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः॥19॥–नि.सा./ता.वृ.

परिग्रह का आग्रह छोड़कर और शरीर में उपेक्षाकर विद्वज्जन आकुलता रहित चैतन्य मात्र ही जिसका शरीर-आकार है ऐसे शुद्धात्मा का चिन्तन करें।

परमविसुद्धो हं॥12॥

अर्थ–मैं परम विशुद्ध हूँ।

भावार्थ–संसार में जो पौद्गलिक पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं उन्हें कभी यह जीव शुद्ध मानता है, कभी अशुद्ध मानता है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य। ये चार द्रव्य अनादि अनंत शुद्ध हैं। पुद्गल द्रव्य शुद्ध से अशुद्ध अर्थात् परमाणु से स्कंध और अशुद्ध से शुद्ध अर्थात् स्कंध से परमाणु होता रहता है। जीव द्रव्य जब तक कर्मों से युक्त है तब तक अशुद्ध है और यदि एक बार कर्मों से रहित हो जाए तो वह शुद्ध हो जाता है, पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता।

हे भव्य जीव! तुम्हारी चेतना में कषाय के उदय से, पंचेन्द्रियों के विषयों में रमण करने से, चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से संक्लेशता बनती है, इष्ट के वियोग व अनिष्ट के संयोग होने से संक्लेशता बनती है। यही परिणामों की निर्मलता का ह्रास है, परिणामों की अशुद्धि है। जैसे परिणाम नहीं होने चाहिए वैसे हो जाते हैं।

''संक्लेशता की हानि ही विशुद्धि है।'' संक्लेशता से पाप कर्म का आस्रव पंक के इकट्ठा होने जैसा है। विशुद्धि से पुण्य कर्म का आस्रव निर्मल जल की धारा के समान है। शुभ परिणामों से अशुभ परिणामों का निरोध होता है। शुद्ध परिणामों से शुभ व अशुभ दोनों परिणामों का निरोध होता है। तभी तो शुद्धोपयोग से युक्त योगी अधिक कर्मों का बंध नहीं करते, उस समय बद्ध कर्मों का स्थिति व अनुभाग कम होता है।

हे तत्त्ववेत्ता! मेरा स्वभाव अशुद्धि में रहना नहीं, मेरा स्वभाव मात्र शुद्धमय है। स्वभाव का प्रकटीकरण मुझे करना है। मेरा परिणाम सहज विशुद्ध हो। शाश्वत शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उस परम शुद्ध दशा को प्राप्त करना मेरा स्वभाव है जहाँ परिणाम अनंतकाल तक के लिए परम विशुद्ध हो जाते हैं।

अरे भोले आत्मन्! तुम छोटी-छोटी बातों से मन संक्लेशित क्यों कर लेते हो, फिर इतने पाप कर्मों का बंध कर घोर दु:ख उठाते हो। अरे! तुम्हारा स्वभाव भी सिद्धों जैसा है, तुम परम शुद्ध अवस्था रूप हो। इस मलिन अवस्था में क्यों पड़े हो। माना कोई राजा कीचड़ में गिर जाए और वह निज स्वरूप को भूलकर कीचड़ में ही आनंद लेने लगे तब कोई दूसरा बुद्धिमान् व्यक्ति आएगा कहेगा अरे! राजमहल में उत्कृष्ट वस्तुओं का उपभोग करने वाले निज वैभव को भूलकर दुर्गंधित कीचड़ में पड़े हो, उठो, स्नान कर शुद्ध होओ।

इसी प्रकार गुरु हमें समझा रहे हैं, आचार्य महाराज विषय-कषायों की दुर्गंधित कीचड़ में पड़े आत्मा रूपी राजा को उसका आत्म वैभव याद दिला रहे हैं। हे तत्त्ववेत्ता! उठो, सम्यक्त्व व धर्मध्यान की उष्ण जल धारा से कर्म पंक का प्रक्षालन करो। जब यह आत्मा चतुर्थ शुक्लध्यान को प्राप्त करती है तभी यह परम शुद्ध अवस्था प्राप्त कर पाती है।

हे भद्र पुरुष! अपने हृदय में सर्वप्रथम धर्मध्यान की भूमिका बनाने हेतु समत्व व उससे पूर्व संतोष भाव धारण करो।

समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स-सउच्चं हवे विमलं॥397—का.अ.

जिसके चित्त में लोभ नहीं है, लोभ नहीं तो उसकी पूर्ति के लिए माया पुनः मान व क्रोध भी नहीं है, विषयों में आसक्ति नहीं, वे निरीहवृत्ति वाले योगीजन अपने परम शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करते हैं।

अतः सर्वप्रथम समत्व व संतोष के द्वारा चेतना का प्रक्षालन करना है। जैसे किसी भवन में व्यक्ति पहले झाड़ू लगाकर साफ करता है फिर पोंछादि लगाते हैं, सुगंधित आदि करते हैं। ऐसे ही जिस आत्मा में दु:खद, अनिष्ट फल को देने वाला पाप कर्म बंध हुआ है उसको नष्ट करने हेतु समत्वादि भावों से धर्मध्यान पूर्वक वह आत्मा पुरुषार्थ करे। पुनः वीतराग दशा प्राप्त होने पर वह

पुण्य भी अनिष्टकारक ही प्रतिभासित होता है किन्तु यह पुण्य योगी के स्वयं नष्ट हो जाता है। पाप को नष्ट करने में तीव्र पुरुषार्थ करना पड़ता है किन्तु पुण्य तो स्वत: ही नष्ट हो जाता है।

जिसने पूर्णत: पाप के आस्रव को रोक दिया वह सहज में ही पुण्यास्रव से भी मुक्त हो जाएगा और दोनों प्रकार के आस्रव से रहित योगी उस परम सिद्ध, शुद्ध दशा को प्राप्त करता है। वही सिद्ध दशा मेरा शाश्वत स्वभाव है। मैं उसी स्वभाव का निरंतर चिंतन करता हूँ। मैं वही परम विशुद्ध स्वभाव वाला हूँ जिसमें किंचित् भी कर्मकृत अशुद्धि नहीं है।

परमसहजाणंद-सरूवो हं॥13॥

अर्थ–मैं परम सहज आनंद रूप हूँ।

भावार्थ–आत्मा में दो प्रकार की दशा होती हैं (1) सहज- नैसर्गिक (2) कृत्रिम-पुरुषार्थयुक्त। जो व्यक्ति कृत्रिम वा पुरुषार्थ अवस्था को प्राप्त करता है, मन-वचन व काय की प्रवृत्ति करता है, उस प्रवृत्ति से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है जिसे योग कहते हैं।[1] उस योग के माध्यम से कार्माण वर्गणाओं का आगमन होता है जिसे आस्रव कहते हैं। परिस्पन्दन के समय यदि चित्त संक्लेशित है तब निश्चय से अशुभ आस्रव होगा और पाप बंध होगा। इसके विपरीत परिस्पन्दन के समय चित्त में निर्मल परिणाम हैं तो पुण्य का आस्रव होगा।

पुण्य और पाप यद्यपि दोनों की कर्म हैं। दोनों ही आत्मा को बंधन में डालने वाले हैं किन्तु फिर भी पाप कर्म के उदय से जीव की संक्लेशता अधिक बनती है। पुण्योदय में परिणामों को सम्हाला जा सकता है। पाप के उदय में निगोदादि रूप अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं जबकि पुण्य के उदय में संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य, उत्तम देश, कुल, जाति, संगति, देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य व अन्य अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! पुण्य के उदय से प्राप्त किया आनंद तेरा स्वाभाविक आनंद नहीं है। ये पुण्य-पाप अतिथि की तरह से हैं जो आते हैं, चले जाते हैं। पुण्य-पाप के फल में हर्ष-विषाद नहीं करना। जैसे धरती पर धूप-छाया आती रहती है ऐसे ही जीवन में पाप की धूप व पुण्य की छाया आती रहती है किन्तु यह पुण्य-पाप के फल तेरा स्वभाव नहीं हैं। पुण्य के उदय को अपना स्वरूप मान लेना विपरीत ज्ञान है, मिथ्याज्ञान है।

पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ सुख मेरा स्वाभाविक सुख नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। यह सब तो कर्म निर्भरित होने से कृत्रिम है। मुझे तो अकृत्रिम सुख अर्थात् जिस सुख का कारण कोई कर्म

1. (अ) मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्सप्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥1/88॥ –पं.सं.
(ब) योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्द:। –स.सि. 2/26

नहीं, व्यक्ति, क्षेत्र, वस्तु आदि नहीं, जो आत्मा से उत्पन्न है, वही सहज सुख प्राप्त करना है। जब मेरी आत्मा में से समस्त कर्म नष्ट हो जाएँगे तब मैं सहज आनंद को प्राप्त करने में समर्थ होऊँगा।

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सहज परमोत्कृष्ट आनंद मेरी आत्मा का स्वभाव है। जिस स्वभाव को कर्मों ने आच्छादित, आवरणित किया हुआ है। मोहनीय आदि सर्व कर्मों के नष्ट होने पर वह सहज आनंद प्रकट होता है। जैसे अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता आदि स्वत: ही प्रकट होती है उसी प्रकार सहज आनंद का अनुभव करना भी मेरी आत्मा का स्वभाव है।

हे तत्त्ववेत्ता! इन बाह्य पदार्थों में आनंद की कल्पना मत करो। 'यह वस्तु या व्यक्ति, धन या स्वजन मेरे लिए सुख देता है'–ऐसी मिथ्या धारणा को तोड़ो। इनमें कहीं सुख नहीं है। ये कर्म आत्मा को बांधे हुए है। क्या बंधन में पड़ा व्यक्ति सुख प्राप्त कर सकता है? नहीं, सुख तो कर्म बंधन से मुक्ति में ही है। अत: कर्मों से रहित निज परम सहज आनंद को प्राप्त करो, वही परम सहज आनंद स्वरूप तुम हो। चेतना पर जमी कर्मों की परत को हटाते जाओगे तो आत्मा अपने सहज आनंद स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। उस शाश्वत स्वरूप को प्राप्त कर लेगी जिसे कर्मों ने ढांका हुआ है।

तुम सहजानंद स्वरूप हो, इसका पुन: पुन: चिन्तन करो और पुरुषार्थ के माध्यम से उसे प्राप्त करने के लिए तत्पर होओ।

सव्वकालक्खयरूवो हं॥14॥

अर्थ–मैं सर्व काल में अक्षय रूप हूँ।

भावार्थ–जीव का चिन्मय रूप कर्मादि से आवरणित है। इसलिए वह कर्म के फल को भोगने के लिए मजबूर है। यह आत्मा अनेक पुद्‍गल द्रव्यों को प्राप्त करता है, कर्मोदय से जिन-जिन पदार्थों की प्राप्ति होती है उनमें इष्ट कर्म की कल्पना करता है। किसी को सुखद व किसी को दु:खद मानता है किन्तु ये सब मिथ्या धारणाएँ हैं। हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारी आत्मा अक्षय है, तुम्हारी आत्मा का कभी क्षय नहीं हो सकता। क्षय या नाश तो पुद्‍गल का, शरीर का होता है। शरीर का जन्म व मरण होता है। आत्मा का न कभी जन्म होता है और न कभी मरण होता है, वह कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती।

आत्मा के असंख्यात प्रदेश थे, हैं और रहेंगे। आत्मा संकोच-विस्तार की शक्ति से युक्त है। वह आत्मा जब छोटे शरीर को प्राप्त करती है तो संकुचित हो जाती है, विशाल शरीर को प्राप्त करती है तो आत्म प्रदेश फैल जाते हैं। लोकपूरण समुद्‍घात के समय असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में यह असंख्यात प्रदेशी आत्मा फैल जाती है। किन्तु यह आत्मा सदैव अखंड व अक्षय है। यह आत्मा चैतन्यमय ज्योति है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे बर्तन में रखो तो उतना रहता है व कक्ष में रखो तो फैल जाता है, उसी प्रकार आत्मा जितना शरीर है उस अनुरूप हो जाती है।

''जीवस्तावत्प्रदेशोऽपि संहरण विसर्पणस्वभावत्वात्कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणुमद्वाधि तिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते।। –स.सि. 5/8

यद्यपि जीव के प्रदेश धर्म व अधर्म या लोकाकाश के बराबर हैं तो वह संकोच और विस्तार स्वभाव वाला होने के कारण कर्म के निमित्त से छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है उतनी अवगाहना का होकर रहता है।

जह पउमरायरयणं, खित्तं खीरे पहासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो, सदेहमित्तं पहासयदि।।33।।–पं.का.

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर दूध को प्रकाशित करता है उसी प्रकार देही देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित रहता है।

हे तत्त्ववेत्ता! रक्त, रस, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र इन सात धातुओं[1] व वात, पित्त, कफ, सिरा, स्नायु, चर्म व उदराग्नि इन सात उपधातुओं[2] से भरित इस घृणित शरीर में वास करना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। वैक्रियकादि शरीर प्राप्त करना भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुम्हारा स्वभाव तो अक्षय है। तुम्हारा कभी क्षरण नहीं होगा। पुद्गल का क्षरण होता है, पुद्गल पुनः पुनः जुड़ जाता है, यही पुद्गल का स्वभाव है, पूरण और गलन युक्त पुद्गल है।

मेरी आत्मा का स्वभाव पूरण-गलन नहीं है, मैं पुद्गल नहीं हूँ, मैं चैतन्य रूप आत्मा हूँ। मेरी आत्मा पूरण-गलन से रहित है, मेरी आत्मा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध है, सिद्धों के समान है। जब आत्मा एक बार निज शुद्ध स्वरूप, सिद्धत्व को प्राप्त कर लेती है तब आत्मा पुनः-पुनः इन विभाव व्यंजन पर्यायों को प्राप्त नहीं करती।

हे पुण्य पुरुष! क्षण-क्षण में विनष्ट होने वाली पर्यायों में क्यों रंजयमान होते हो। नोकर्म को प्राप्त कर क्यों आसक्त हो रहे हो? ये नोकर्म नष्ट होगा, द्रव्य कर्म भी फलादि देकर नष्ट होगा। अहो! यह भावकर्म भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है। इनमें राग-द्वेष क्यों करते हो? पुण्य रूपी द्रव्य कर्म से राग क्यों करते हो? सुंदर नोकर्म, यौवन से राग क्यों करते हो? ये तुम नहीं हो, ये शरीर की अवस्था है, पुद्गल की पर्याय है, इसमें रंजायमान होना तुम्हारा स्वभाव नहीं है।

तुम निज अक्षय, अनंत, अविनाशी उस स्वरूप का चिंतन करो जो सिद्ध रूप है, परम शुद्ध है। जो तुम्हारी नियति है। जिसे प्राप्त करने हेतु यह मनुष्य पर्याय तुम्हें प्राप्त हुई है, देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य प्राप्त हुआ है। जिसके लिए स्वाध्याय, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ वा अन्य पुण्य कार्य करते

---

1. रसाद्रक्तं ततो मांसां, मांसान्मेदः प्रवर्तते।
   मेदोऽस्थि ततो मज्जं, मज्जाच्छुक्रं ततः प्रजाः।। –ध. 6. पृ. 63
2. वातः पित्त तथा श्लेष्मा, सिरा स्नायुश्च चर्म च।
   जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः।।

हो। अरे! ये पुण्य संसार का वैभव भोगने के लिए नहीं या पौद्गलिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए नहीं है। तुम्हें जो भी पुरुषार्थ करना है निज अक्षय, अविनाशी, अनंतशुद्ध दशा को प्राप्त करने के लिए करो।

हे तत्त्ववेत्ता! इन नश्वर पुद्गल परमाणुओं को तुम क्यों अपने चित्त में बसाते हो, क्यों इन्हें अपना मान लेते हो? अपनी धारणाओं, मिथ्या मान्यताओं को बदलो। ये नश्वर पुद्गल पर्यायें हमारी नहीं हैं। तुम्हारी शाश्वत शुद्ध अक्षय आत्मा ही तुम्हारी है। जो तुम्हें अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त होगी, दूसरा कोई भी उसे शुद्ध नहीं कर सकता और तुम किसी दूसरे की आत्मा को शुद्ध नहीं कर सकते। अपनी आत्मा को शुद्ध करना तुम्हारी नियति है, प्रकृति है, अपनी अक्षय स्वभावी आत्मा को प्राप्त करना तुम्हारा स्वभाव है, ऐसा बार-बार चिन्तन करो। यह चिन्तन तुम्हारी शुद्ध दशा को प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध होगा।

परमसुद्धप्परूवो हं॥15॥

अर्थ–मैं सदा शुद्धात्म रूप हूँ।

भावार्थ–मैं परम शुद्धात्म रूप हूँ। ये बाह्य रूप मेरा नहीं है। ये पुद्गल का रूप है। शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप व उद्योत ये पुद्गल की पर्याय हैं।[1] छोटे-बड़े का व्यवहार जिसमें होता है वह पुद्गल है, जिसके भेद हो सकते हैं वह पुद्गल है। इन चर्म चक्षुओं से जो नष्ट होता या उत्पन्न होता दिखाई दे रहा है वह पुद्गल है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम परम शुद्ध स्वरूप हो। ''सुद्धप्पा'' अर्थात् शुद्ध आत्मा। यही तुम्हारी आत्मा का स्वरूप है, यही रूप है। अपनी आत्मा के स्वरूप व रूप को अलग-अलग मत मानो। ये रूप पुद्गल के गुण वाला स्पर्श, रस रूपादि वाला नहीं है। यह स्वानुभवगम्य, स्वसंवित्ति रूप शुद्धात्मा की जो प्रतीति हो रही है चैतन्य रूप है। शुद्धात्मा का जो सहज आनंद है, शुद्धात्मा का जो सहज भोग करते हो, आत्म गुणों का जो उपभोग करते हो, वह शुद्धात्मा अपितु परम शुद्धात्म रूप तुम हो।

घातिया कर्मों के क्षय के पश्चात् परमात्म संज्ञा प्राप्त होती हैं किन्तु वह अर्हंत भी अभी परम शुद्ध नहीं हैं, अघातिया कर्मों का सद्भाव होने से। सिद्धात्मा ही परम शुद्धात्मा हैं। अरिहंतों को सकल परमात्मा कहा जाता है। सकल अर्थात् शरीर सहित[2] किन्तु हे तत्त्ववेत्ता! ये परमौदारिक शरीर भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है। अयोग केवली दशा में चाहे कर्मों का आस्रव व बंध नहीं हो रहा किन्तु वह भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुम तो परम शुद्ध हो। जिस आत्मा में से कर्म व कर्म के कारण

1. सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाणभेदतमछाया।
   उज्जोदादवसहिया, पोग्गलदव्वस्स पज्जाया॥16॥ –वृ.द्र.सं.
2. सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकल: स चासावात्मा। –स.श./टी./2/223

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद वा योग भी दूर हो गए अब वह शुद्ध आत्मा कभी अशुद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो सकेगी। कर्म व कर्म के कारणों का अभाव होने से ही आत्मा परम शुद्ध हो पाती है।

हे भव्यात्मन्! तुम उस परम शुद्धात्मा का पुनः-पुनः चिन्तन करो। इन सांसारिक भौतिक वस्तुओं में लीन मत हो। यह चेतना की मलिनता तुम्हारा स्वभाव नहीं है, यह अशुभ कर्म का आस्रव तुम्हारा स्वभाव नहीं है। किसी के प्रति राग-द्वेष-ईर्ष्या-मात्सर्य, क्रोधादि का भाव होना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद के माध्यम से विषयों का सेवन करना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। उद्वेगादि भाव भी तुम्हारे नहीं हैं। जो जो भाव कर्मकृत हैं वे सब तुम्हारे नहीं हैं। सर्व कर्मों के नष्ट होने पर जो शुद्ध परिणति होती है वही तुम्हारा भाव है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम अपनी शुद्धात्मा के उस रूप को स्वीकार करो, उस शुद्ध स्वरूप को ही अपना रूप मानो। बाह्य रूपों को अपना रूप मत मानो। यह बाह्य रूप तो पुद्गल की पर्याय है, यह तुम नहीं हो। पुद्गल न तुम्हारा कभी था, न है और न ही हो सकेगा। अहो! यह आत्मा अलग है शरीरादि सब अलग हैं जैसे बर्तन और बर्तन में रखा पदार्थ अलग है वैसे ही तुम्हारी आत्मा अलग है और शरीरादि अलग है।

करुणाबुद्धि से गुरु महाराज बार-बार विभिन्न तरीकों से नाना प्रकार से तुम्हें समझा रहे हैं। अरे भोली चेतना! अब तो समझो, पर से दृष्टि मोड़कर स्व को निहारो। वही ज्ञान-दर्शन चैतन्यमयी आत्मा रूप तुम हो।

अखंडसरूवो हं॥16॥

अर्थ–मैं अखंड स्वरूप हूँ।

भावार्थ–अखंड शब्द का अर्थ है जिसे खंडित ना किया जा सके, जिसके टुकड़े ना किए जा सकें। जिस प्रकार धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य अखंड हैं। पुद्गल का सबसे छोटा अविभागी अंश परमाणु भी अखंड है। कालाणु भी अखंड हैं। उसी प्रकार यह आत्मा भी अखंड है। खंड-खंड जिसके संभव हैं वह पुद्गल है। स्कन्ध के खंड संभव हैं, अणु के नहीं। स्कंध के अतिरिक्त लोक में ऐसा कुछ भी नहीं जिसका खंड हो सके।

यदि कोई जीव अपनी आत्मा को खंड-खंड मानता है तो इसका अर्थ यह है कि वह अपनी आत्मा को नहीं जानता। बहिरात्मा होने के कारण अभी तक पुद्गल को ही अपनी आत्मा माना है।

बहिरात्मेन्द्रिय द्वारैरात्मज्ञान पराङ्मुखः।
स्फुरतःस्वात्मनो देह-मात्मत्वेनाध्यवस्यति॥7॥स.तं.

यह बहिरात्मा स्पर्शन आदि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य अर्थ के ग्रहण करने में लीन होने से (पंचेंद्रिय विषय का अनुभव करने के कारण) आत्मज्ञान से पराङ्मुख हुआ आत्मीय शरीर को ही आत्म रूप से निश्चय करता है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारी आत्मा अखंड है। उसे वस्तु की भाँति तोड़ा नहीं जा सकता। जैसे कि लकड़ी, धातु, पाषाण आदि को तोड़ा जा सकता है। आत्मा चैतन्य रूप है, चिन्मय है, शाश्वत है, उसे अस्त्र-शस्त्रादि के द्वारा छेदा नहीं जा सकता। इस आत्मा को न जलाया जा सकता है, न गीला किया जा सकता है। यह आत्मा तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा है, अनंत सुख का भोग भोगने वाला आत्मा है, अनंत शक्तिशाली आत्मा है, इसका स्वभाव अखंड है। इसके गुणज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति-अमूर्तत्व-चैतन्यत्व आदि सब अखंड हैं।

एक बार यदि शुद्ध स्वभाव प्रकट हो गया तो वह कभी खंडित नहीं होगा। हे तत्त्ववेत्ता! यही तुम्हारा शाश्वत स्वरूप है। तुम्हारी आत्मा को संसार का कोई भी द्रव्य खंडित नहीं कर सकता। कोई अन्य आत्मा वा अनंतानंत सिद्धात्मा भी मेरी आत्मा को खंडित नहीं कर सकते। कोई देव, मंत्र-तंत्रादि भी मेरी अखंड स्वरूपी आत्मा को खंडित नहीं कर सकते। किसी भी प्रकार से आत्मा को खंडित नहीं किया जा सकता। शरीर जो तुम्हारा नहीं है उसको खंडित किया जा सकता है। तब उसके खंडित होने पर तुम क्यों दुःखी होते हो? शरीर तुम नहीं हो, तुम शुद्ध सहज चैतन्य स्वरूपी आत्मा हो। उसी अखंड स्वरूपी आत्मा का पुनः पुनः चिंतन करो।

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुदविलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥14॥–अमृत कलश

वह परम उत्कृष्ट जगत् प्रकाशक ज्योति हमें प्राप्त हो, जो कि सदा काल चैतन्य की उठती तरंगों से परिपूर्ण है। जिस प्रकार नमक की एक डली एक क्षार रस की लीला का ही अवलम्बन करती है उसी प्रकार यह परम प्रकाश तेज द्रव्यों से भिन्न शुद्धात्मा के स्वरूप का अवलम्बन करता है। यह तेज अखंडित है, किसी भी प्रमाण से खंडित नहीं होता।

अद्दइद-परमाणंदसरूवो हं॥17॥

अर्थ–मैं अद्वैत परम आनंद स्वरूप हूँ।

भावार्थ–लोक में प्रचलित सुख-दुःख कर्म के उदय से होता है। कर्मजनित सुख इस जीव का स्वभाव नहीं है। कर्मजनित दुःख भी इस जीव का स्वभाव नहीं है। जिस प्रकार सिद्धों में अव्याबाध,

आत्मोत्पन्न, अन्य में न पाए जाने वाला परम आनंद है उसी प्रकार शुद्ध निश्चय नय से मेरा यह परम शुद्ध आत्मा भी किसी अन्य में न पाए जाने वाले अद्वैत परमानंद रूप है।

न मैं ज्ञान हूँ, न ज्ञेय हूँ, न ज्ञायक हूँ, न ध्यान हूँ, न ध्येय हूँ, न ध्याता हूँ, न भक्त हूँ न भगवान् हूँ, न पूज्य हूँ, न पूजक हूँ, न उपास्य हूँ, न उपासक हूँ इत्यादि सर्व विकल्पों से रहित चिन्मात्रमूर्ति स्वरूप आत्मा हूँ।

जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ
चिद्‌भावकर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहाँ
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा
प्रकटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा।।–छहढाला

''सोऽहं'' जो भगवान् हैं वही मैं हूँ।

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी।।96।।–नि.सा.

सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा चिंतन करे कि केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल सुख और केवल शक्ति रूप स्वभाव वाला जो परमात्मा है, वही मैं हूँ।

निश्चय नय से मैं ही सहजज्ञान स्वरूप हूँ, मैं ही सहज दर्शन स्वरूप हूँ, मैं ही सहज चारित्र स्वरूप हूँ और मैं ही सहज चैतन्य शक्ति स्वरूप हूँ। मुझसे ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय या ध्यान-ध्याता-ध्येय भिन्न नहीं हैं। मैं ही ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय हूँ, ध्यान, ध्याता, ध्येय हूँ। इस प्रकार यहाँ द्वैत भाव न होकर अद्वैत अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जो आनंद आत्मा से उत्पन्न होता है वह आनंद मेरा स्वभाव है। **'आनंदो ब्रह्मणोरूपं'** मैं आनंद ब्रह्म रूप हूँ। जब मेरी कषाय अति मंद होती है, जब मैं रागद्वेष को मंद करता हूँ, निज में लीन होता हूँ तब मुझे असीम आनंद की अनुभूति होती है, आह्लाद की अनुभूति होती है, वह आह्लाद मेरा स्वभाव है। वह आनंद पुद्‌गलादि द्रव्यों में संभव नहीं, वह आनंद पर के माध्यम से संभव नहीं। न तो मैं पर को आनंद दे सकता हूँ और न कोई पर द्रव्य मुझे आनंद दे सकता है। न मैं किसी को आनंद दे सकता हूँ और न कोई मुझे आनंद वा आह्लाद दे सकता है क्योंकि यह मेरा शुद्ध सहज स्वभाव है। परम आनंद आत्मा से ही प्रकट होगा, बाहर से नहीं क्योंकि मैं बाहर नहीं हूँ, मैं स्व चतुष्टय में विराजित हूँ। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव के बाहर मेरी सत्ता नहीं है, मेरा अस्तित्व नहीं है।

मैं स्वचतुष्टय में ही लीन रहूँ। स्वचतुष्टय में लीन रहने से ही मेरे अंदर आनंद उत्पन्न होता है अत: मैं अद्वैत परमानंद स्वरूप हूँ। मोहनीय कर्म आदि के विनाश से उत्पन्न आनन्द स्वरूप हूँ। हे तत्त्ववेत्ता! तुम परपदार्थों में आनंद की कल्पना क्यों करते हो? ये सुख के कारण नहीं अपितु दु:ख

देने वाले ही हैं। तुम सकलपदार्थों से विरक्त होकर, निरीह वृत्ति धारण कर स्वात्मा में लीन हो जाओ। यह निरीह वृत्ति कषायों का शमन किए बिना संभव नहीं है, यह निरीह वृत्ति संयम को स्वीकार किए बिना संभव नहीं है। यह निरीह वृत्ति ईहा वा इच्छा के निरोध के बिना नहीं आती। जब तक कोई व्यक्ति परवस्तु, परधन, परगृह आदि में आसक्त है, आशापाश में बंधा है तब तक वह आत्मा का आनंद नहीं ले सकता। जब तक दृष्टि बाह्य है तब तक आत्मचिंतन संभव नहीं।

जब हम अपनी इंद्रियों को विराम दे दें, आँखों से देखें नहीं, कानों से सुनें नहीं, जिह्वा से बोलें नहीं, नाक से सूंघें नहीं, शरीर से स्पर्श न करें, मन से भी कोई चिंतन न करें, कषायों के आवेश को भी शांत कर दिया, कषायों की उदीरणा वा तीव्र उदय भी न हो, विरक्त चित्त हो करके मैं जिस आनंद का अनुभव करता हूँ वही आनंद प्रचुर मात्रा में कर्म की निर्जरा करने में समर्थ है, संपूर्ण कर्मों का नाश करने में समर्थ है और संपूर्ण कर्मों के नाश होने पर अनंतकाल तक के लिए जीव सिद्धों जैसे परमानंद से युक्त हो जाता है।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं।
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥48॥–इष्टोपदेश

जैसे अग्नि ईंधन को जला डालती है उसी तरह आत्मा में उत्पन्न परम आनंद बहुत सारे कर्मों को जला डालता है और आनन्द से परिपूर्ण योगी, परीषहों के कष्टों से अनभिज्ञ होने से, संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

हे तत्त्ववेत्ता! शुद्ध निश्चयनय से तुम परम, सर्वोत्कृष्ट आनंद स्वरूप हो। आनंद और तुम अलग-अलग नहीं हो। आत्मा ही आनंद स्वरूप है और आनंद ही आत्म स्वरूप है। ऐसे अद्वैत परमानंद स्वरूप आत्मा का सदैव चिंतन करो, अनुभव करो।

परमाह्लाद - संपन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।
सोऽहंतं देहमध्येषु, यो जानाति स पंडितः॥20॥ –परमानंद स्तोत्रं

इस देह के मध्य परमाह्लाद से संपन्न, रागद्वेष से विवर्जित जो है, वही मैं हूँ, इस प्रकार जो जानता है वह पंडित है।

सयलसब्भावसरूवो हं॥18॥

अर्थ–मैं सकल सद्भाव स्वरूप हूँ।

भावार्थ–सर्व अपेक्षाओं से मेरा सद्भाव था, है और रहेगा। विभाव, अभाव, कुभाव, दुर्भाव व निर्भाव ये मेरी नियति प्रकृति नहीं है। चेतना में जितने भी भाव हैं उन सकल-समस्त भावों का मेरे

सद्भाव है। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से सिद्धों जैसा मेरा स्वभाव है, मैं सिद्धों के समान ही हूँ। सिद्धों ने सर्व कर्मों को नष्ट करके अपने शुद्ध सहज सद्भाव को प्राप्त कर लिया है और मैं उन कर्मों से आवरणित हूँ। वे राग रहित हैं और मैं राग सहित हूँ।

मैं वह हूँ जो है भगवान्, जो मैं हूँ वह है भगवान्।
अंतर यही ऊपरी जान, वे विराग मैं राग-वितान।।

कर्मों से आवरणित होने के कारण ही मैं अपने सहज शुद्ध भाव का अनुभव नहीं कर पा रहा हूँ। जिस प्रकार सूर्य के सामने घने बादल आ जाने से उसकी किरणें पृथ्वी तक नहीं आ पाती और फिर जीव उसकी ऊष्णतादि का अनुभव नहीं कर पाता, पुष्पादि भी समीचीन रूप से विकसित नहीं हो पाते। उसी प्रकार मेरी आत्मा पर कर्मों का आवरण है इसलिए मैं शुद्धात्मा का अनुभव करने में असमर्थ हूँ, आत्मा के गुण समीचीन रूप से विकसित नहीं हो पा रहे।

जैसे जल में नमक, शक्कर आदि मिला होने से जल का सही स्वाद नहीं आता उसी प्रकार मेरी आत्मा कर्मों से बद्ध है, कर्मों का आस्रव, बंध व संवर भी हो रहा है, निर्जरा भी मैं कर रहा हूँ और कर्मोदय के फल को भी मैं भोग रहा हूँ चाहे वह लीन हो करके भोगूँ या परम विरक्त भाव से भोगूँ। इसलिए मैं अपने शुद्ध सहज स्वभाव का अनुभव नहीं कर पा रहा किन्तु यह निश्चय है कि मेरा स्वभाव सिद्धों जैसा ही है। सिद्धों के जो संपूर्ण गुण हैं, स्वभाव हैं, वही मेरे गुण व स्वभाव हैं। उसी प्रकार की स्वभाव गुण पर्याय व स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय भी मेरी आत्मा में उत्पन्न होगी क्योंकि उसका सद्भाव मेरी आत्मा में है। जिसका मेरी आत्मा में अभाव है वह कभी मेरी आत्मा में उत्पन्न नहीं हो सकता और जिसका सद्भाव है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता।

कोई कहे कि यदि ऐसा है तो फिर आत्मा में से केवलज्ञान नष्ट क्यों हुआ? अरे! नष्ट नहीं हुआ, आवरणित है, प्रकट नहीं है किन्तु कर्मों का आवरण हटते ही प्रकट हो जाएगा। शक्तिरूप से वह आत्मा में है। जो-जो गुण मेरे अंदर कर्मों का नाश होने पर प्रकट होंगे वह-वह मेरे अंदर आज भी शक्ति रूप से विद्यमान हैं। विभाव परिणति के हटते ही स्वभाव स्वतः प्रकट हो जाएगा, बादलों के विलीन होते ही सूर्य की किरण आ जाएगी। सूर्य में यदि किरण नहीं होती तो बादलों के हटने पर भी नहीं आती।

जैसे परफ्यूम में सुगंधि है तो ढक्कन खोलते ही स्वतः सुगंधि आने लगती है। कुएँ में पानी है, अभी ऊपर पाट से ढक दिया, पानी है इसलिए पाट के हटाने पर वह दृष्टिगोचर होगा। इसी प्रकार सिद्धों के समान मेरी आत्मा में अनंत गुण हैं, उन सभी अनंत गुणों का मेरी आत्मा में सद्भाव है।

आकाररहितं शुद्धं, स्वस्वरूपे व्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनं।।21।।

तत्सदृशं निजात्मानं, यो जानाति स पंडितः।
सहजानंदचैतन्य, प्रकाशाय महीयसे॥22॥–परमानंद स्तोत्र

सिद्ध परमेष्ठी आकार से रहित-निराकार, शुद्ध, निज स्वरूप में व्यवस्थित, अष्ट गुणों से युक्त, निर्विकार व निरंजन (सर्व विध कर्मों से रहित) है, उसी प्रकार निज आत्मा है यह जो जानता है, वह पंडित है।

अहो! शक्ति रूप से विद्यमान वे सभी गुण पुरुषार्थ करने से मुझमें प्रकट हो जाएँगे। मेरा सम्यक् पुरुषार्थ ही सर्व गुणों को प्रकट करने में समर्थ होगा। इसलिए सर्व विकल्पों का त्यागकर रत्नत्रय के माध्यम से सर्व गुणों के प्रकटीकरण हेतु मैं तत्पर होता हुआ निज आत्मतत्त्व में लीन होता हूँ।

परमसुद्धचेयणसरूवो हं॥19॥

अर्थ–मैं परम शुद्ध चेतन स्वरूप हूँ।

भावार्थ–परम शब्द उत्कृष्ट का वाची है। संसार में सर्व प्रकार के पदार्थ हैं–कुछ उत्तम, कुछ मध्यम व कुछ जघन्य। पुनः कुछ परमोत्तम वा सर्वोत्तम भी कहे जाते हैं। संसार के पदार्थ जो जघन्य थे आज उत्तम भी कहे जा सकते हैं, और जो आज उत्तम हैं तो कल वे जघन्य भी कहे जा सकते हैं। अथवा एक ही समय में एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्तम, मध्यम, जघन्य भी हो सकती है। किन्तु यह सब पुद्गल में ही है। यहाँ चेतना का कथन है।

जो चेतना-आत्मा शुद्ध हो जाती है, वही परम अवस्था को प्राप्त होती है। अशुद्ध वा कर्मबद्ध आत्मा, संसार में जन्म-मरण के दुःखों को भोगने वाली आत्मा चाहे कितने भी पुद्गल के वैभव को प्राप्त कर ले किन्तु उससे आत्मा परम नहीं मानी जाती। आत्मा के वैभव से आत्मा परम मानी जाती है। जब आत्मा सर्व कर्मों का नाश कर निज स्वरूप को प्राप्त करती है तब वह परमात्मा हो जाती है।

अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः।
विशुद्धध्याननिर्धूत - कर्मेन्धनसमुत्करः॥21/7॥–ज्ञानार्णव

जिस समय विशुद्ध ध्यान के बल से कर्म रूपी ईंधन को भस्म कर देता है, उस समय यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है।

अहो तत्त्ववेत्ता! महाव्रत रूपी क्लीनर (cleaner) के बिना चेतना से कर्म पटल साफ नहीं हो सकते। महाव्रत अर्थात् महान् व्रत। उन महान् व्रतों को धारण करने वाला महाव्रती होता है। जैसे ज्ञान को धारण करने वाला ज्ञानी, धन धारण करने वाला धनी, सुख युक्त सुखी, दुःख युक्त दुःखी इत्यादि। महाव्रती ही कर्मों की प्रचुर मात्रा में निर्जरा करने में समर्थ होता है, वही अपनी कर्मों से बद्ध आत्मा को शुद्धात्मा बना सकता है।

हे भव्यात्मन्! जो महाव्रत या संयम तुम्हारी आत्मा को शुद्ध करते हैं, उसे धारण करने से क्यों डरते हो? संयम धारण कर निर्भीकता से उसका पालन करो।

धर्मादि चाद द्रव्य शाश्वत शुद्ध होते हैं। पुद्गल पुनः-पुनः शुद्ध व अशुद्ध होता रहता है किन्तु जो आत्मा शुद्ध हो गयी, सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई, वह फिर कभी संसार में लौटकर नहीं आएगी। यहाँ तक कि जिस आत्मा ने एक भी कर्म का विनाश कर दिया तो वह कर्म फिर उससे बंधेगा नहीं। चाहे मिथ्यात्व हो, अनंतानुबंधी चतुष्क हो, सम्यग्मिथ्यात्व या सम्यक् प्रकृति हो आत्मा कर्मों का क्षय कर जहाँ तक शुद्ध हो गई उस स्थिति से नीचे नहीं आ सकती तभी तो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुई आत्मा पुनः नीचे नहीं आती, ऊपर गुणस्थानों को प्राप्त करती हुई पुनः सिद्धावस्था को प्राप्त करती है, परम शुद्ध हो जाती है, वही परम शुद्धात्म स्वरूप मैं हूँ।

मैं परम शुद्ध चेतना स्वरूप हूँ, उस परम शुद्ध चेतना का नाम लेते ही अंतरंग में आनंदानुभूति होती है, उसका चिंतन परमाह्लाद को देने वाला होता है। अतः उस परम शुद्ध चेतना का पुनः पुनः चिंतन करो। यही चिंतन चर्या का निर्माता है। जब चिंतन चर्या में आ जाता है तो फल की उत्पत्ति होती है। अतः मैं उस परम शुद्ध चेतना की ही अनुभूति करता हूँ।

सद्दारेण अव्वत्तसरूवो हं॥20॥

अर्थ—मैं शब्द द्वार से अव्यक्त स्वरूप हूँ।

भावार्थ—शब्द बहुत सामर्थ्यवान् होते हैं। शब्दों से व्यक्ति का चित्त परिवर्तित किया जा सकता है। राग रूप, वैराग्य रूप, स्नेह रूप, बैर रूप, हास्य रूप, रौद्र रूप, वीरता रूप आदि परिणामों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य शब्दों में है। शब्दों के माध्यम से शान्त को अशान्त व अशान्त को शान्त किया जा सकता है, शब्दों के माध्यम से क्रोधी को क्षमावान् व क्षमाशील को क्रोधी बनाया जा सकता है, शब्दों के माध्यम से पुण्यवान् को पापात्मा और पापात्मा को पुण्यवान् बनाया जा सकता है। शब्दों में सम्बन्ध स्थापित करने की भी सामर्थ्य है और सम्बन्ध विच्छेद की भी सामर्थ्य है शब्दों की सामर्थ्य अचिन्त्य है किन्तु कुछ चीजें ऐसी होती हैं जो शब्दों के परे होती हैं, जैसे—अनुभूतियाँ शब्दों से परे होती हैं।

विचारों को शब्दों की पोशाक पहनायी जा सकती है। मूर्तिमान् पदार्थ को अलंकृत-सुशोभित किया जा सकता है किन्तु आकाश को कपड़े नहीं पहनाए जा सकते। जो शब्द आकाश में प्रसारित हो रहे हैं, मोबाइल पर बात करते हुए जिन तरंगों से ध्वनि दूसरे स्थान तक पहुँचती है उन ध्वनियों को कपड़े नहीं पहनाए जा सकते, आकाश में उड़ते पंछी की परछाई को कपड़े नहीं पहनाए जा सकते। इसी प्रकार शब्दों के वस्त्र हर भाव को नहीं पहनाए जा सकते। जो भाव चिन्तन का विषय

बन सकता है उन भावों को तो शब्दों में कहा जा सकता है किन्तु जो भाव चिन्तन का विषय नहीं बन सकते उन भावों को शब्दों की पोशाक नहीं पहनाई जा सकती।

अनुभूति चाहे सुख की है या दुःख की, प्रेम की है या घृणा की, जो अंतरंग में अनुभूति है वह शब्दों में नहीं कही जा सकती। सुखी व्यक्ति कहता है मैं बहुत खुश हूँ, सुखी हूँ या जो कष्ट में है वह कहता है बहुत पीड़ा या बहुत दुःख हो रहा है तब शब्दों से उसके सुख-दुःख का अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु उसके आनंद या कष्ट की याथातथ्य अनुभूति सामने वाले को नहीं हो सकती।

इसलिए यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि शब्द द्वार से मैं (आत्मा) अव्यक्त स्वरूप हूँ। यदि पूछा जाए कि धर्म द्रव्य कैसा है? तब कहेंगे गति-हेतुत्व लक्षण वाला, एक, अखंड, असंख्यात प्रदेशी है। कोई पूछे अधर्म द्रव्य कैसा है? तब कहेंगे स्थिति-हेतुत्व लक्षण वाला, एक, अखंड, अचेतन, अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी है किन्तु इन शब्दों के कहने से धर्म वा अधर्म द्रव्य की अनुभूति नहीं हुई और न ही हो सकती। शब्दों से किसी भी द्रव्य का अनुभव नहीं किया जा सकता। आत्मा-आत्मा का अनुभव करती है किन्तु उसे कोई भी शब्दों में कह नहीं सकता। प्रत्येक आत्मा स्वयं का, स्वयं के लिए, स्वयं के द्वारा ही अनुभव करती है। आत्मानुभव का आदान-प्रदान संभव नहीं, यहाँ तक कि भोजन किया तो उसका भी अनुभव नहीं कहा जा सकता।

आत्मा अमूर्तिक गुणों का पिण्ड है, चैतन्यमय व स्वसंवेदनगम्य है।

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।

अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकिनः।।21।।–इष्टोपदेश

यह आत्मा स्वसंवेदन (आत्मानुभव) के द्वारा स्पष्ट होता है, प्रकट होता है, शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, अत्यंत सौख्यवान् अर्थात् अनंत सुख वाला है और लोकालोक को जानने वाला है।

जब संपूर्ण आत्मा स्वसंवेदनगम्य है तो क्या आत्मा के गुण शब्दों का विषय बन सकते हैं? नहीं बन सकते। गुण-गुणी दोनों शब्दों का विषय नहीं है। आत्मा एक ऐसा अमूर्त शाश्वत चैतन्य द्रव्य है जिसके समस्त गुण चिन्मय रूप हैं, कोई भी गुण अचेतन रूप नहीं है और वे सभी गुण स्वानुभवगम्य हैं। अतः हे तत्त्ववेत्ता! उस आत्मा की अनुभूति करो जिसे शब्दों के द्वारा नहीं कहा जा सकता। उस स्वसंवेदनगम्य आत्मा का निरंतर चिन्तन करो, उसी आत्मतत्त्व में लीन हो।

जो हु सो हु चेव सरूवो हं।।21।।

अर्थ–मैं जो हूँ उस ही स्वरूप हूँ।

भावार्थ–आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा ही है। आत्मा का स्वरूप किसी भी काल में अन्यथा नहीं हो सकता, न था और न अन्यथा हो सकेगा। आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा

के विषय में बताते हुए कहा कि शुद्ध आत्मा के न गुणस्थान है, न जीवसमास है, न मार्गणास्थान है, न बंधादि है, न स्पर्श-रस- गंध-वर्ण है, न मनुष्यादि पर्याय है, न पुण्य है न पाप है, न प्रमत्त है न अप्रमत्त है। द्रव्यकर्म, भावकर्म भी उसके नहीं हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से कहने के पश्चात् उन्होंने कहा वह आत्मा जैसी है वैसी है।

णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं, णादो जो सो दु सो चेव॥6॥–समयसार

अहो! जो ज्ञायक है वह न प्रमत्त है और न अप्रमत्त ही है। वह ज्ञाता-आत्मा जो है सो ही है ऐसा शुद्धजन-शुद्ध नय के अवलंबी मुनिगण कहते हैं।

आत्मा न सूंघती है, न स्पर्श करती है, न खाती है, न देखती है, न बोलती है। ये शरीर भी आत्मा नहीं है।

दृष्टिभेदो यथा दृष्टिं, पंगोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद् देहे, दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥92॥–समाधितंत्र

जिस प्रकार अन्धे और लंगड़े के भेद को जानने वाला पुरुष पंगु की देखने की शक्ति को अन्ध पुरुष में नहीं जोड़ता, देखने की शक्ति अन्धे की नहीं समझता, उसी प्रकार आत्मा और शरीर के भेद को जानने वाला अन्तरात्मा, आत्मा की देखने रूप चैतन्य शक्ति को शरीर में नहीं समझता। शारीरिक क्रिया को देखकर भी शरीर को चेतन नहीं समझता।

हे तत्त्ववेत्ता! यह शुद्ध आत्मा चिन्तन से परे, शब्दातीत, सभी प्रकार के चिह्नों से रहित है। वह आत्मा जो है वही है। आत्मा जैसी है निश्चय से वैसी ही है। इसको न शब्दों से कहा जा सकता है, न पूर्ण चिन्तन किया जा सकता है मात्र अनुभव वही कर सकता है जो चित्त में उठने वाली राग-द्वेष की लहरों को शांत कर दे।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलं।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥35॥–स.तं.

जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादि कल्लोलों के द्वारा चंचल नहीं है, वही मानव आत्मा के स्वरूप का अवलोकन कर सकता है, वह आत्मदर्शी है परन्तु जिनका मन रूपी जल रागद्वेषादि कल्लोलों से चंचल है, वह आत्म स्वरूप का अवलोकन नहीं कर सकता, वह अनात्मदर्शी है।

अतः हे भव्यवर पुण्डरीक! यदि आत्मानुभव के इच्छुक हो तो इस राग-द्वेष का परिहार करो। अहो! जो वस्तु जिस समय अनुकूल लगती है या जो व्यक्ति जब अनुकूल है तब उनके प्रति राग के परिणाम होते हैं और जो वस्तु या व्यक्ति जब प्रतिकूल लगते हैं तब उनके प्रति द्वेष रूप

परिणाम करते हो। अहो! इन्हीं राग-द्वेष में पड़कर अब तक संसार में परिभ्रमण कर रहे हो, शुद्धात्मानुभव से अनभिज्ञ हो।

अहो प्रिय चेतना! वस्तु, व्यक्ति, मौसम आदि से राग-द्वेष की प्रवृत्ति क्यों करते हो? वे तो जैसे हैं वैसे ही रहेंगे किन्तु तुम उनके निमित्त राग-द्वेष रूप परिणमन कर अनादिकाल से निज आत्मा को कष्ट दे रहे हो। सावधान होओ और राग-द्वेष का निरोध कर उस शुद्धात्मा में लीन होओ जो अचिन्त्य व स्वसंवेदनगम्य है। इस आत्मा का कोई चिह्न नहीं, यह जैसी है वैसी ही है, यह जानकर आत्मतत्त्व पर श्रद्धान कर पर पदार्थ व परभावों का परित्याग करो।

असुह-चिंतण-विवक्खा-कायचेट्ठा-रहिदो हं॥22॥

अर्थ–मैं अशुभ चिंतन, विवक्षा व कायचेष्टा से रहित हूँ।

भावार्थ–मुख्य रूप से कथन करने की दो पद्धति होती हैं–निषेध परक एवं विधि परक। निषेध का आशय है 'नहीं' रूप कथन। जैसे ये मेरा नहीं है, ऐसे नहीं करना इत्यादि और विधि का आशय 'अस्ति' रूप कथन। जैसे ये मेरा है, ऐसे करना है इत्यादि। यहाँ पर भी आचार्य महोदय ने दो प्रकार से आत्म स्वरूप को बताने का प्रयास किया है। विधिपरक कथन जैसे आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी है, अनंत दर्शनादि से युक्त है, परमविशुद्ध है आदि और निषेध परक रूप से कहा कि आत्मा में विकल्प नहीं है, वह विकल्प रहित है गुणस्थान रहित है, शल्य रहित है आदि। यहाँ पर भी कहा आत्मा अशुभ चिन्तन, अशुभ विवक्षा और अशुभ कायचेष्टा से रहित है।

अशुभ चिन्तन अर्थात् मिथ्या चिन्तन अथवा अशुभ कर्मास्रव का कारणभूत चिन्तन। हे तत्त्ववेत्ता! अशुभ चिन्तन कर, किसी के विषय में अशुभ-बुरा सोचकर क्यों अशुभ-पाप रूप कर्मों से अपनी आत्मा को बद्ध करते हो? तुम्हारे बुरा सोचने से तो उसका बुरा नहीं होगा किन्तु यह निश्चय है कि तुम्हारा अनिष्ट अवश्य हो जाएगा। अरे! जब सोचना है तो अच्छा सोचो, जो आत्म हित का हेतु हो ऐसा चिन्तन करो। तत्त्वों का, निज आत्म स्वरूप का चिन्तन करो।

अशुभ विवक्षा अर्थात् मिथ्या आलाप, मिथ्या भाषण। हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारा स्वभाव असत्य, अहितकर, अप्रीतिकर, कटुक, पैशून्य वा मिथ्या वचन बोलना नहीं है। यद्यपि बोलना ही आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु अशुभ भाषण तो जीव को विभाव में नीचे की ओर ही ले जाने वाला है। शुभ चिंतन, शुभ विवक्षा या शुभ काय की चेष्टा भी विभाव परिणति है किन्तु यह स्वभाव की ओर गतिशील है। अशुभ चिन्तनादि का मुख संसार की ओर, शुभ चिंतन, विवक्षादि का मुख मोक्षमार्ग की ओर है। ये शुभ चिन्तनादि शुद्ध स्वभाव की ओर ले जाने वाले हैं। किंतु अशुभ चिन्तनादि तो संसार सागर में डुबाने वाले ही हैं। अतः यह तो कदापि भी मेरे स्वभाव नहीं हैं।

अशुभ कायचेष्टा अर्थात् अशुभ प्रवृत्ति। हे तत्त्ववेत्ता! यदि शरीर से कोई भी अशुभ चेष्टा हो रही है तो स्वयं को संबोधित करो कि यह असद्-अशुभ चेष्टा करना तेरा स्वभाव नहीं है। यह असद् चेष्टाएँ तुझे पाप रूप कर्मों से बद्ध कर भयानक कष्टों को झेलने के लिए मजबूर कर देती हैं। अहो! हर क्रिया से पूर्व विचार करो कि यह क्रिया संसार को वृद्धिंगत करने वाली है अथवा मोक्षमार्ग के अनुकूल है। यदि संसारवर्द्धक हो तो उसे तुरंत छोड़ देना चाहिए।

अहो भव्यात्मन्! अपनी आत्मा के द्वारा जब अपनी आत्मा को संबोधन दिया जाता है तब आत्मा पर बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ता है। आत्म संबोधन जितना प्रभावशाली होता है उतना प्रभावशाली संसार का अन्य संबोधन नहीं हो सकता क्योंकि मैं अपनी आत्मा के जितना निकट हूँ उतना निकट मेरी आत्मा के कोई और नहीं हो सकता। अत: अपनी आत्मा को पुन: पुन: संबोधन दो कि यह अशुभ वचन, चिंतन व प्रवृत्ति तेरा स्वभाव नहीं है।

यद्यपि शुभ भी नहीं है किन्तु उसे आगे कहेंगे। यहाँ तो इतना ही है कि अशुभ चिन्तनादि के निरोध के लिए बार-बार अपनी आत्मा को संबोधन दो। दूसरों को संबोधन या उपदेश देना तो सरल है किन्तु अपनी निजात्मा में स्वयं को संबोधन देने की व्याकुलता उत्पन्न करो। अपनी आत्मा को बार-बार कहो कि यह अशुभ चिन्तन, भाषण व कायचेष्टा तुझे संसार में डुबाने वाली है अत: इसका परित्याग करो।

कुमदि-कुसुद-विभंगोहिणाणरहिदो हं॥23॥

अर्थ–मैं कुमति, कुश्रुत व विभंगावधि ज्ञान से रहित हूँ।

भावार्थ–कुमति, कुश्रुत व विभंगावधि ज्ञान से युक्त आत्मा निज स्वभाव से च्युत है, यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। मिथ्यात्व के अविनाभावी मन व इंद्रियों से होने वाला ज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्व के अविनाभावी मतिज्ञानपूर्वक होने वाला विशेष ज्ञान कुश्रुतज्ञान है। अथवा शास्त्रों का सही अर्थ न लगाना, आचार्यों ने जो बात जिस अपेक्षा से कही उस अपेक्षा को स्वीकार न कर यद्वा-तद्वा ग्रहण करना, छल से ग्रहण करना, अपेक्षा रहित ज्ञान, एकांत ही मानना कुश्रुत ज्ञान है। द्वादशांग को कोई नयापेक्षया समझता है तो वह सम्यग्ज्ञान है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
नि:संदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन:॥42॥–र.श्रा.

न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और सन्देह रहित, वस्तु स्वरूप के यथार्थ जानने को आगम के ज्ञाता सर्वज्ञ गणधर देव सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सापेक्ष कथन करना, सापेक्ष वस्तु स्वरूप समझना, सम्यक् नयों के अनुसार जानना सब सम्यग्ज्ञान है किन्तु विपरीतता से युक्त वा दुर्नयों का आश्रय लेकर समझता है, मिथ्यापेक्षया वा मिथ्यानयों से समझता है तो वह मिथ्याज्ञान है।

मिथ्यात्व के अविनाभावी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए रूपी पदार्थों को जानने वाला ज्ञान कुअवधिज्ञान कहलाता है। हे तत्त्ववेत्ता! यह कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान व विभंगावधि ज्ञान तेरा स्वरूप नहीं है। ये सभी ज्ञान मिथ्यात्व दशा के साथ होने से तेरे स्वभाव रूप नहीं हैं क्योंकि मिथ्यात्व ही तेरा स्वभाव नहीं है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ पंचपरावर्तन कर दुःख उठा रहा है। अहो! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की निन्दा कर, धर्म व धर्मात्माओं का अवर्णवाद कर तीव्र संक्लेशित परिणामों से कितनी बार 70 कोड़ा-कोड़ी सागर मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट बंध किया। मिथ्यात्व के उदय में समीचीन धर्म, देव, शास्त्र, गुरु को न जानकर पुनः-पुनः कर्मों का आस्रव किया, कभी निगोदिया, कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्यादि रूप पर्याय ग्रहण कर निज आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ रहा।

निज अनंत वैभव का स्वामी होने पर भी निर्धन की भाँति अनेक कुयोनियों में भटकता रहा। शाश्वत, कभी न नष्ट होने वाली संपत्ति का मालिक होने के बाद भी याचक बन नश्वर पौद्गलिक वस्तुओं की याचना करता रहा। हे तत्त्ववेत्ता! अब तो जागो, अनादिकाल संसार में भटकते हुए बिता चुके हो, क्या अब भी सावधान नहीं होना? अब तो चेतो! मिथ्यात्व का बंध कराने वाले प्रत्ययों से बचो, समीचीन धर्म व सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करो। एक बार उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व भी अनंत संसार को छेदकर अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र कर देता है।

ये कुमति, कुश्रुत, विभंगावधि ज्ञान तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुम इन मिथ्याज्ञानों से सर्वथा रहित हो। अहो! अक्षय सुख की प्राप्ति हेतु निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मानुभव करो। ज्ञान स्वरूप आत्मा में लीन होओ। पंचेंद्रिय सुखों को छोड़कर सदा ही निजात्मा में रमण करो।

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह उत्तमं सुक्खं।।206।।–स.सा.

इस ज्ञान में ही तुम सदा लीन होवो, इस परमार्थ ज्ञान में ही नित्य संतुष्ट होवो, इससे ही तुम तृप्त होओ, उससे उत्तम मोक्ष प्राप्त होगा।

अतः मैं आत्मस्वरूप ज्ञान में तृप्त होने वा लीन होने का पुरुषार्थ करता हूँ तथा समत्व भावों से युत होता हुआ समस्त परवस्तु व परभावों को छोड़ता हूँ।

परमचेयणरयणायरसरूवो हं॥24॥

अर्थ–मैं परम चेतन रत्नाकर स्वरूप हूँ।

भावार्थ–संसार में जितने भी द्रव्य हैं उन सबमें गुण पाए जाते हैं। वे गुण सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के होते हैं। जो द्रव्य अचेतन स्वरूप है उनके गुण भी अचेतन स्वरूप होते हैं और जो द्रव्य चेतन स्वरूप हैं उनके गुण भी चेतन स्वरूप होते हैं। अहो तत्त्ववेत्ता! अभी तुम्हारी चेतना अपरम अवस्था को प्राप्त है किन्तु यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। परम चैतन्य स्वरूप मेरी आत्मा का स्वभाव है। परम शुद्ध केवल दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुख आदि भी मेरी आत्मा के स्वभाव हैं। ऐसे परम उत्कृष्ट-उत्कृष्ट चेतना के अनंत गुण हैं। जैसे सागर में अनंत रत्न होते हैं तो उसे रत्नाकर कह दिया जाता है ऐसे ही मेरी आत्मा चैतन्य गुण आकर है।

अरे भोले आत्मन्! कब से पाषाण खंडों को रत्न मानकर उनके पीछे दौड़ लगाता रहा किन्तु अब ज्ञात हुआ कि ये बाह्य पाषाण रत्नों के प्रति राग मुझे संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। ये रत्न तो नश्वर हैं किन्तु मैं तो अविनश्वर अनंतगुणों का स्वामी हूँ।

''आत्माराम गुणाकरं गुणनिधिं चैतन्य रत्नाकरं॥''

गुणों का खजाना, गुण रूपी निधि का स्वामी तुम्हारा आत्माराम है, तुम चैतन्य रत्नाकर हो, एक बार इस रत्नाकर में डुबकी लगाकर तो देखो तुम्हें तुम्हारे परमात्म स्वरूप का दर्शन होगा। आचार्य भगवन् श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है–

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो,
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव॥
यस्माभिन्नरसः स एष भगवानेकोप्यनेकी-भवन्,
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः॥141॥–समयसार कलश

समस्त पदार्थों के समूह रूपी रस को पी लेने से अतिशय मत्त सदृश होते हुए अतीव स्वच्छ से भी स्वच्छ ये संवेदन के विशेष ज्ञान की पर्यायें अपने आप उछल रही हैं। जिस आत्मा की ये संवेदन व्यक्तियाँ हैं, ज्ञान भेद हैं ऐसा वह यह भगवान् आत्मा एक-अखंड होते हुए भी अनेक रूप होती हुई इन ज्ञान रूप तरंगों के द्वारा शब्दायमान हो रही है, हिलोरें ले रही है। यह भगवान् आत्मा ज्ञान पर्याय रूपी तरंगों के साथ एक रूप-अभिन्न रस वाला है, अद्भुत निधियों को अपने आप में भरे हुए है। अतः यह भगवान् आत्मा चैतन्य रत्नाकर है, चैतन्य समुद्र है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम इसी परम चैतन्य रत्नाकर स्वरूप हो। विभाव परिणति का त्याग किए बिना स्वभाव परिणति की प्राप्ति संभव नहीं है। दोषों का त्याग किए बिना गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। अचैतन्य दशा, अचैतन्य पर्याय का त्याग किए बिना परम चैतन्य दशा की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः अचैतन्य दशा के कारणभूत राग- द्वेषादि विभाव-विकृत परिणामों का त्याग कर निज परम चैतन्य रत्नाकर में ही लीन होता हूँ।

णियाणंदसरूवो हं।।25।।

अर्थ–मैं निजानंद स्वरूप हूँ।

भावार्थ–विभाव परिणति में लीन, परद्रव्यों में आसक्त जीव स्वादिष्ट रुचिकर भोजन, श्रेष्ठ वस्त्राभूषण, भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त कर कहता है–आनंद आ गया। सुखाभास की सामग्री प्राप्त कर जिसे वह आनंद कहता है वह आनंद नहीं आनंदाभास है। क्योंकि पर से उत्पन्न होने वाला आनंद स्वाभाविक आनंद नहीं हो सकता।

यहाँ कहा 'निजानंद' अर्थात् 'नियम' से जिसका जन्म होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ये नियम हैं[1] और रत्नत्रय आत्मा से परे नहीं है, वही आत्मा है, स्वभाव है।

णाणम्हि-भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णि वि आदा, तम्हा कुण भावणं आदे।।11।।–समयसार

ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में भावना करनी चाहिए। पुनः ये तीनों भी आत्मा ही हैं अतः आत्मा में भावना करनी चाहिए।

आत्मा से उत्पन्न आनन्द ही मेरा स्वभाव है। पुद्गल से उत्पन्न आनंद तो मेरा स्वभाव है ही नहीं किन्तु किसी अन्य आत्मा से उत्पन्न आनंद भी मेरा स्वभाव नहीं है। किसी भी मोक्षगामी पुरुष की आत्मा में वा अनंतानंत सिद्धों में अनंत आनंद है किन्तु वह आनंद उन्हीं के लिए है, मेरे लिए नहीं। मेरे लिए मेरी आत्मा से उत्पन्न आनंद ही मेरा है और वही मेरा स्वभाव है।

हे तत्त्ववेत्ता! उस निजानन्द के प्रकटीकरण के लिए सर्व संयोगज पदार्थों का त्याग करो, संयोगी पर्यायों-दशाओं का त्याग करो। जैसे बादलों से आच्छादित सूर्य बादलों के हटते ही प्रकट हो जाता है उसी प्रकार नित्य, शाश्वत, शुद्ध, परम आनंद भी आत्मा से प्रकट हो जाएगा यदि समस्त परकृत विभाव परिणतियों का त्याग कर दिया जाए तो। परभाव, परवस्तु व परवस्तु की क्रियाशीलता से प्रभावित हुए मुझे इन सबका त्याग करना होगा। मैं परवस्तु, परभाव, परवस्तु के फल का त्याग करता हूँ क्योंकि ये मेरी आत्मा में अशुद्धि उत्पन्न करते हैं और वह अशुद्ध दशा मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो निजानंद स्वरूप है जिसे ध्यान, तप आदि पुरुषार्थ के बल से कर्मों को नष्ट कर मुझे मेरी आत्मा में प्रकट करना है। अतः मैं कर्म क्षयार्थ तत्पर होता हूँ, अनंत, निजानंद, आत्मोत्पन्न आनंद की प्राप्ति हेतु आत्मा में ही लीन होता हूँ।

1. णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।।3।। –नि.सा.

सयाणंद-सरूवो हं॥26॥

अर्थ–मैं सदा आनंद स्वरूप हूँ।

भावार्थ–''**सहभुवो गुणः**'' गुण सदा सहभावी होते हैं। ''सदा-आनंद'' आचार्य महोदय ने 'सदा' शब्द यही दिखलाने के लिए लगाया कि यह आनंद आत्मा का गुण है और गुण- गुणी से कभी भिन्न नहीं होता। सहभावी होता है। जानते, देखते हुए अमूर्तिक रूप, चैतन्य रूप होने पर जीव आनंद की अनुभूति करता है। चेतना के सभी गुण एक साथ चेतना के उपभोग में आते हैं, चेतना के गुण चेतना से पृथक् नहीं हैं। मेरी आत्मा का स्वभाव सदा आनंद स्वरूप है। किसी भी अवस्था में यह आनंद नामक गुण नष्ट नहीं होता। चाहे मैं निगोदावस्था में रहा तब भी मेरी शक्ति उस अनंत आनंद को प्राप्त करने की थी, आज भी उस शाश्वत आनंद को प्राप्त करने की है और कल वह शाश्वत आनंद प्रकट हो जाएगा।

मैं सदैव आनंद स्वरूप हूँ। मैं कभी भी दुःखमय नहीं हूँ, अशांतिमय नहीं हूँ, क्लेशमय नहीं हूँ, ईर्ष्यामय नहीं हूँ, विद्वेषमय नहीं हूँ, कुभावमय नहीं हूँ इत्यादि आनंद के विपरीत अवस्थाएँ मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो सदा-सदा आनंद स्वरूप है।

हे तत्त्ववेत्ता! छोटे-छोटे शब्दों को, वाक्यों को सुनकर क्यों दुःखी होते हो, छोटी-छोटी बातों से क्यों संक्लेशित होते हो, क्यों अपने चित्त की शांति को खोते हो, क्यों अपने आनंद को छोड़ देते हो। अरे! तुम तो आनंद का महासागर हो, आनंद का सागर तुम्हारे अंदर हिलोरें ले रहा है, तुम क्यों किसी से आनंद की एक बूंद के लिए याचना करते हो? तुम तो स्वयं ऐसे आनंद के पुंज हो जो कभी नष्ट नहीं हो सकता।

णिय-परमप्प-लद्धि-सरूवो हं॥27॥

अर्थ–मैं निज परमात्म लब्धि स्वरूप हूँ।

भावार्थ–संसार के प्राणी संसार में नाना प्रकार की उपलब्धियाँ करते हैं। डिग्री, घर, फ्लैट्स, कॉन्ट्रेक्ट, दुकान, प्रॉपर्टी, स्वर्णादि धातुएँ, विशेष धन लाभ आदि प्राप्त कर इन्हें अपनी उपलब्धियाँ बताते हैं किन्तु हे भोले आत्मन्! ये सब तेरे स्वभाव नहीं हैं। जिन्हें तुम उपलब्धियाँ मान रहे हो ये तो अनुपलब्धियों से भी ज्यादा घातक हैं। क्योंकि इन बाह्य उपलब्धियों के होने पर जो अहं भाव जागृत होता है वह इस जीव को संसार में पतित कर देता है। अहंकार के सुमेरु पर चढ़े हुए व्यक्ति को गिरने से कोई नहीं बचा सकता। इसलिए कहा ये बाह्य उपलब्धियाँ तुम्हारा स्वरूप नहीं हैं; और जो तुम्हारा स्वरूप नहीं है उसे प्राप्त कर व्यर्थ में अहंकार कर स्वयं को क्यों दुःख देते हो।

अहो! मेरी परम आत्मा की उपलब्धि ही मेरी वास्तविक उपलब्धि है जिसे यदि मैंने एक बार प्राप्त कर लिया तो कोई छीन नहीं सकता। जिसे प्राप्त कर हम उसे भोग ना पाएँ या कोई छीन ले तो वह हमारी उपलब्धि कैसे हो सकती है? हमारी वास्तविक उपलब्धि तो वही है जो हमारी आत्मा में उत्पन्न हो। आत्मा की शुद्ध स्वाभाविक परिणति हमारी उपलब्धि है। आत्मा की शुद्ध परिणति तो आत्मा में निवास करना है।

कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम वा अन्य किसी अवस्था के बिना सहज ही आत्मा से जो आनंद उत्पन्न हुआ है वही निजानंद है और उस शाश्वत आनंद की उपलब्धि ही शाश्वत उपलब्धि है। वह तभी संभव है जब आत्मा परमात्मा बन जाए।

लोक में कहा जाता है कि 'कुछ पाने के लिए कुछ खोना पड़ता है'। यदि आत्मा की स्वाभाविक दशा को चाहते हो तो वैभाविक दशाओं को छोड़ना होगा। निज को चाहते हो तो पर को छोड़ना होगा। बाह्य द्रव्यों-भावों को छोड़कर ही स्वलीनता संभव है। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए भी आत्मा से बहिर्भूत-पृथक् समस्त द्रव्यादि को छोड़ना होगा, समस्त कुभावों का त्याग करना होगा, मानना होगा कि आत्मा से पृथक् एक परमाणु मात्र भी तुम्हारा नहीं है। यही परमात्म दशा को प्राप्त करने की युक्ति है। आचार्य गुणभद्र स्वामी जी ने कहा भी है–

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवे।
योगिगम्यं तवप्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥110॥–आत्मानुशासन

अहो तत्त्ववेत्ता! यह परम आत्म दशा ही तेरी उपलब्धि है और यही तेरा स्वरूप है। अरे! तुम क्यों विचलित होते हो, क्यों पर पदार्थों में रंजायमान होते हो। अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का पुरुषार्थ करो, यही तुम्हारा स्वभाव है। तुम शक्तिरूपेण शुद्ध, सिद्ध परमात्मा हो। उस परमात्म लब्धि को, उपलब्धि को प्राप्त करो। बाहर की उपलब्धियों के चक्कर में मत पड़ो, अभी तक इन्हीं के कारण चतुर्गतियों में भ्रमण कर रहे हो। अहो! इस भ्रमण का त्याग करने के लिए बाह्य उपलब्धियों को छोड़ निज परमात्म की उपलब्धि करो, यही तुम्हारा स्वभाव है।

सुइ-असुइ-भावरहिदो हं॥28॥

अर्थ–मैं स्मृति-अस्मृति के भावों से रहित हूँ।

भावार्थ–हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारा स्वभाव किसी को स्मरण करना नहीं है और किसी को विस्मरण करना भी नहीं है। 'मैं भूल गया' यह भी मेरा स्वभाव नहीं है और 'मुझे याद आ गया' यह भी मेरा स्वभाव नहीं है। अहो! अपना समय किसी के स्मरण या विस्मरण में क्यों खोते हो? अप्रिय घटना, अप्रिय शब्द, अप्रिय विचार आदि को भुलाना चाहते हो एवं प्रिय घटना, व्यक्ति, शब्द, चिंतनादि को

याद करना चाहते हो। किन्तु हे भोले चेतन! यह तेरा स्वभाव नहीं है। स्मृति तो मतिज्ञान का ही एक भेद है। विस्मरण होना ज्ञान का क्षयोपशम घट जाना है। अरे! ये दोनों ही तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं। ये कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान अथवा मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय ज्ञान भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है तो इनके फल तुम्हारे स्वभाव कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।

स्मृति-विस्मृति ये क्षयोपशम ज्ञान के फल हैं और क्षयोपशम ज्ञान तुम्हारा स्वभाव नहीं है। यदि स्वयं को उच्च पद पर आसीन करने के लिए, स्वयं की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए एवं अन्यों को रिझाने के लिए कुछ याद कर रहे हो तो वह भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है और यदि जो अनिष्टकारक या बुरा व्यवहार तुम्हारे साथ हुआ कोई इष्ट वियोग हुआ, अनिष्ट संयोग हुआ, लोग कह रहे हैं जो हुआ भूल जाओ, अहो भद्र पुरुष! यह भूलना भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है।

तुम्हें कुछ करना नहीं है, बस अपनी आत्मा में लीन हो जाना है। किन्तु अनादिकाल के संस्कार ऐसे पड़े हुए हैं कि योगत्रय की प्रवृत्ति होती जाती है। हवा चले और पीपल का पत्ता न हिले, जलाशय का पानी न हिले यह कैसे हो सकता है? कई बार विचार आता है कि निश्चेष्ट होकर बैठें, मैं अपनी आत्मा में स्थिर हो जाऊँ किन्तु पूर्व संस्कारवशात् पुनः पुनः विचार आ जाते हैं, शब्द मुखरित होने लगते हैं, शरीर की चेष्टा होने लगती है।

राजा श्वेतवाहन जो धर्मरुचि मुनिराज हुए। धर्मध्यान में लीन थे तभी एक बार सैनिकों के शब्द कान में पड़ गए कि देखो! कितना कठिन तप कर रहे हैं, क्या निस्पृहता है। तभी दूसरा सैनिक कहता है अरे! कैसे तपस्वी? छोटे से पुत्र को राज्य देकर आ गए दूसरे देश का राजा उस पर अधि कार जमाना चाहता है, युद्ध करने के लिए तत्पर है। ये शब्द उन मुनिराज के कानों में पड़ गए और आत्मध्यान, शुभधर्मध्यान दुर्ध्यान की ओर परिवर्तित हो गया। मन में विचार आया कि जिस राजा को कई बार पराजित कर मैंने क्षमा किया अब वही मेरे पुत्र को परेशान कर रहा है। और चिंतन करते-करते ध्यान में ही युद्ध प्रारंभ हो गया, चक्रव्यूह की रचना हो गई। भूल गए अपनी वर्तमान दशा को और पूर्व संस्कारवशात् स्वयं को राजा की दशा में ही चिंतन करते हुए भयंकर युद्ध चलने लगा। युद्ध में स्वयं को पराजित होते हुए देख खीझकर मुकुट उतार कर फेंकने को सिर पर हाथ गया तब केशरहित सिर देखकर याद आया अरे! मैं ये क्या कर रहा हूँ, मैं तो मुनिराज हूँ। अब चिंतन की धारा बदल गई। परिणाम, शुभ, शुभतर, शुभतम व शुद्ध हुए और अन्तर्मुहूर्त में क्षपक श्रेणी माढ़कर केवलज्ञानी हो गए।

अहो! पूर्व संस्कारवशात् यह जीव पंचेन्द्रिय विषयों की ओर, दुर्ध्यान वा संसारवर्धक चेष्टाओं में आसक्त हो जाता है किन्तु अब मैं निज आत्मा को ''मैं परमात्मा हूँ'' ऐसे भावों से संस्कारित करता हूँ। निश्चय से यह भावना मेरी आत्मा को परमात्मा बनाने में सहायक होगी। मेरी आत्मा में पड़े ये संस्कार मुझे परमात्म दशा प्राप्त अवश्य कराएँगे। कहा भी है-

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिं॥28॥–स.तं.

वह अन्तरात्मा उस परमात्मा में मैं ही वह हूँ (मैं परमात्मा स्वरूप हूँ) इस प्रकार की भावना से संस्कार ग्रहण किए हैं अर्थात् मैं परमात्मा हूँ ऐसी धारणा बनाई है, वह अंतरात्मा निश्चय से परमात्मा में दृढ़ संस्कार हो जाने से मैं परमात्मा स्वरूप हूँ ऐसा अभेद अभ्यास हो जाने से उसमें ही अनन्तज्ञानादि अनन्तचतुष्टय रूप अचल स्थिति को प्राप्त होता है।

हे तत्त्ववेत्ता! स्मरण-विस्मरण आदि तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुम तो सहज चैतन्य विलास युक्त शुद्ध-बुद्ध हो। तुम स्वयं परमात्मा हो ऐसा पुनः पुनः चिन्तन करते हुए अपने शुद्ध आत्म तत्त्व को जानो और उसी शुद्धात्म तत्त्व के प्रकटीकरण हेतु समत्व भाव से पूरित होते हुए मोक्षमार्ग पर निरंतर गतिशील रहो।

भवजणगसव्वभावरहिदो हं॥29॥

अर्थ–मैं संसार को उत्पन्न करने वाले समस्त भावों से रहित हूँ।

भावार्थ–संसारी प्राणी संसार में परिभ्रमण कर रहा है और उसका कारण है कर्म। वह कर्म द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म के भेद से तीन प्रकार का है। आप जानते हैं कि कोई भी क्रिया बिना निमित्त के नहीं होती। परिणति उपादान में होती है किन्तु उस परिणति में निमित्त कारण, बाह्य हेतु अलग होते हैं। नैमित्तिक में जो कार्य करने में समर्थ होता है उसे निमित्त कहते हैं, जो नैमित्तिक में परिणति कराने में समर्थ न हो वह निमित्त नहीं कहलाता।

जिन भावों से कर्मों का आस्रव होता है, बंधादि होता है, संसार का वर्द्धन होता है, जिनसे जीव सुख-दु:ख का वेदन करता है कोई भी कर्म चाहे सुख देने वाला वा दु:ख देने वाला जो भी संसार का हेतु है वह जीव का स्वरूप नहीं है। कर्म का सद्भाव शुद्ध जीव का स्वभाव नहीं है। हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारा स्वभाव कर्म से रहित होना है। कर्मयुक्त आत्मा अशुद्ध एवं कर्ममुक्त आत्मा शुद्ध होती है। कर्म से रहित होना ही तुम्हारी नियति है, प्रकृति है। शुद्ध निश्चय नय से तुम कर्म से रहित हो अर्थात् शक्ति रूप से शुद्ध हो, परमात्मा हो।

जब-जब भी यह जीव पर में आसक्त होता है, परद्रव्य, परभावों में राग-द्वेष रूप परिणाम करता है पर को अपना मानता है तब तब वह संसार वर्द्धक कर्मों का आस्रव करता है तब तक यह कर्मबद्ध अवस्था अर्थात् अशुद्ध ही रहता है, विभावमय रहता है।

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जंतोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुंचति॥46॥–इष्टोपदेश

जो हेयोपादेयतत्त्व से अनभिज्ञ, अविद्वान्, पुद्गल द्रव्य (शरीरादि पुद्गल द्रव्य) को आत्मीय भावों से स्वीकारा करता है, उस बहिरात्मा प्राणी का, वह शरीरादिक पुद्गल द्रव्य कर्म भी चारों गतियों में अपना सामीप्य नहीं छोड़ता है अर्थात् भव-भव में पुद्गल द्रव्य जीव के साथ बंधा ही रहता है।

अहो तत्त्ववेत्ता! संसार को वृद्धिंगत करने वाला कोई भी भाव तुम्हारा नहीं है, वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। अत: संसार के कारणभूत समस्त भावों से रहित अपनी शुद्धात्मा का चिंतन करो। वही तुम्हें शुद्धात्मा बनाने में समर्थ होगा। अत: मैं संसार के कारणभूत समस्त भावों का परिहार करता हूँ, उनसे पृथक् ही स्वयं का चिंतन करता हूँ।

अज्झप्पसारसरूवो हं।।30।।

अर्थ–मैं अध्यात्म सार स्वरूप हूँ।

भावार्थ–आत्मा में निवास करना अध्यात्म है अथवा आत्मा में निवास करने पर जो अनुभूति होती है, जो आह्लाद उत्पन्न होता है, जो आत्मा की शक्तियाँ प्रकट होती हैं, आत्मा के शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय प्रकट होती हैं वही आत्मा (अध्यात्म) का सार है। जैसे दुग्ध का सार घृत होता है, फलों का सार रस होता है, तिलहन का सार तेल होता है, ईंधन का सार उष्णता वा जलना होता है ऐसे ही मेरी आत्मा का सार आत्मा में निवास करना है, चेतना के सर्व शाश्वत गुणों को प्रकट करना है।

हे तत्त्ववेत्ता! जो आत्मा का सार आत्मा का आत्मा में लीन होने पर प्रकट होता है वह सर्वदा ग्राह्य है, उपादेय है और वही तुम्हारी आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप की प्राप्ति के लिए पर में ममत्वबुद्धि का त्याग कर नि:संग होकर निस्पृह भाव से सिद्धों की भक्ति करो।

तम्हा णिव्वुदिकामो, णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदु भत्तिं, णिव्वाणं तेण पप्पोदि।।177।।–पंचास्तिकाय

मोक्षार्थी जीव नि:संग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है इसलिए वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

अहो! जो रागादि का नाशकर, नि:संगता व निर्ममता से स्वशुद्धात्मा में विश्रान्ति रूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति (देह मंदिर में शोभायमान चिदानन्द चैतन्य सिद्धात्मा की भक्ति) करता है वह अध्यात्म सार रूपावस्था को प्राप्त होता है।

असमाहि-संकिलेसपरिणाम जुदमरण-रहिदो हं॥31॥

अर्थ–मैं असमाधि व संक्लेशता युक्त मरण से रहित हूँ।

भावार्थ–समाधित चित्त का न होना ही असमाधित चित्त है। समभाव की जागृति, बुद्धि का राग-द्वेष से रहित हो जाना ही समाधि है। आधि (मानसिक पीड़ा), व्याधि (शारीरिक पीड़ा), उपाधि से रहित समाधि होती है। समाधि में धर्मध्यान व शुक्लध्यान होता है तथा संक्लेशता में आर्त्त व रौद्र परिणाम होते हैं। विशुद्धि, शुभ परिणामों की हानि संक्लेशता है। हे तत्त्ववेत्ता! संक्लेश परिणाम तुम्हारा स्वभाव नहीं है। वह संक्लेशता परनिमित्तक है, संयोगज है। तुम उस संक्लेशता से रहित समाधि का चिंतन करो।

समाधि का अर्थ मरण नहीं अपितु अपने परिणामों को, अपनी बुद्धि को सम कर लेना, समत्व भाव प्रकट कर लेना, रागद्वेषादि को क्षीण कर लेना है। इसके विपरीत असमाधि है। रागद्वेषादि की तीव्रता असमाधि है। विशुद्धि के हानि रूप परिणाम संक्लेशत है। ऐसे असमाधि व संक्लेश परिणामों के साथ मरण जीव का स्वभाव नहीं है, वह संसार संवर्द्धक है। यद्यपि मरण ही जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु संसारी जीवों का मरण तो होता है। वह मरण वैभाविक अवस्था ही है। समाधि, विशुद्ध परिणामों से युक्त मरण जीव को अल्प समय में स्वभाव में ले जाकर स्थापित कर देता है जबकि असमाधि, संक्लेश परिणामों से युक्त मरण जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाला है, स्वभाव से च्युत करने वाला है अतः यह तो कदाचित् भी जीव का स्वभाव नहीं है।

समाधि के द्वारा विशुद्ध परिणामों से जो शरीर का वियोग होता है वह मुक्ति का कारण है। अतः असमाधि के कारणभूत संक्लेश परिणामों का व संक्लेशता के कारणों का निवारण करना चाहिए। मैं असमाधि व संक्लेशित परिणामों से अत्यंत पृथक् हूँ ऐसा पुनः पुनः चिन्तन मुझे सिद्ध स्वभाव की ओर गतिशील कर सकता है अतः मैं इसकी बार-बार भावना करता हूँ।

सगदव्वखेत्तकालभाव-सरूवो हं॥32॥

अर्थ–मैं स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वरूप हूँ।

भावार्थ–प्रत्येक द्रव्य स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अवस्थित है, स्वचतुष्टय में स्थित है। स्वचतुष्टय में अवस्थित होने से ही उसका अस्तित्व है, यदि स्वचतुष्टय में स्थित नहीं हो तो उसका कोई अस्तित्व नहीं। परचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से वह द्रव्य नास्ति रूप है एवं स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति रूप है। जैसे पेन, पेन रूप है किन्तु नोटबुक, इरेजर, स्केल आदि रूप नहीं है। इसी प्रकार सभी द्रव्य स्व रूप से सत् हैं और पर रूप से असत् हैं।

स्वद्रव्य अर्थात् जिसमें उसके स्वकीय गुणों का वास होता है, स्वकीय पर्याय परिवर्तित होती हैं। स्वक्षेत्र अर्थात् जहाँ आत्मा का निवास है। व्यवहार की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा आकाश में विद्यमान है किन्तु निश्चय की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा आत्मप्रदेशों में स्थित है। जिस काल में आत्मा का जैसा परिणमन हो रहा है वही उसका स्वकाल है तथा आत्मा की वर्तमान दशा स्वभाव है। आत्मा स्वकीय द्रव्य, स्वकीय क्षेत्र, स्वकीय काल व स्वकीय भाव से परिणत है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम स्वचतुष्टय रूप थे, स्वचतुष्टय रूप हो और स्वचतुष्टय रूप ही रहोगे। परचतुष्टय न तुम्हारा कभी था, न आज है और ना ही कभी हो सकेगा। अतः पुनः पुनः ये चिंतन करना, मेरा धर्म क्या है? मैं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से पृथक् हूँ।

''पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल॥''

अहो! पुद्गल के समान पूरन-गलन मेरा स्वभाव नहीं है। मैं आत्म द्रव्य, चैतन्य द्रव्य हूँ। ज्ञानदर्शन चेतना मेरा लक्षण है। मैं चैतन्य स्वभाव स्वरूप हूँ। मैं अचेतन स्वभाव रूप नहीं हूँ। मेरी आत्मा के प्रदेश जहाँ हैं, वही मेरा क्षेत्र है। मेरी आत्मा के प्रदेशों के बाहर मेरा कोई अस्तित्व नहीं है। मेरी आत्मा अनादिकाल से है व अनंत काल तक रहेगी। जिस समय कालद्रव्य के निमित्त से मेरी आत्मा में परिणमन हो रहा है वही स्वकीय काल है। वर्तना से जो नूतन-नूतन पर्याय उत्पन्न हो रही हैं, वे पर्याय मेरी हैं, मैं पर्याय से रहित नहीं हूँ क्योंकि द्रव्य, गुण-पर्याय अन्योन्य हैं, अविनाभावी हैं।

द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना कोई द्रव्य नहीं होता। पर्याय के बिना गुण और गुण के बिना गुण की पर्याय नहीं होती।

हे तत्त्ववेत्ता! जब परद्रव्यादि रूप तुम नहीं हो तो उनमें आसक्त होकर स्वचतुष्टय स्वरूप आत्मा का अहित क्यों करते हो। अपने सम्यक् रूप व स्वरूप को पहचानो पर से विरक्त होकर निज आत्मतत्त्व में लीन होने का परम पुरुषार्थ करो।

कोहमाणमायालोह-असच्चवयण-
असंजमातवाचागासत्तिमेहुणभाव-रहिदो हं॥33॥

अर्थ—मैं क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य वचन, असंयम, अतप, अत्याग, आसक्ति व मैथुन भाव से रहित हूँ।

भावार्थ—क्रोध नामक कषाय के उदय से जो आत्मा में उष्णता उत्पन्न होती है वह क्रोध है। प्रतिकूल परिस्थिति में आत्मा में उष्णता आती है तो चित्त की शांति भंग होती है, क्षमाभाव नष्ट होता है, वह क्रोध है। आत्मप्रदेशों में कठोरता का भाव आ जाना मान है जिसके कारण व्यक्ति दूसरे की समीचीन बात को भी स्वीकार करने में असमर्थ होता है। मान कषाय के उदय से व्यक्ति पर्यायों में आसक्त होता है, द्रव्यदृष्टि-तत्त्वदृष्टि नष्ट हो जाती है, 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ' ऐसा समझता है। छल-कपट

का भाव, प्रपंच, वंचना, ठगना, धोखा देना माया है। पर वस्तु को अवैध रूप से अपना बनाने का भाव ही मायाचारी है। अवैधानिक रूप से सफलता प्राप्त करने का भाव मायाचारी है। मायाचारी का आशय है—अपवादों को ही राजमार्ग मानकर आगे बढ़ना। मायाचारी का भाव है—वक्रता, कुटिलता। सहज प्रवृत्ति को छोड़ करके वक्र प्रवृत्ति करना मायाचारी है।

पर वस्तु को देखकर उसमें आसक्त हो जाना, उसे अपना बनाने का तीव्र भाव रखना लोभ है। पुण्य के उदय में इष्ट वस्तु की प्राप्ति सहज ही हो जाती है किन्तु पाप के उदय में बहुत पुरुषार्थ करने पर भी प्राप्त नहीं होती। लोभ के माध्यम से इच्छाएँ जागृत होती हैं, यह पाप प्रकृति है। पाप प्रकृति के रहते हुए इष्ट वस्तु की प्राप्ति कठिन है।

जो जैसा है उसको ज्यों का त्यों नहीं कहना असत्य है। झूठ बोलना असत्य है। चाहे वे असत्य-वचन राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, हास्य आदि के निमित्त से ही बोले गए हों।

पंचेन्द्रियों व मन पर विजय प्राप्त करना इंद्रिय संयम है, पाँच स्थावर और त्रसकायिक जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। इसके विपरीत पाँच इंद्रिय व मन पर नियंत्रण नहीं करना, षट्काय जीवों की रक्षा नहीं करना असंयम है। इच्छा का निरोध तप है और अंतहीन इच्छा के पीछे दौड़ना अतप है। अतप से जीव की आत्मशक्ति नष्ट (अवरोधित) होती है और तप से आत्मशक्ति की वृद्धि (प्रकटीकरण) होती है। तप बारह प्रकार के कहे जाते हैं और अतप असंख्यात प्रकार के हैं। अतप का मूल आशय है इच्छाओं का जाल बुनना और उसमें फँसते जाना।

पर वस्तु ग्रहण करना या उस परवस्तु के ग्रहण का भाव भी अत्याग है। पर वस्तु में लीन हो जाना, पर में अत्यंत लीनता आसक्ति है। वस्तु को गूढ़ता से सेवन करने का भाव भी आसक्ति है। पुरुष, स्त्री वा नपुंसक वेद के उदय से विपरीत वेद के साथ, उसकी देह के साथ सेवन करके तृप्ति, शांति आदि की कामना मैथुन भाव है।

हे तत्त्ववेत्ता! ये सब क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य वचन, असंयम, अतप, अत्याग, आसक्ति व मैथुन भाव तुम्हारे स्वभाव नहीं हैं। क्यों बार-बार इनके पीछे दौड़कर, इन्हीं को करके स्वयं की आत्मा को दु:ख देते हो, स्वभाव प्रकटीकरण का निरोध करते हो। आचार्य महाराज करुणापूर्वक बार-बार बता रहे हैं कि जो तुम्हारा स्वभाव नहीं है उसे छोड़ो अन्यथा संसार में दु:खों से बचने का और कोई उपाय नहीं है।

हे पुण्य पुरुष! तुम तो निरंजन, अव्याबाध, निष्कषाय रूप एवं निष्कर्म रूप शुद्धात्मा हो इसलिए इन क्रोधादि भावों से स्वयं को विरहित करो। ये भाव तुम्हारा स्वरूप नहीं हैं। ये तो मात्र संसार के, दु:ख के कारण हैं। इनसे मुक्ति ही संसार से मुक्ति है। इनसे मुक्ति हुए बिना कर्मों से मुक्ति असंभव है। अत: अपनी आत्मा का सदैव ऐसे चिन्तन करो कि मेरी आत्मा सदा इन क्रोधादि से रहित है। मैं क्षमादि भावों को धारण करता हुआ कर्मों के निर्मूलन के लिए तत्पर होता हूँ। स्वभाव के विपरीत क्रोधादि परिणामों का परित्याग करता हूँ।

परमसमाहिभाव-सरूवो हं॥34॥

अर्थ–मैं परम समाधि भाव स्वरूप हूँ।

भावार्थ–समत्व बुद्धि का प्रकटीकरण समाधि भाव है। राग- द्वेष की परिणति छोड़ने से, मोह को क्षीण करने से संसार के समस्त पदार्थों में समत्व भाव उत्पन्न होता है। मोहादि विकारी भावों का त्याग करना ही मेरा स्वभाव है। इसलिए गुरु महाराज बार-बार इन विभाव परिणामों को त्याग करने हेतु प्रेरित करते हैं। रागादि विकल्पजाल से रहित निज शुद्धात्मा की भावना वीतराग परम सामायिक रूप परम समाधि ही निर्विकल्प समाधि है। उस परम समाधि को प्राप्त करना ही मेरा स्वभाव है। कहा भी है–

सयलवियप्पहं जो विउल-परमसमाही भणंति।
तेण सुहासुह-भावणा मुणी सयलवि मेलंति॥190॥–प.प्र.

निर्विकल्प परमात्मा स्वरूप से प्रतिकूल रागादि समस्त विकल्पों के विलय को वीतराग परम सामायिक रूप परम समाधि कहते हैं। इस परम समाधि से मुनिगण सभी शुभ-अशुभ भावों को छोड़ देते हैं।

इस निर्विकल्प दशा-परम समत्व भाव रूप परम समाधि की प्राप्ति कब होती है यह बताते हुए नियमसार में कहा है–

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥122॥
संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥123॥

जो वचनों के उच्चारण रूप क्रिया को छोड़कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है तथा जो संयम, नियम, तप, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है उसके परम समाधि होती है।

इन सभी सामग्री विशेष के द्वारा अखंड, अद्वैत, परम चैतन्य आत्मा का जो परम संयमी साधु निरन्तर ध्यान करता है, निश्चय से उसी के परम समाधि होती है।

अहो तत्त्ववेत्ता! रागद्वेषादि समस्त विभाव भावों का त्याग करो, समत्व भाव को धारण करो। पर्याय दृष्टि को छोड़ द्रव्य दृष्टि रखो अर्थात् समस्त पुद्गल द्रव्यों को विभिन्न वस्तुएँ न देखकर मन में यही भाव धारण करो कि यह पुद्गल द्रव्य है। समस्त जीवों को देखकर यह जीवद्रव्य है, जीवात्मा है, इतना ही पहचानो। देखो! तुम्हारी राग-द्वेष की परिणति अवश्य कम होगी, सभी वस्तु,

पदार्थ व जनों में समत्व भाव उत्पन्न होगा और यही समत्व भाव, समत्व बुद्धि निर्विकल्प समाधि का हेतु है। यही निर्विकल्प समाधि मेरी आत्मा का स्वभाव है।

निर्विकल्प समाधि से किस प्रकार का आभास होता है इसका उत्तर देते हुए कहते हैं–

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गतविभ्रमः।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा निर्विकल्पसमाधितः॥15॥–पं.स्तो.

विकल्प रहित शुद्ध आत्मा में स्थिर होकर निर्विकल्प समाधि से जिस क्षण में शुद्ध ज्योति के दर्शन करता है उसी क्षण परद्रव्य में अपनत्व बुद्धि और विभाव परिणति रूप विकल्प पलायमान हो जाते हैं।

अहो! वह आत्मा ही मेरा सारभूत तत्त्व है, वही उपादेय है। उस निर्विकल्प दशा की प्राप्ति के लिए मैं परम समत्व भाव धारण करता हूँ।

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता, णं समाहिं पडिवज्जए॥104॥–नि.सा.

मेरा समस्त प्राणियों पर समताभाव है, मेरा किसी भी प्राणी के साथ बैर नहीं है। मैं सब प्रकार की आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त होता हूँ।

परमसुद्धपारिणामियभाव-सरूवो हं॥35॥

अर्थ–मैं परम शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप हूँ।

भावार्थ–''**भावः चित्परिणामः**'' चेतन के परिणाम को भाव कहते हैं। ये भाव पाँच प्रकार के कहे गए हैं–औपशमिक, क्षायिक, मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक, औदयिक व पारिणामिक। कर्मों के उपशम से औपशमिक भाव, कर्मों के क्षय से क्षायिक भाव, कर्मों के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव तथा कर्मों के उदय से औदयिक भाव होता है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षयादि से रहित जो भाव है वह पारिणामिक भाव कहलाता है अथवा कर्मों की सम्पूर्ण उपाधि से रहित पारिणामिक भाव होता है।

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो, निष्क्रियः पारिणामिकः॥–स.सा./ता.वृ./414

क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव मोक्ष को करने वाले हैं, औदयिक भाव बंध करता है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है।

अहो तत्त्ववेत्ता! तुम्हारा स्वभाव न क्षायिक भाव है, न औपशमिक भाव है, न क्षायोपशमिक भाव है और न ही औदयिक भाव है। ये सब तुम्हारे स्वभाव नहीं हैं।

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइय भावठाणा, णो उवसमणे सहावठाणा वा।।41।।–नि.सा.

उस शुद्धजीव के न क्षायिक भाव के स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भाव के स्थान हैं, न औदयिक भाव के स्थान हैं और न औपशमिक भाव के स्थान हैं।

ये सभी भाव संसारी जीवों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं होते। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है। उनमें से अभव्यत्व भाव से युक्त जीव कभी भी शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ आचार्य महाराज ने परम शुद्ध पारिणामिक भाव को जीव का स्वरूप कहा है। जब यह जीव दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के लाभ से वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रय मय परिणमन करता है तब ये दोनों भाव शुद्ध हो जाते हैं वही परमशुद्ध पारिणामिक भाव जीव का स्वरूप है।

अहो तत्त्ववेत्ता! उस निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम व्यवहार रत्नत्रय का शक्ति से पालन करो क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय के पालन किए बिना निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति असंभव है। जिस प्रकार हवाई यात्रा करने का इच्छुक व्यक्ति डायरेक्ट उड़ता नहीं अपितु विभिन्न वाहनादि का प्रयोग कर एयरपोर्ट पर पहुँचता है फिर प्लेन में बैठता है और वह प्लेन भी पहले हवाई पट्टी पर दौड़ता है फिर टेक ऑफ करता है। उसी प्रकार प्लेन के उड़ने से पूर्व की सर्व प्रक्रिया व्यवहार है और उड़ गया तो समझें निश्चय। बिना व्यवहार के निश्चय संभव नहीं।

अतः हे भद्र पुरुष! हे महात्मन्! व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का दृढ़ता से पालन करो उसे निरंतर विशुद्ध, विशुद्धतर व विशुद्धतम बनाने का प्रयास करो। यही व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का कारण है। इसी निश्चय रत्नत्रय से परम शुद्ध पारिणामिक भाव होता है और वही जीव का स्वभाव है।

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः।
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां।
एकाकारः स्वरसविसरापूर्ण - पुण्यः पुराणः।।160।।–नि.सा./ता.वृ.टी.

वह एक पंचम पारिणामिक भाव सदा जयवन्त रहे जो कि अत्यन्त शुद्ध है, कर्म रूपी शत्रुओं के नाश से प्रकट होने वाली आत्मा की स्वाभाविक दशा के द्वारा अवस्थित है, आत्म स्वरूप में स्थिर रहने वाले समस्त संयमी जीवों के मोक्ष का कारण है, एक रूप है, आत्मीय आनंद के समूह से पूर्ण है, पुण्य रूप है और प्राचीन अथवा श्रेष्ठ है।

परमसामाइयभाव-सरूवो हं।।36।।

अर्थ–मैं परम सामायिक भाव स्वरूप हूँ।

भावार्थ–नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के भेद से सामायिक छः प्रकार की कही गई है। यहाँ भाव सामायिक का प्रकरण है, वह भी उत्कृष्ट, मध्यम वा जघन्य नहीं अपितु सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, श्रेष्ठतम सामायिक परिणाम, आत्मस्वरूप परिणाम प्रासंगिक हैं। सामायिक–समय का अर्थ है आत्मा। आत्मा का ध्यान, चिंतन अथवा आत्मा के शुद्ध गुणों का प्रकटीकरण ही आत्मा की शुद्ध आय है। सम + आय –समत्व भाव की आय अर्थात् समत्व भाव का आना या प्रकट होना, समत्व भाव से आत्मगुणों का प्रकट होना, आत्मा का आत्मा में लीन होना, चित्त की अत्यन्त निर्मलता सामायिक है।

हे तत्त्ववेत्ता! हे योगी! तुम तीनों संध्याकालों में सामायिक करते हो, सर्व सावद्य का परिहार करते हो, योगत्रय की प्रवृत्ति का निरोध करते हो, असद् से स्वयं को बचाते हो, यही सामायिक परिणामों को और अधिक निर्मलतापूर्वक करो क्योंकि यही व्यवहार सामायिक परम सामायिक का कारण है। जिस प्रकार गाय को वन में पूरे दिन चरने के लिए छोड़ने के पश्चात् उसे लाकर एक खूंटे से बांध देते हैं फिर वह उतनी ही गति कर पाती है जितनी लंबी उसकी रस्सी है, इधर-उधर वनों में नहीं घूम पाती, उसी प्रकार दिन भर अनेक कार्यों को करने के पश्चात् भी सामायिक काल में अपने चित्त को सबसे दूर कर निजात्मा में लीन करो। यही अभ्यास स्वरूप में स्थिर होने में कारण होगा।

अहो भद्रपुरुष! सामायिक का अर्थ है–समता। प्रत्येक अनुकूल व प्रतिकूल स्थिति में समता भाव धारण करो। यही समत्व भाव तुम्हारा आभूषण है। समत्व परिणामों से युक्त होना ही तुम्हारा स्वभाव है। यदि जीवन में समता नहीं तब संयमी जीवन निष्फल ही जानो। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–

किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्ससमणस्स।।124।।–नियमसार

समता से रहित मुनि के वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन तथा मौन आदि क्या कर सकते हैं? अर्थात् समता भाव के बिना इनसे कुछ भी उपादेय फल की प्राप्ति नहीं होती।

अतः छोटी-बड़ी बातों पर संक्लेशित परिणाम करना छोड़ो, ये तुम्हें स्वभाव से च्युत करने वाले हैं। तुम्हारा स्वभाव परम समता रूप है। हे महात्मन्! कुछ दिन समत्व भाव धारण करके तो देखो, अनुपम आनंद की अनुभूति होगी।

आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव ने तो समता की प्रशंसा-स्तुति करते हुए कहा–

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा।
निजमुखसुखाम्भोधिप्रस्फार - पूर्णशशिप्रभा।।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनः प्रियमैत्रिका।
मुनिवरगणस्योच्चैः सालंक्रिया जगतामपि।।141।।–नि.सा./ता.वृ.

वह समता निरन्तर जयवन्त रहे जो मुनियों को भी दुर्लभ है, आत्म सुख रूपी उत्कृष्ट समुद्र को बढ़ाने के लिए पूर्ण चंद्रमा की प्रभा समान है, परम संयमी मुनियों की दीक्षा रूपी स्त्री के मन को प्रसन्न करने वाली प्रिय सखी के समान है, श्रेष्ठ मुनियों तथा अखिल संसार का उत्तम आभूषण है।

सिद्धों के समान सामायिक-समता भाव ही तुम्हारा स्वभाव है, उन्हीं सिद्धों का ध्यान करो, अपने उसी स्वरूप का चिन्तन करो।

सुद्धणिच्छयरयणत्तय-सरूवो हं।।37।।

अर्थ–मैं निश्चय रत्नत्रय स्वरूप हूँ।

भावार्थ–यद्यपि शुद्ध निश्चय नय अवक्तव्य होता है। पूर्व सूत्र में देखा था कि आत्मा जो है सो है, उसे शब्दों के माध्यम से कहा नहीं जा सकता। शुद्ध निश्चय नय आत्मा की शुद्ध शक्ति का कथन करता है और समग्र शुद्ध शक्तियाँ व गुण सिद्धों में प्रकट रूप से हैं। किन्तु यहाँ व्यवहार नय को गौण कर शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कहा कि जीव निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है।

नयापेक्षया रत्नत्रय के दो भेद हैं–व्यवहार रत्नत्रय व निश्चय रत्नत्रय। व्यवहार रत्नत्रय वक्तव्य है। व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के लक्षण, भेद, अतिचारादि का कथन किया जा सकता है किन्तु निश्चय रत्नत्रय के भेद व दोषादि हैं ही नहीं। यहाँ तक कि इनका लक्षण भी व्यवहार में कहा जाता है कि आत्मरुचि सम्यक्त्व है। आत्म ज्ञान सम्यग्ज्ञान व आत्मलीनता सम्यक्चारित्र है। ये शब्द भी उस निश्चय रत्नत्रय को पूर्णता नहीं कह सकते, उसकी अनुभूति नहीं करा सकते।

सर्व प्रकार के विकल्पों से रहित होकर जब आत्मा आत्मा में लीन होता है उस समय उस आत्मा में निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र भी है। वह शुद्ध निश्चय रत्नत्रय मेरा स्वरूप है जिसे प्राप्त करने पर मैं कभी स्वभाव से च्युत नहीं होऊँगा, वह शुद्ध निश्चय रत्नत्रय मेरा स्वरूप है जो एक बार प्रकट हो जाए तो अनंतकाल तक भी उसी रूप रहेगा अर्थात् कभी नष्ट नहीं होगा, वह शुद्ध निश्चय रत्नत्रय मेरा स्वरूप है जो सिद्धों में पाया जाता है।

यद्यपि निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति सप्तम गुणस्थान में हो जाती है किन्तु शुद्ध निश्चय रत्नत्रय अर्थात् जहाँ निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता होती है, जो जीव की शुद्ध अवस्था में रहता है वही शुद्ध

निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मैं हूँ। व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करने का साधन बन जाता है किन्तु वह व्यवहार रत्नत्रय मेरा स्वभाव नहीं है। निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मैं हूँ।

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥16॥–स.सा.

साधु को नित्य ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करना चाहिए। पुनः इन तीनों को निश्चय से आत्मा ही जानो।

णाणम्हि भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ये पुण तिण्णि वि आदा, तम्हा कुण भावणं आदे॥11॥–स.सा.

ज्ञान, दर्शन और चारित्र में भावना करना चाहिए पुनः ये तीनों भी आतम ही हैं अतः आत्मा में भावना करनी चाहिए।

अहो तत्त्ववेत्ता! उसी शुद्ध निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु उन शुद्ध निश्चय रत्नत्रय स्वरूपी सिद्धों का ध्यान करो, देह के देवालय में स्थित उस स्वरूपवान् कारण परमात्मा का चिंतन करो।

परमवीयरायसम्मत्त-सरूवो हं॥38॥

अर्थ–मैं परम वीतराग सम्यक्त्व स्वरूप हूँ।

भावार्थ–राग-द्वेष से रहित अवस्था वीतराग दशा कहलाती है। जहाँ मोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो जाता है उस 11वें गुणस्थान में वीतराग दशा है, जहाँ मोहनीय का क्षय हो जाता है उस 12वें गुणस्थान में वीतराग दशा है। दोनों ही गुणस्थानों में जो सम्यक्त्व है वह वीतराग सम्यक्त्व है। सयोग व अयोग केवली के भी वीतराग सम्यक्त्व है किन्तु यहाँ कहा परम वीतराग सम्यक्त्व स्वरूपी यह जीव है। परम अर्थात् जीव की सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, शुद्ध अवस्था और वह है सिद्धावस्था। उस अवस्था में होने वाला सम्यक्त्व अथवा सिद्धों का जो गुण है–सम्यक्त्व, वही मेरा स्वरूप है।

जैसे कनक पाषाण को तपाकर उसे शुद्ध किया जाता है, उसमें से सोना निकाला जाता है उसी प्रकार रत्नत्रय से भी क्रमशः आत्मा शुद्ध होती है पुनः परम वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति जीव को परम अवस्था में प्राप्त होती है। परम अवस्था अर्थात् सर्व कर्मों से रहित सिद्धों की अवस्था।

हे तत्त्ववेत्ता! पुण्यपुरुष! सिद्ध होने का ही समीचीन लक्ष्य बनाओ। यदि मार्ग में भटक गए तो मंजिल तक पहुँच नहीं पाओगे। परम वीतराग दशा के साथ रहने वाला सम्यक्त्च ही तुम्हारा स्वभाव है। शुद्ध आत्मलीनता ही तुम्हारा अच्युत स्वभाव है।

परमवीयरायचरित्त-सरूवो हं॥39॥

अर्थ–मैं परम वीतराग चारित्र स्वरूप हूँ।

भावार्थ–निश्चय चारित्र अर्थात् वीतराग चारित्र। वीतराग चारित्र कर्मोपशम से 11वें व क्षय से 12वें गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है किन्तु यह शुद्ध अवस्था में ही होता है। यह परम वीतराग चारित्र सिद्धों में होता है। वही आत्मा में आत्मा की लीनता जो शाश्वत है, अनंत काल के लिए है वही जीव का स्वभाव है। वह परम आचार अथवा परम वीतराग चारित्र रूप जीव है।

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक् शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरः कर्मयुक्तो विमुक्तेः।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः
तं वंदेऽहं समरससुधासिन्धुकाराशशांकम्॥262॥–नि.सा./ता.वृ.

जो अनुपम महिमा का धारक है, जिसने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को नष्ट कर दिया है, जो संसार सम्बन्धी सुख को करने वाला है एवं कर्मों से रहित है, ऐसा जो आत्मा मोक्ष के मूलकारण निरतिचार चारित्र में स्थित रहता है वह आचार की राशि है। मैं समरस रूप अमृत के समुद्र को बढ़ाने के लिए पूर्ण चंद्र के समान उस शुद्ध आत्मा की वंदना करता हूँ।

जो इस लोक संबंधी समस्त कार्यों को छोड़ देता है, संसारवर्द्धक समस्त व्यापारों का त्यागकर इंद्रिय विषयों से पराङ्मुख होकर निश्चय प्रतिक्रमण, आलोचना, ध्यान आदि को करता है वह तपस्वी ही स्वस्वरूप में विश्रान्ति रूप परम वीतराग चारित्र को प्राप्त करता है। कहा भी है–

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि॥152॥–नि.सा.

जो साधु निश्चय चारित्र रूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करता है वह उसी के द्वारा वीतराग चारित्र में स्थित रहता है।

अतः हे तत्त्ववेत्ता! उस स्वभाव रूप परम वीतराग चारित्र की प्राप्ति के लिए प्रथमतः व्यवहार से षट् आवश्यक प्रतिक्रमण आदि करो पुनः आत्मलीनता वा आत्मध्यान रूप प्रतिक्रमणादि श्रेष्ठ क्रियाएँ करो। संसार के सर्व संकल्प-विकल्पों का त्यागकर उसी श्रेष्ठ परम वीतराग चारित्र की प्राप्ति को अपना परम लक्ष्य बनाओ।

णिव्वियप्प-सुद्धणिच्छयज्झाण सरूवो हं॥40॥

अर्थ–मैं निर्विकल्पशुद्धनिश्चय ध्यान स्वरूप हूँ।

भावार्थ–ध्यान के चार भेद हैं–आर्त्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के उपचार से ध्यान कहा है। उनके ध्यान नहीं होता, उनके तो ध्यान का संस्कार होता है। उनका अशुभ उपयोग ही रहता है। प्रवृत्ति सामान्यतया कर्म के उदय से अनुस्यूत होती है। अतः पूर्वसंस्कारवशात् उपचार से आर्त्त व रौद्र ध्यान कहा जाता है। यहाँ उपचार या पूर्व संस्कार कहा क्योंकि **'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्'** चित्त का एकाग्रचित्त होना ध्यान है किन्तु वहाँ तो चित्त ही नहीं है। उन असंज्ञी जीवों के जो इन्द्रियों से परिणति हो रही है वह आर्त्त व रौद्र ध्यान रूप संभव है।

ये आर्त्त व रौद्र ध्यान नियम से संसारवर्द्धक हैं और धर्म व शुक्ल ध्यान संसार का क्षय करने वाले हैं।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि॥151॥–नि.सा.

जो मुनि धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है–लीन है वह अन्तरात्मा है और जो धर्मध्यान-शुक्लध्यान से रहित है वह बहिरात्मा है, ऐसा जानो।

अहो तत्त्ववेत्ता! परमात्मा होने के लिए सर्वप्रथम अन्तरात्मा होना आवश्यक है। कहा भी है–

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥4॥–स.तं.

सर्व शरीरधारी जीवों में पृथक्-पृथक् रूप से चेतन आत्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार तीन प्रकार की है। उनमें से अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए और बहिरात्मा का त्याग करना चाहिए।

अतः बहिरात्मा के होने वाले आर्त्त व रौद्रध्यान का सर्वथा त्याग करो। तत्त्वज्ञ-वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग होने पर दुःखी नहीं होते, वे जानते हैं ''मुझे मेरे ही कर्म का फल मिलेगा। किसी के कर्म का फल मैं नहीं भोगूँगा और अन्य कोई मेरे कर्म का फल नहीं भोगेगा।'' अतः वे वियोग-संयोगादि दशाओं में दुःखी नहीं होते, समत्व भाव धारण करते हैं।

अहो तत्त्ववेत्ता! धर्मध्यान व शुक्लध्यान रूपी अमृत में लीन रहने वाले अन्तरात्मा की शरण प्राप्त करो यह मात्र शुद्ध निश्चय ध्यान की अवस्था को प्राप्त करने का कारण है।

बहिरात्मान्तरामेति, विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष, संसार रमणीप्रियः॥261॥–नि.सा./ता.वृ.

बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों ही विकल्प हैं जो कि कुबुद्धि जीवों के होते हैं, संसार रूपी वनिता को प्रिय लगने वाले यह दोनों ही विकल्प सुबुद्धि जीवों के नहीं होते।

अहो! विकल्प युक्त दशा जीव का स्वभाव नहीं है। तब भी यह जीव पता नहीं अतीत के, भविष्य के अनेक विकल्पों से घिरा रहता है। अरे! संसार के समस्त विकल्पों का त्याग करो, कल क्या होगा, इतने वर्ष बाद क्या होगा? यह सब चेष्टाएँ, विकल्प बुद्धिमानों के नहीं होते।

हे पुण्य पुरुष! निर्विकल्प शुद्ध निश्चय ध्यान ही तुम्हारा स्वरूप है। यह अक्षय, अनंत निर्विकल्प ध्यान सिद्धों में होता है। निश्चय ध्यान का लक्षण बताते हुए सिद्धांति देव आचार्य नेमिचंद्र स्वामी ने कहा है–

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥56॥ –द्र.सं.

शरीर से चेष्टा न करो, मुँह से कुछ भी न बोलो, मन से कुछ भी मत सोचो जिससे आत्मा, आत्मा में स्थिर होकर लवलीन हो यही उत्कृष्ट ध्यान है।

कर्म रहित शुद्ध आत्मा में शुद्धात्मा की लीनता ही जीव का स्वभाव है। उसकी प्राप्ति का उपाय कहते हैं–

मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्तझाणप्पसिद्धीए।48॥–द्र.सं.

अनेक प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिए यदि चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो।

सुद्धणिच्छयतवभाव-सरूवो हं॥41॥

अर्थ–मैं शुद्धनिश्चय तप भाव स्वरूप हूँ।

भावार्थ–तप का अर्थ है–इच्छा निरोध। इच्छाओं का निरोध कर योगी व्यवहार में सराग चारित्र के साथ रह सकता है या रहता है, वह बारह प्रकार के तपों का पालन भी करता है किन्तु यह व्यवहार तप मेरा स्वरूप नहीं है। निश्चय अर्थात् आत्मा में आत्मा की लीनता। निश्चय तप में व्यवहार तप का अन्तर्भाव हो ही जाता है किन्तु व्यवहार में निश्चय नहीं आता।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम्हारा स्वरूप इच्छाओं के जाल में फँसे रहना नहीं है। इच्छाओं का जाल आत्मा को कसकर उसे संसार में डुबा देता है। यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। बाहर की इच्छाओं को रोकना, इंद्रियों का दमन करना व्यवहार तप है, जो आत्मस्वरूप से पृथक् है। यह नहीं चाहिए, वह नहीं

चाहिए, यह तो व्यवहार तप है। जहाँ चाहिए और नहीं चाहिए का व्यवहार ही नहीं है वह निश्चय तप है। आत्मा में लीनता रूप निश्चय तप है। शुद्ध आत्मलीनता रूप ही शुद्ध जीव है।

यह शुद्धनिश्चय तप शुद्धात्मा, सिद्धों को ही होता है। वही सिद्धों में रहने वाला शुद्ध निश्चय तप मेरा स्वरूप है, उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिए मैं निज आत्म तत्त्व का चिंतन करता हूँ।

अहमात्मा सुखाकांक्षी, स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा, भावयामि मुहुर्मुहु:।।207।।–नि.सा./ता.वृ.

क्योंकि मैं आत्मा हूँ और आत्मसुख का इच्छुक हूँ, अत: आत्मा के द्वारा आत्मा में ही स्थित होकर जन्म-मरण से रहित अपने आत्मा का बार-बार चिन्तवन करता हूँ।

सव्वपरमसरूवो हं।।42।।

अर्थ–मैं सर्व परम स्वरूप हूँ।

भावार्थ–परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम। जीव की सबसे उत्तम, उत्कृष्ट अवस्था ही मेरा स्वरूप है। जीव की पाँच परम अवस्थाएँ कही गई हैं–अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु। इनमें आचार्य, उपाध्याय व साधु कर्म सहित हैं। अरिहंत चार घातिया कर्मों से रहित व चार अघातिया कर्मों से सहित हैं। अत: ये चारों जीव की शुद्ध व सर्वपरम अवस्था नहीं हैं क्योंकि जब तक आत्मा के साथ एक भी कर्म लगा है, आत्मा में एक भी कर्म शेष है तब तक वह आत्मा शुद्धात्मा नहीं है, वह आत्मा की परम अवस्था नहीं है।

सिद्ध सर्व कर्मों से रहित होते हैं। एक भी कर्म उनकी आत्मा में नहीं है।

णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति।।72।।–नियमसार

जिन्होंने अष्ट कर्मों के बन्ध को नष्ट कर दिया है, जो अष्ट गुणों से सहित हैं, उत्कृष्ट हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं और नित्य हैं वे सिद्ध परमेष्ठी हैं।

त्रिभुवन के तिलक और मुक्ति रूप वल्लभा के स्वामी सिद्ध हैं, वह सिद्ध रूप ही जीव की सर्व परम अवस्था है इसके पश्चात् कोई अवस्था जीव की शेष नहीं है। वही सर्वपरम अवस्था इस आत्मा का स्वरूप है।

जारिसया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण।।47।।–नि.सा.

जैसे सिद्ध आत्मा है वैसे ही संसारी जीव भी हैं, क्योंकि ये सभी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित हैं और अष्ट गुणों से अलंकृत हैं।

एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा॥49॥–नि.सा.

जीवों के सभी भाव व्यवहार नय की अपेक्षा कहे हैं, शुद्ध नय की अपेक्षा संसार में रहने वाले सभी जीव सिद्धों जैसे स्वभाव वाले हैं।

शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा मुक्त व संसार में कोई विशेषता नहीं है। अहो तत्त्ववेत्ता! उन सिद्धों के समान सर्व परम स्वरूप तुम हो। तब तुम्हारे सौम्य परम स्वभाव से विपरीत असत् चेष्टाएँ, असभ्य व्यवहार, अहितकारी वचन तुम पर शोभायमान नहीं होते। इन सबको छोड़ो, निरन्तर साधना को वृद्धिंगत करने का प्रयास करो एवं सदा याद रखो तुम सिद्धों के समान सर्व परम स्वरूप हो, बार-बार इसका चिंतन करो।

णिच्छयभेय-विण्णाण-सरूवो हं॥43॥

अर्थ–मैं निश्चय भेदविज्ञान स्वरूप हूँ।

भावार्थ–विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान। जो सामान्य जीवों के नहीं पाया जाता वह विशिष्ट ज्ञान है। क्षायोपशमिक ज्ञान सामान्य जीवों के होता है। क्षायिक ज्ञान विशिष्ट है वह विशिष्ट जीवों के होता है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। विशिष्ट केवलज्ञान विज्ञान है। कर्म क्षय से प्राप्त होने के कारण यह क्षायिक ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है।

जीव निश्चय भेदविज्ञान स्वरूप है। भेदविज्ञान का अर्थ है आत्मा व अनात्मा की पृथक्-पृथक् अनुभूति। अर्थात् भेद विज्ञान का अनुभव करने वाला मैं अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला हूँ। यद्यपि चौथे गुणस्थान में भी भेद विज्ञान का अनुभव होता है किन्तु चौथे गुणस्थान का भेदविज्ञान, सप्तम गुणस्थान का भेद विज्ञान, चौदहवें गुणस्थान का भेदविज्ञान इन सबमें अंतर है। ये सभी पूर्ण शुद्ध भेदविज्ञान नहीं हैं। चौथे गुणस्थान के भेदविज्ञान का अनुमानतः अनुभव है वह प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है क्योंकि चारित्र मोहनीय की सर्व प्रकृतियाँ ज्यों की त्यों स्थित हैं।

सप्तम गुणस्थान में सर्वघाति प्रकृतियों का उपशमादि हो जाता है, देशघाति का उदय होता है। इस सप्तम गुणस्थान में तत्त्वावलोकन, भेद विज्ञान, आत्मलीनता व निर्विकल्प ध्यान है, इन सबका यहाँ से प्रारम्भ है। चौदहवें गुणस्थान में भेदविज्ञान उच्चकोटि का है, चार घातिया कर्मों का क्षय कर दिया चार अघातिया कर्म शेष हैं अतः वहाँ निजात्मानुभव सिद्धों से किंचित् न्यून है। यद्यपि चार घातिया कर्मों के क्षय से जो प्रकट हुए हैं वे चार गुण अत्यन्त निर्मल हैं उन्हें मलिन करने

का कोई कारण शेष नहीं है। किन्तु जो चार अघातिया कर्म शेष हैं उनके कारण गुण पूर्ण निर्मलता को प्राप्त नहीं कहे जा सकते क्योंकि चार गुणों के होने पर व चार कर्म जनित दोषों के रहने पर उनकी पूर्णता सिद्ध नहीं होती।

उनकी पूर्णता सिद्ध होती है सिद्धों में। वह निश्चय भेदविज्ञान जो सिद्धों में होता है वही मेरा स्वभाव है।

रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदविज्ञानं।। –प्र.सा/ता.वृ.

रागादि भिन्न यह स्वात्मोत्थ सुखस्वभावी आत्मा है। ऐसा भेदविज्ञान होता है।

णाहं देहो ण मणो, ण चैव वाणी ण कारणं तेसिं।

कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्ताणं।।160।।–प्र.सा.

मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और कर्त्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

अहो! यही भेदविज्ञान रूप मेरा स्वरूप है। इस स्वरूप की प्राप्ति हेतु मैं समस्त विकारी भावों को छोड़ता हूँ, पुनः संयम में और अधिक दृढ़ होता हूँ।

परमवीयदोसो हं।।44।।

अर्थ–मैं परम वीतद्वेषी हूँ।

भावार्थ–मोहनीय कर्म के दो भेद हैं–दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं। मुख्यता से इसी में राग-द्वेष का अन्तर्भाव होता है। चारों प्रकार का लोभ व माया राग रूप होती है तथा चारों प्रकार का क्रोध व मान द्वेष रूप होता है। अन्य नौ नोकषायों में कुछ कषाय राग रूप हैं व कुछ कषाय द्वेष रूप हैं।

जहाँ-जहाँ राग होता है वहाँ-वहाँ द्वेष नियम से होता है। इसी राग-द्वेष के कारण जीव संसार में दुःखों को भोगता है। हे तत्त्वज्ञानी! तुम किससे द्वेष करते हो? पूर्वभव में जो पुत्र प्राणों से प्यारा था, जिसके प्रति गाढ़ स्नेह था यदि आज कारणवश शत्रु बनकर सामने आ गया तो इतना द्वेष उसके प्रति हो जाता है कि उसके प्राण हरने को तैयार हो जाते हो। अरे! ये द्वेष करना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। आज जो तुम्हें इष्ट रूप लग रहा है कल वही तुम्हारे प्रतिकूल हो जाए तो द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् परिणति है तुम उसमें द्वेषादि का भाव कर क्यों स्वयं की आत्मा को कष्ट देते हो।

यथार्थ तो यही है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, द्रव्य अथवा पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं होता, वह तो जैसा है वैसा है। तब उनमें राग- द्वेष रूप परिणाम क्यों करते हो? हे पुण्य पुरुष! तुम्हारा स्वभाव

द्वेषादि रूप परिणाम करना नहीं है। तुम तो परम वीतद्वेष स्वरूप हो। जीव की वह शुद्ध अवस्था जहाँ कर्मों का नाश हो जाने से परम समत्व का अमृत रस प्रतिपल बरसता है, जहाँ द्वेष का अंश भी नहीं, वही तुम्हारा स्वरूप है उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

उस द्वेषादि पर विजय कैसे प्राप्त की जाती है उसका उपाय बताते हुए कहते हैं–

यदा मोहात्प्रजायेते, रागद्वेषौ तपस्विनः।

तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥ 39॥–स.तं.

जिस समय तपश्चरण करने वाले साधु के हृदय में मोहनीय कर्म के उदय से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, उसी समय अपने आत्मा को बाह्य विषयों से हटाकर अपने में स्थिर करे वा स्थिर कर आत्मा के स्वरूप की भावना करे तो क्षणभर में रागद्वेष शांत हो जाते हैं, उपशम भाव को प्राप्त हो जाते हैं। आत्म स्वरूप के चिन्तन से ही रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं।

हे तत्त्ववेत्ता! व्यक्ति हो या वस्तु, गृह हो या दुकान, स्वजन हो या परिजन, अनुकूल परिस्थिति हो या प्रतिकूल, अच्छा मौसम हो या तुम्हारे प्रतिकूल, स्थानादि कैसा भी हो किन्तु उनमें द्वेष नहीं करना। किसी के प्रति द्वेष, बैर या शत्रुता का भाव हो तो उसे आज ही नष्ट कर दो। तुम टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी आत्मा हो, वीतद्वेषी हो, द्वेष करना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। अतः सर्व प्रकार से द्वेष भाव को छोड़कर वीतद्वेष स्वरूपी निज आत्मतत्त्व का मुहुर्मुहु चिन्तन करो।

णाण-दंसणाइ-अणंतगुणपुंजो हं॥45॥

अर्थ–मैं ज्ञान, दर्शन आदि अनंत गुणों का पुंज हूँ।

भावार्थ–आत्मा में ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख आदि अनंत गुण हैं। ये ज्ञान, दर्शनादि गुण आत्मरूप हैं। ये संपूर्ण आत्मा में व्याप्त हैं अर्थात् आत्मा का एक भी अंश ऐसा नहीं जो ज्ञानादि से रहित हो और उससे बाह्य भी इनकी स्थिति नहीं। **'सहभुवो गुणः'** गुण सदैव द्रव्य के साथ होते हैं। पर्यायें क्रम से होती हैं किन्तु गुण क्रम से नहीं होते। जैसे जल व उसकी शीतलता, अग्नि व उसकी ऊष्णता, घी व उसकी चिकनाई अलग-अलग नहीं है उसी प्रकार आत्मा व उसके गुण अलग-अलग नहीं हैं।

अहो! मैं अखंड, अमूर्तिक, शक्तिस्वरूप, अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व, सम्यक्त्व आदि अनंत गुणों का पुंज हूँ। संसारी आत्मा कर्म के कारण दोषयुक्त है। जिन्होंने सर्व कर्मों का क्षय कर दिया वे अनंत गुणों से युक्त हैं, एक भी दोष उनकी आत्मा में नहीं है। हे तत्त्ववेत्ता! यही अनंत गुण रूप तुम हो, तुम गुणों का पुंज हो तब अवगुणों को, दोषों को क्यों ग्रहण करते हो, उनकी ओर क्यों आकृष्ट होते हो? सर्व दोषों का परित्याग करो, जो भी दोष स्वयं

के अंदर प्रतीत होता है उसको छोड़ने का अभ्यास करो। क्रोध यदि अधिक आता हो तो उसको त्यागो, मान हो तो उसे त्यागकर विनम्र बनो, समत्व भाव धारण करो। सदैव याद रखो तुम अनंत गुणों के पुंज हो। अरे! ज्ञानावरणादि कर्मों ने तुम्हारी आत्मा को ठग लिया है। निर्दोष, सलौनी होने के बाद भी उसे दोष युक्त, कलंकित बना दिया है।

तुम निष्कलंक, निर्दोष, नि:संग, नि:स्पृह, निर्विकार, नि:शल्य, निर्वेद, निर्मोह, निष्पाप, निष्कल हो। तुम अनंत गुणों के पुंज हो। हे अनंत गुणवान्! अपने स्वरूप के समान सदैव गुणग्राही दृष्टि रखो, गुणों को धारण करो, गुणी बनो। सर्वदा अनंतगुण युक्त निज आत्मतत्त्व का चिन्तन करो।

पासत्थ-सिहिलायार-रहिदो हं॥46॥

अर्थ–मैं पार्श्वस्थ शिथिलाचार से रहित हूँ।

भावार्थ–पार्श्वस्थ का अर्थ होता है जो वह स्वयं न हो उसके समीप में रहना। मुनि के भेदों में पार्श्वस्थ एक भेद दिया है। वे पार्श्वस्थ मुनि शुद्ध संयमी नहीं होते, संयम के निकट या पार्श्वस्थ होते हैं। मैं पार्श्वस्थ नहीं हूँ, मैं चैतन्यस्वरूपी हूँ, चेतना हूँ।

पुन: कहा शिथिलता। वह शिथिलता भी मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव आत्मलीनता है। यथाख्यात चारित्र के उपरान्त जो शाश्वत आत्मलीनता है वही मेरा स्वभाव है। अपनी शुद्ध आत्मा के बाहर जो भी जा रहा है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है। जो बाह्य है वह सब पार्श्वस्थ के समान है। जो संयम में शिथिल है वह पार्श्वस्थ है। अथवा जो संयमी होते हुए भी, निर्ग्रन्थ व भाव संयमी होते हुए भी यदि अपनी आत्मा से बाहर है, प्रमत्त संयमी है, आत्मलीन नहीं हैं तो वे भी पार्श्वस्थ हैं। वह भी मेरा स्वभाव नहीं है।

जब आत्मा में एक पुद्गल परमाणु भी शेष न हो, आत्मा आत्मा में लीन हो तभी वह शुद्धात्मा कही जाती है। यदि आत्मा में अनात्म रूप कोई भी द्रव्य, भाव, नोकर्म है तो भी वह आत्मा शिथिल आत्मा कहलाती है। मेरा स्वभाव इस प्रकार भी नहीं है।

दिव्वादिव्व-बहिरब्भंतरसंगरहिदो हं॥47॥

अर्थ–मैं दिव्य-अदिव्य बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित हूँ।

भावार्थ–दिव्य अर्थात् अत्यंत विशेष वा दैवीय और अदिव्य अर्थात् सामान्य। बहिर् अर्थात् बहिरंग में दृष्टिगोचर होने वाला और अभ्यन्तर अर्थात् अंतरंग में, अंतर में जीव के अविकारी भाव। संग अर्थात् परिग्रह।

लोभकषायोदयाद्विषयेषु संगः परिग्रहः। –स.सि.

लोभ-कषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं।

ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते।। –रा.वा.

'यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।

परिग्रह को हेय बताते हुए आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि सब दोष परिग्रह मूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं और इसमें हिंसा अवश्यम्भाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में रत होता है। नरकादि में जितने दुःख हैं वे सब इस परिग्रह से उत्पन्न होते हैं।

हिंसापर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।।119।।–पु.सि.

हिंसा के पर्याय रूप होने के कारण अंतरंग परिग्रह में हिंसा स्वयं सिद्ध है और बहिरंग परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चय से प्राप्त होते हैं।

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम्।
तेन स्वाभ्री गतिस्तस्यां, दुःखं वाचामगोचरम्।।16/12।।–ज्ञानार्णव

परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरक गति होती है। उस नरक गति में वचनों के अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।

अतः दुःख के कारणभूत परिग्रह का त्याग करो। इस परिग्रह रूपी पिशाच को शीघ्र ही दूर करो। उस परिग्रह का त्याग आकिंचन्य भावना से ही होता है।

स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्यजिहासया।
न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः।।30।।–आ. अमितगति विरचित योगसार

विद्वानों को चाहिए कि पर पदार्थों के त्याग की इच्छा से आत्मा के स्वरूप की भावना करें क्योंकि जो पुरुष आत्मा के स्वरूप की परवाह नहीं करते वे परद्रव्य का त्याग नहीं कर सकते।

अहो भव्यात्मन्! पर पदार्थों के भोगने की इच्छा का त्याग कर। आकिंचन्य भाव से निज आत्मा में निवास कर। निज आत्म स्वरूप को जानकर प्रशान्त कषायों को भी प्रकट करने में कारणभूत सर्व परिग्रह को छोड़।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम इन दिव्य-अदिव्य बाह्य व अंतरंग परिग्रह से रहित हो। चेतन व अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो।

जो बाहर से ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। चेतना का सब कुछ चेतना के अंदर विद्यमान है। उसका कुछ भी बाहर में नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप है। एक परमाणु ग्रहण करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। परिग्रह चाहे चेतन है या अचेतन, दिव्य है या अदिव्य, बाह्य है या अंतरंग, वह मेरा नहीं है। एक भी कर्म मेरा नहीं है। मेरा स्वभाव सर्व अजीव द्रव्यों से रहित है, मेरा स्वभाव स्वचतुष्टय रूप है। मैं अपने स्वचतुष्टय का ही चिंतन करता हूँ।

हे तत्त्ववेत्ता! पुण्य पुरुष! जानते हो यह सर्व परिग्रह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, तब इन सबसे परे हो जाओ। निःसंग होकर निज संयम का पालन करो।

मुंच परिग्रहवृन्दमशेषम्, चारित्रं पालय सविशेषम्।

कामक्रोधनिपीलन यंत्रं, ध्यान कुरु रे जीव! पवित्रम्।।21।।—वैराग्यमणिमाला

हे भव्य जीव! सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करो और विशेष चारित्र का पालन करो। काम व क्रोध को नष्ट करने वाला ध्यान करो।

हे तत्त्ववेत्ता! संयम धारण किए बिना निज स्वभाव को प्राप्त करना शक्य नहीं है अतः संयम को धारण करो, व्रतों का दृढ़ता से पालन करो। संयम उस ब्रेक के समान है जो तुम्हारी जीवन रूपी गाड़ी को असंतुलित नहीं होने देगा, पतन की ओर जाने से बचा लेगा। तब ऐसे उस संयम को धारण करने से क्यों भयभीत होते हो। अहो भव्य शार्दूल! निर्भीक होकर संसार में परिभ्रमण कराने के कारणभूत कर्मों के नष्ट करने हेतु त्रैलोक्य शिखर पर स्थापित करने के लिए यान के समान उस संयम को धारण करो, निःसंग होकर संयम का पालन करो।

सुद्धजीवत्थिकायसरूवो हं।।48।।

अर्थ—मैं शुद्ध जीवास्तिकाय स्वरूप हूँ।

भावार्थ—अस्ति का अर्थ है अस्तित्व, सत्ता, विद्यमान होना और काय का अर्थ है बहुप्रदेशी होना। जो अस्ति व काय दोनों है वह अस्तिकाय है।

संति जदो तेणेदे, अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।

काया इव बहुदेसा, तम्हा काया य अत्थिकाया य।।24।।—द्र.सं.

जो द्रव्य अस्ति अर्थात् विद्यमान हैं, उनको जिनेश्वर देव अस्ति कहते हैं और जो काय के समान बहुप्रदेशों को धारण करते हैं उनको काय कहते हैं। अस्ति तथा काय दोनों मिलाने से अस्तिकाय होते हैं।

अस्तिकाय पाँच होते हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश। छः द्रव्यों में से काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि वह अस्ति तो है किन्तु काय नहीं।

चेतन लक्षण से युक्त जीवास्तिकाय है। सर्व कर्मों से रहित अवस्था जीवास्तिकाय का शुद्ध स्वरूप है। वही शुद्ध जीवास्तिकाय स्वरूप मैं हूँ। जीवास्तिकाय का लक्षण बताते हुए कहते हैं–

जीवो त्ति हवदि चेदा, उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो, ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥27॥ –पंचास्तिकाय

जीवात्मा चेतयिता है, (ज्ञान व दर्शन) उपयोग लक्षण वाला है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देहप्रमाण है, अमूर्त्त है और कर्मों से युक्त है। (इस गाथा में संसार दशा वाले आत्मा का सोपाधि और निरुपाधि स्वरूप कहा गया है।)

आत्मा निश्चयनय से भाव प्राणों को और व्यवहार नय से द्रव्य प्राणों को धारण करता है इसलिए जीव है। आत्मा निश्चय से चित्स्वरूप होने के कारण 'चेतयिता' है, व्यवहार से चित् शक्तियुक्त होने से चेतयिता है। निश्चय से अपृथग्भूत ऐसे चैतन्य परिणाम स्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से उपयोग लक्षित है। व्यवहार से पृथग्भूत ऐसे चैतन्य परिणाम स्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से उपयोग लक्षित है।

निश्चय से भावकर्मों के आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं समर्थ होने से प्रभु है, व्यवहार से द्रव्यकर्मों के आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश होने से प्रभु है।

निश्चय से पौद्गलिक कर्म जिनका निमित्त हैं ऐसे आत्म परिणामों का कर्तृत्व होने से 'कर्ता' है, व्यवहार से आत्म परिणाम जिनका निमित्त हैं ऐसे पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता होने से 'कर्त्ता' है। निश्चय से शुभाशुभ कर्म जिनका निमित्त हैं ऐसे सुख-दु:ख परिणामों का भोक्तृत्व होने से 'भोक्ता' है, व्यवहार से शुभाशुभ कर्मों से सम्पादित (प्राप्त) इष्टानिष्ट विषयों का भोक्तृत्व होने से भोक्ता है।

निश्चय से लोक प्रमाण होने पर भी, विशिष्ट अवगाह परिणाम की शक्ति वाला होने से नामकर्म से रचे जाने वाले छोटे-बड़े शरीर में रहता हुआ व्यवहार से देह प्रमाण है। व्यवहार से कर्मों के साथ एकत्व परिणाम के कारण मूर्त होने पर भी निश्चय से अरूपी स्वभाव वाला होने के कारण अमूर्त है। निश्चय से पुद्गल परिणाम के अनुरूप चैतन्य परिणामात्मक कर्मों (भावकर्म) के साथ संयुक्त होने से कर्म संयुक्त है, व्यवहार से चैतन्य परिणाम के अनुरूप पुद्गल परिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से ''कर्म संयुक्त'' है।

अहो तत्त्ववेत्ता! सर्व कर्मोपाधि से रहित तुम शुद्धजीवास्तिकाय रूप हो। जिस प्रकार सिद्धों का स्वरूप है वही तुम्हारा स्वरूप है। उसी अपने शुद्ध जीवास्तिकाय स्वरूपी आत्मस्वरूप का मैं चिंतन करता हूँ।

तिदियाहियारो

परमबंभो हं॥1॥

अर्थ–मैं परम ब्रह्म हूँ।

भावार्थ–''जीवो बंभो'' जीव ब्रह्म है। जीव की कर्मोपाधि से रहित शुद्ध अवस्था परम ब्रह्म है और वही जीव का स्वभाव है।

''आत्मा ब्रह्मविविक्तबोधनिलयो' –पं.वि.

ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा है।

अहो तत्त्ववेत्ता! निर्मल ज्ञान स्वरूप होने से तुम परम ब्रह्म हो। वृहद् द्रव्य संग्रह की टीका में भी कहा है–**परमब्रह्मसंज्ञनिज- शुद्धात्मभावनासमुत्पन्न सुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भा-तिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते।**

परम ब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रम्भा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हो सका अतः वह 'परम ब्रह्म' कहलाता है।

हे पुण्य पुरुष! पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इन त्रयोदशविध चारित्र को धारण करो, उसका पालन करो। ये तेरह प्रकार का चारित्र भी ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि वह शान्ति के पोषण का हेतु है।[1] अतः उस परम ब्रह्म अवस्था रूप निज स्वरूप की प्राप्ति के लिए उस व्रत अर्थात् चारित्र का पालन करो। सर्व प्रकार के दुराचार, मैथुनभावादि को छोड़कर अपने परम ब्रह्म स्वरूप आत्म तत्त्व का चिंतन करो।

परमतच्चं हं॥2॥

अर्थ–मैं परम तत्त्व हूँ।

भावार्थ–''तद्भावस्तत्त्वम्'' जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है। जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित होता है उसका उस रूप होना तत्त्व है।

तत्त्व सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥8॥–पं.ध.

1. ब्रह्मचारित्रं पंचव्रत-समिति-त्रिगुप्त्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्॥ –ध.9

तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। जिस कारण से वह स्वभाव से ही सिद्ध है, इसलिए यह अनादिनिधन है, वह स्वसहाय है और निर्विकल्प है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम परम तत्त्व स्वरूप हो। तत्त्व का अर्थ है स्वभाव। कर्मोपाधि से युक्त संसारी जीव के विभाव स्वभाव है और कर्मोपाधि से रहित, समस्त कर्मों से हीन जीव के शुद्ध स्वभाव है। इस जीवात्मा का तत्त्व, मात्र जीवंतता नहीं बल्कि आत्मा के शुद्ध गुणों को भोगना भी है, वह आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। उस शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है। पुरुषार्थपूर्वक आत्मा की सहजावस्था तक पहुँचना है, आत्मा की परम शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है।

परम तत्त्व अर्थात् परम जीवत्व शक्ति, आत्मा की शुद्धावस्था। शुद्ध निश्चय नय से यह आत्मा परम तत्त्व से युक्त है।

उत्तम-गुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो॥204॥–कार्तिकेयानुप्रेक्षा

जीव ही उत्तम गुणों का धाम है, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वों में परम तत्त्व है, यह निश्चय से जानो।

सात तत्त्वों में उत्कृष्ट होने से यह आत्मा परम तत्त्व है। उस परम तत्त्व रूप आत्मा की स्तुति करते हुए कहते हैं–

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं,
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम्।
विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं,
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः॥177॥–नि.सा./ता.वृ.

जो स्वभाव से ही उत्कृष्ट है, सातों तत्त्वों में निर्मल है, सम्पूर्ण निर्मलज्ञान का स्थान है, आवरण रहित है, मंगल रूप है, अत्यन्त उज्ज्वल है, नित्य है, बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख है और मुनियों के भी मन तथा वचन से दूर है मैं उस शुद्ध आत्मतत्त्व की स्तुति करता हूँ।

हे तत्त्ववेत्ता! परम तत्त्व रूप निज शुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिए समस्त बाह्य प्रपंचों से दूर हो जाओ। यदि बाहर आंधी चल रही हो तब चूल्हे की रक्षा के लिए आंधी को नहीं रोका जाता अपितु अपना चूल्हा ढाँका जाता है। इसी प्रकार संसार में अनादिकाल से जैसा चल रहा था, वैसा ही चल रहा है और अनंतकाल तक वैसा ही चलता रहेगा। अतः संसार को परिवर्तित करने का प्रयास मत करो, निज परिणति को बदलो। संसार के समस्त झंझटों से स्वयं को दूर करो। निज परिणामों को विशुद्ध कर आत्मतत्त्व का चिंतन करो।

परमगुरू हं॥3॥

अर्थ–मैं परम गुरु हूँ।

भावार्थ–गुरु शब्द का अर्थ है जो गुणों में भारी हो। 'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार और 'रु' का अर्थ है उसे नष्ट करने वाला। आत्मा ही अपने अज्ञान, मोह आदि रूप अंधकार को नष्ट करने में समर्थ है अतः वह आत्मा ही आत्मा का गुरु है।

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हि प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥34॥–इष्टोपदेश

वास्तव में आत्मा का गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही सदा मोक्ष की अभिलाषा करता है, मोक्ष सुख का ज्ञान करता है और स्वयं ही उसे परम हितकर जान उसकी प्राप्ति में अपने को लगाता है।

शुद्ध निश्चय नय से मैं आत्मा के सर्व स्वाभाविक उत्कृष्ट गुणों से युक्त हूँ, गुणों से भारी हूँ, मैं ही स्वयं आत्मा को परम अवस्था में स्थापित करने वाला हूँ अतः मैं ही परम गुरु हूँ।

निर्जरादिनिदानं यः, शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति, तद्वानात्मा परं गुरुः॥628॥–पं.ध.

वास्तव में आत्मा का शुद्धभाव ही निर्जरादि का कारण है वही परम पूज्य है और उस शुद्ध भाव से युक्त आत्मा ही परम गुरु कहलाता है।

हे तत्त्ववेत्ता! तुम स्वयं परम गुरु हो। गुरुजनों की चेष्टाएँ, वचनादि लघु नहीं होते, वे गाम्भीर्य से युक्त होते हैं। स्वयं सद्मार्ग पर चलते हुए दूसरों को भी सद्मार्ग पर चलाने वाले होते हैं। तब तुम इन सब गुणों को स्वयं में धारण करो। मृदुभाषी, अल्पभाषी, भद्र, आचरण में दृढ़, विशुद्ध बनो। इन गुणों की गुरुता तुम्हें तुम्हारी परम गुरु अवस्था प्राप्त कराने में सहायक होगी। प्रत्येक कार्य से पूर्व विचार करो 'मैं परम गुरु हूँ'। यह चिंतन तुम्हें संसार वर्द्धक कार्यों से पराङ्मुख करने में भी सहायक होगा।

परमज्झाणं हं॥4॥

अर्थ–मैं परम ध्यान हूँ।

भावार्थ–चित्त का एकाग्र होना ध्यान है। **'चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्।'** चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है। चित्त का एकाग्र हो जाना व्यवहार ध्यान है और आत्मा का आत्मा के लिए अनंतकाल के लिए लीन हो जाना निश्चय ध्यान है। वह ध्यान किसके होता है उसे कहते हैं–

जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहदहणो झाणमओ जायए अग्गी॥146॥–पं.का.

जिसे मोह और रागद्वेष नहीं है तथा मन, वचन, काय रूप योगों के प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।

सर्वकर्मों का क्षय हो जाने से आत्मा की आत्मा में स्थिरता ध्यान कहलाती है। आत्मा ध्यान से और ध्यान आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा ही ध्यान व ध्यान ही आत्मा है। आत्मा ही ध्यान है, आत्म ही ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है। अत: तीनों अभेद होने से आत्मा परम ध्यान स्वरूप है।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥74॥–तत्त्वानुशासन

क्योंकि आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए, अपने-अपने आत्म हेतु से ध्याता है इसलिए कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणत आत्मा ही निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान स्वरूप है।

''**जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वभेद न जहाँ**''-जहाँ कोई भेद नहीं है, विकल्प नहीं है वही सिद्धों की दशा मेरा स्वरूप है।

परमदंसणं हं॥5॥

अर्थ–मैं परम दर्शन हूँ।

भावार्थ–जिसके द्वारा देखा जाए अर्थात् अवलोकन किया जाए उसे दर्शन कहते हैं। आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं और वर्तन अर्थात् वृत्ति को आत्मा की वृत्ति कहते हैं अर्थात् वेदन रूप व्यापार को आलोकन वृत्ति या स्वसंवेदन कहते हैं और उसी को दर्शन कहते हैं।[1] अथवा अंतरंग उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। बाह्य अर्थ का ग्रहण होने पर जो विशिष्ट आत्म स्वरूप का वेदन होता है वह दर्शन है।[2]

अहो! मैं ही दर्शन हूँ। आत्मा और दर्शन अलग-अलग नहीं हैं। दर्शन आत्मा प्रमाण है और आत्मा दर्शन प्रमाण है। मेरे परम दर्शन है। परम दर्शन का अर्थ है सिद्धों में जो दर्शन है वही दर्शन मेरा स्वभाव है। मैं उस परम उत्कृष्ट दर्शन स्वभावी हूँ। अथवा आत्मा का आत्मभूत लक्षण होने से मैं ही दर्शन हूँ।

1. धवला जी 1; 2. धवला जी 11

एवंभूतनयवक्तव्यवशात्-दर्शनपर्यायपरिणतात्मैव दर्शनम्॥–रा.वा.

एवंभूत नय की अपेक्षा दर्शन पर्याय से परिणत आत्मा ही दर्शन है। अत: मैं शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा सिद्धों में पाए जाने वाला उत्कृष्ट परम दर्शन हूँ।

परमणाणं हं॥6॥

अर्थ–मैं परम ज्ञान हूँ।

भावार्थ–जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाए और जानना मात्र ज्ञान है। सामान्य ज्ञान के मत्यादि सात भेद तो स्पष्ट हैं ही और केवल ज्ञान के दो भेद कहे जा सकते हैं। संसार दशा में सयोग व अयोगकेवली अर्थात् अरिहंतों के पास होने वाला केवलज्ञान तथा सर्व कर्मों से रहित सिद्धों में होने वाला केवलज्ञान वा परमज्ञान। अरिहंतों के पास जो केवलज्ञान है उसके साथ अघातिया कर्म शेष रहते हैं। कर्मों के साथ रहने से वह ज्ञान परम नहीं कहा जा सकता। सम्पूर्ण कर्मों के नि:शेष होने पर वह ज्ञान परमज्ञान कहलाता है।

हे तत्त्ववेत्ता! यही परमज्ञान रूप तुम्हारी आत्मा का स्वरूप है। तुम परमज्ञान स्वभावी हो। ज्ञान और आत्मा अलग-अलग नहीं है। अत: मैं ज्ञान स्वभावी हूँ।

एवंभूतनयवक्तव्यवशात् ज्ञान दर्शनपर्यायपरिणतात्मैव ज्ञानं दर्शनं च तत्स्वभाव्यात्॥ –रा.वा. 1/1

एवंभूत नय की दृष्टि में ज्ञान क्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानस्वभावी है।

अत: शुद्ध निश्चय नय से मेरी आत्मा ज्ञानावरणादि सर्व कर्मों से रहित होने से परमज्ञान स्वरूप है। तब उसी परम दशा की प्राप्ति हेतु मैं समस्त अज्ञान भावों को, अज्ञानयुक्त चेष्टाओं को छोड़कर स्वसमय में स्थिर होता हूँ। परमज्ञान रूप मैं निज स्वरूप का पुन:-पुन: चिन्तन करता हूँ।

परमसुहं हं॥7॥

अर्थ–मैं परम सुख हूँ।

भावार्थ–सुख जीव का स्वभाव है। संसारी प्राणी के होने वाला सुख वैभाविक सुख है अथवा सुखाभास है। मोहनीय कर्म का उदय रहते हुए सच्चे सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। मोहनीयादि घातिया कर्म के क्षय होने पर अनंत सुख होता है। वैरागी, संयमी के पास सच्चे सुख का मार्ग है। हे तत्त्ववेत्ता! इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख, दु:ख ही है। जैसे अग्नि से गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्य पर गिर जावे तो वह उसकी जलन से दु:खी होता है, उसी प्रकार जीव स्वर्ग के सुख रूप बंध को प्राप्त होता है। अर्थात् स्वर्ग ऐन्द्रियक सुख वास्तव में दु:ख ही है।[1]

1. प्र.सा./ता.वृ./11, 63

सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।76।। –प्र.सा.

जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सुख परसम्बन्ध युक्त, बाधा सहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है, इस प्रकार वह दुःख ही है।

अतः इन बाह्य विषयादि में आसक्त मत हो। यह विषय सेवन से उत्पन्न सुखाभास दाद को खुजलाने के समान केवल वेदना का प्रतिकार मात्र है। यह लौकिक सुख तुम्हारी चेतना का स्वभाव नहीं अपितु अतीन्द्रिय सुख, कर्मों के नाश से उत्पन्न हुआ सुख तुम्हारी आत्मा का स्वभाव है। सिद्धों के होने वाला सहज सुख तुम्हारी आत्मा का स्वाभाविक गुण है। सिद्धों का सुख कैसा है तब बताते हैं–

ण वि इंदियकरणजुदा, अवग्गहादीहि गाहया अत्थे।
णेव य इंदिय-सोक्खा, अणिंदियाणंत-णाण-सुहा।।140।।–धवला 1

वे सिद्ध जीव इन्द्रियों के व्यापार से युक्त नहीं हैं और अवग्रहादि क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों का ग्रहण नहीं करते, उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है क्योंकि उनका अनंतज्ञान व सुख अनिन्द्रिय है।

स्वाभाविक शुद्ध आत्म स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा रागादि विभावों से रहित सुख रूपी अमृत का जो एक देश पहले अनुभव किया था उसी के फलस्वरूप अव्याबाध अनंतसुख गुण सिद्धों में कहा गया है।

हे प्रिय चेतना! सिद्धों में पाया जाने वाला यह परम सुख ही तुम्हारी आत्मा का स्वभाव है। आत्मा और सुख अलग-अलग नहीं हैं अतः तुम ही परम सुख हो, ऐसा सदैव चिंतन करो।

परमसत्तिपिंडो हं।।8।।

अर्थ–मैं परम शक्ति पिंड हूँ।

भावार्थ–शक्ति संसार के प्रत्येक प्राणी में पायी जाती है क्योंकि वह आत्मा का अनुजीवी गुण है। अंतराय कर्म का क्षयोपशम होने से अनुजीवी गुण पूर्ण रूप से घात को प्राप्त कभी नहीं होता। सर्व कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की सर्व शक्तियाँ प्रकट होती हैं, उसी अनंत शक्ति रूप मैं हूँ। अहो! मैं चैतन्यात्मा अनंत गुण रूप अनंत शक्तियों का स्वामी हूँ।

जीवत्व शक्ति–जिससे जीव कभी नष्ट नहीं होता, जीता था जीता है व जीता रहेगा उस शक्ति स्वरूप मैं हूँ।

चितिशक्ति–मैं चेतन स्वरूप हूँ।

दर्शन शक्ति–मैं महासत्तावलोकन रूप दर्शन स्वभावी हूँ।

ज्ञान शक्ति–मैं सर्व प्रमेय को जानने रूप ज्ञान स्वभावी हूँ।

सुख शक्ति–मैं आत्मोत्पन्न निराकुल सुख रूप हूँ।

वीर्य शक्ति–मैं अनंतवीर्य स्वभावी हूँ।

प्रभुत्व शक्ति–मैं अनंत महिमावान्, अखंडप्रतापी, स्वातंत्र्यशाली रूप प्रभुत्व शक्ति से युक्त हूँ।

विभुत्व शक्ति–मैं सर्व भावों में व्यापक एक भाव रूप विभुत्व शक्ति से युक्त हूँ।

सर्वदर्शित्व शक्ति–मैं लोकालोक की सत्ता मात्र ग्राहक रूप सर्वदर्शित्व शक्ति से युक्त हूँ।

सर्वज्ञत्व शक्ति–मैं लोकालोक के समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायों के जानने रूप सर्वज्ञ शक्ति स्वरूप हूँ।

स्वच्छत्व शक्ति–समस्त विश्व दर्पणवत् झलकने रूप स्वच्छत्व शक्ति से युक्त हूँ।

प्रकाशत्व शक्ति–मैं स्व-पर प्रकाशी स्वरूप हूँ।

असंकुचित विकाशत्व शक्ति–सर्व गुणों के अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूर्ण रूप में विकसित होने रूप मैं हूँ। वा चेतन के विलास स्वरूप मैं हूँ।

अकार्यत्व शक्ति–मैं अन्य के द्वारा नहीं करने योग्य हूँ।

अकारणत्व शक्ति–मैं अन्य के लिए अकारण रूप हूँ।

परिणम्य शक्ति–मैं परनिमित्तक ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने रूप हूँ।

परिणामकत्व शक्ति–मैं आत्म निमित्तक ज्ञानाकारों के ग्रहण करने रूप हूँ।

त्यागोपादान-शून्यत्व शक्ति–मैं कुछ भी त्यागने व ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ।

अगुरुलघुत्व शक्ति–मैं षट्गुणहानिवृद्धि रूप अगुरुलघुत्व गुण से युक्त हूँ।

उत्पादव्यय ध्रुवत्व शक्ति–मैं क्रम व अक्रम रूप वर्तन करने वाला हूँ।

परिणाम शक्ति–उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से समन्वित सम-विषम रूप मैं हूँ।

अमूर्तत्व शक्ति–मैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित हूँ।

अकर्तृत्व शक्ति–मैं कर्ता नहीं हूँ।

भोक्तृत्व शक्ति–मैं परमाणु मात्र का भी भोक्ता नहीं हूँ।

निष्क्रियत्व शक्ति–पुद्गल संयोग से रहित होने से मैं अक्रियमान् वा निष्क्रिय हूँ।

नियत शक्ति–मैं लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी हूँ।

स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति–मैं परधर्म का अग्राहक हूँ।

साधारण शक्ति–मैं स्वद्रव्य रूप साधारण हूँ।

असाधारण शक्ति–मैं परद्रव्य की अपेक्षा असाधारण स्वभावी हूँ।

साधारणासाधारण शक्ति–मैं स्वद्रव्य रूप साधारण व परद्रव्य की अपेक्षा असाधारण शक्ति युक्त हूँ।

अनंतधर्मत्व शक्ति–मैं अनंत गुण व धर्मों का धारक हूँ।

विरुद्धधर्मत्व शक्ति–मैं निज स्वभाव से तद्रूप व परद्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा अतद्रूप हूँ।

तत्त्वशक्ति–मैं निज स्वभाव से अच्युत हूँ।

अतत्त्व शक्ति–मैं परद्रव्य के स्वभाव को कभी ग्रहण नहीं करता।

एकत्व शक्ति–मैं नाना पर्यायों को प्राप्त करके भी निज स्वभाव से युक्त एक हूँ।

अनेकत्व शक्ति–मैं एक होते हुए भी नाना पर्यायों को प्राप्त करने में समर्थ हूँ।

भाव शक्ति–मैं वर्तमान पर्याय से संयुक्त होता हूँ।

अभाव शक्ति–वर्तमान पर्याय के बिना उस काल में अन्य पर्याय मुझमें नहीं होती।

भावाभाव शक्ति–मुझमें भावी समय में वर्तमान पर्याय का अभाव होता है।

अभावभाव शक्ति–पूर्व समय में न वर्तती पर्याय के उदय रूप मैं हूँ।

भावभाव शक्ति–जो पर्याय होने के लिए समर्थ है, उसका पर्याय रूप होना भावभाव शक्ति है।

अभाव अभाव शक्ति–जो पर्याय होने के लिए शक्य नहीं है उसका पर्याय रूप नहीं होना उस अभाव अभाव शक्ति से मैं युक्त हूँ।

भाव शक्ति–मैं कारकों के अनुसार होने वाली क्रिया से विहीन हूँ।

क्रियाशक्ति–मैं कारकों के अनुसार परिणमित होने रूप भावमयी हूँ।

कर्म शक्ति–मैं सिद्ध रूप अति निर्मल भावों को प्राप्त करने में समर्थ हूँ।

कर्तृ शक्ति–मैं निज निर्मल परिणाम करने में समर्थ हूँ।

करण शक्ति–मैं सिद्धत्व की परिणति साधकपनेमयी हूँ।

संप्रदान शक्ति–मैं स्वयं को स्वयं के द्वारा शाश्वत गुण प्रदान करने वाला हूँ।

अपादान शक्ति–मैं ध्रुव रूप हूँ।

संबंध शक्ति–मैं अपने भावमात्र स्वस्वामिपनेमय सम्बन्धरूप हूँ।

अधिकरण शक्ति–मैं अनंत गुणों का आधार हूँ।

अस्तित्व शक्ति–मैं सदा सत् रूप हूँ।

नास्तित्व शक्ति–परचतुष्टयापेक्षया मैं नास्ति रूप हूँ।

वस्तुत्व शक्ति–मैं अर्थक्रिया रूप वस्तुत्व शक्ति युक्त हूँ।

द्रव्यत्व शक्ति–मैं कूटस्थ नहीं हूँ।

प्रमेयत्व शक्ति–मैं केवलज्ञान का विषय हूँ।

नित्यत्व शक्ति–मैं गुणों की अपेक्षा नित्य हूँ।

अनित्यत्व शक्ति–एक पर्याय की अपेक्षा मैं अनित्य हूँ।

नित्यानित्यत्व शक्ति–गुण-पर्याय दोनों की अपेक्षा मैं नित्यानित्य हूँ।

अभेद शक्ति–मैं सदैव अखंड हूँ।

भेदत्व शक्ति–द्रव्य, गुणादि की अपेक्षा मैं भेद रूप हूँ।

अग्राहकत्व शक्ति–मैं परद्रव्य का भाव ग्रहण नहीं करता।

पारिणामिक शक्ति–मैं पारिणामिक भाव से युक्त हूँ।

आत्मा की इन शक्तियों का कथन स्वयं ग्रंथकार आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने अपने 'अप्पसत्ती' नामक ग्रंथ में किया है।

अप्पसत्तीइ णाणं, विणा लहिदुमसक्को सुद्धरूवं।
जाणित्तु अप्पसत्तिं, सद्धाए हु चिंतेज्जा तं॥103॥–अप्पसत्ती

आत्म शक्ति के ज्ञान के बिना शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। अत: आत्मशक्ति को जानकर उसका श्रद्धा से चिंतन करना चाहिए।

मैं निज आत्म शक्ति के प्रकटीकरण के लिए आत्मशक्तियों की भावना भाता हूँ।

परम-अत्थि-सरूवो हं॥9॥

अर्थ–मैं परम अस्ति स्वरूप हूँ।

भावार्थ–सभी द्रव्यों का अस्तित्व नामक साधारण गुण होता है। 'अस्ति' का अर्थ–'है' अर्थात् द्रव्य का वह अंतरंग सत्व जिसके बिना वह होना संभव नहीं है। अस्तित्व गुण के कारण ही संसार में प्रत्येक द्रव्य था, है और रहेगा। द्रव्य के जो हैपना है, जिस कारण द्रव्य विद्यमान है वह शक्ति उसका अस्तित्व गुण है।

अस्तित्वस्यभावोऽस्तित्वं। सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्यापनोतीति सत्। –सं. नयचक्र

अस्तित्व का भाव अस्तित्व है। अपने गुण और पर्यायों में व्याप्त होने वाला सत् है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त सत् है। यह ही आत्मा का स्वभाव है।

सब्भावो हि सहावो, गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं, उप्पादव्वयधुवत्तेहिं॥96॥–प्र.सा.

सर्व काल में गुणों तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

मेरी आत्मा भी अस्ति स्वरूप है। मेरी आत्मा का हैपना जिस शक्ति के कारण है वह अस्तित्व है। अस्ति स्वरूप सर्व द्रव्यों में पाया जाता है, जिस कारण वे सदैव रहते हैं, कभी नष्ट नहीं होते। हे तत्त्ववेत्ता! तुम क्यों भयभीत होते हो, तुम्हारी आत्मा को अनादि से ना कोई नष्ट कर पाया है, न नष्ट कर पाया था और ना ही नष्ट कर पाएगा। यह आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण विभिन्न पर्यायों को प्राप्त करती है।

संसार में रहते हुए यह जीव नाना शरीरों को धारण करता है, जन्म-मरण करता है। यह एक पर्याय में अस्ति रूप नहीं रहता। पर्याय की अपेक्षा यह अस्तिपना क्षणिक है, वह दीर्घकालीन नहीं है।

यह आत्मा कभी मनुष्य रूप में अस्ति होती है, तो कभी देव रूप में, कभी नारकी रूप में तो कभी तिर्यंच रूप में। इस संसार परिभ्रमण के नाश करने का उपाय करो। तुम परम अस्ति स्वरूप हो। परम अस्ति अर्थात् जहाँ विपरिणमन न हो। जीव की स्वभाव व्यंजन पर्याय, जीव एक बार शुद्ध होने पर फिर कभी अशुद्ध नहीं होता, उसी शुद्ध सिद्ध रूप में अनंतकाल के लिए विद्यमान रहता है, वही परम अस्ति स्वरूप तुम हो।

यदि एक बार सिद्धों सी अवस्था प्राप्त हो जाए तो वह कभी नष्ट नहीं होगी। ऐसे उस अपने परम अस्ति स्वरूप को मैं सदा चिंतन करता हूँ। हे महात्मन्! यह चिंतन ही आपको सिद्ध बनाने में समर्थ होगा।

परमवत्थुत्तसरूवो हं॥10॥

अर्थ–मैं परम वस्तुत्व स्वरूप हूँ।

भावार्थ–संसार में जितने भी द्रव्य हैं उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य है। कोई भी द्रव्य निष्प्रयोजन नहीं है, निरर्थक नहीं है। संसार में प्रत्येक वस्तु की कोई न कोई अर्थ क्रिया अवश्य होती है। द्रव्य जिस गुण के कारण प्रयोजनभूत होता है, उसमें अर्थक्रिया होती है उसे ही उसका वस्तुत्व गुण कहते हैं।

'अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणंनिष्पत्तिर्न युज्येत्।'–लघीयस्त्रय

प्रयोजन निष्पत्ति को अर्थ क्रिया कहते हैं।

धर्म द्रव्य की अर्थ क्रिया है चलते हुए जीव व पुद्‌गल को चलाने में सहकारी कारण। ठहरते हुए जीव व पुद्‌गल को ठहराने में सहकारी कारण उदासीन निमित्त है वह अधर्म द्रव्य की अर्थ क्रिया है। सर्व द्रव्यों को अवगाहन देना आकाश द्रव्य की अर्थक्रिया है। वर्तन वा परिणमन कराना कालद्रव्य की अर्थक्रिया है। जीव व पुद्‌गल की अर्थक्रिया तो प्रत्यक्ष ही है।

जीव जब तक संसार में है तब तक उसकी अर्थक्रिया सार्थक नहीं है। पुद्‌गल के माध्यम से संसार में अर्थक्रिया तो हो रही है, जन्म, मरण, सुख, दुःख प्राप्त कर रहा है, पुण्य व पाप के फल भोग रहा है। अतः संसार में परिभ्रमण करते जीव की यह परम अर्थक्रिया नहीं है।

किन्तु मैं परम वस्तुत्व स्वरूप हूँ। मेरी परम-उत्कृष्ट अर्थक्रिया सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है। अपनी आत्मा के समस्त शुद्ध गुणों को भोगना ही मेरी उत्कृष्ट अर्थक्रिया है। इसी का चिन्तन मैं बार-बार करता हूँ और उसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए समस्त बाह्य प्रपंचों का त्याग करता हूँ क्योंकि उसका त्याग किए बिना परम अवस्था की प्राप्ति संभव नहीं।

न सन्ति बाह्याः मम किंचनार्थाः, भवामि तेषां न कदाचनाहं।
इत्थं विनिश्चिन्त्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थं सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै॥24॥

—सामायिक पाठ

किंचित् भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है और न मैं कभी इनका हो सकता हूँ, ऐसा विचार कर हे भद्र! बाह्य को छोड़ और मुक्ति के लिए स्वस्थ हो जा।

परमपमेय-सरूवो हं॥11॥

अर्थ—मैं परम प्रमेय स्वरूप हूँ।

भावार्थ—प्रमा का अर्थ होता है ज्ञान वा प्रकृष्ट माण। प्रमेय अर्थात् ज्ञान के योग्य। सभी द्रव्यों में प्रमेयत्व गुण पाया जाता है। चाहे परमाणु हो या विशाल स्कंध या अनंत प्रदेशी आकाश हो सभी प्रमेय हैं।

प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम् प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम्॥98॥ —आलाप पद्धति

प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है। वह प्रमेय का भाव प्रमेयत्व है।

आत्मा ही प्रमाता, प्रमाण व प्रमेय है। आत्मा ही जानता है, वह स्व के द्वारा अथवा अन्य शुद्धात्मा द्वारा जानने योग्य है, वह स्वयं ज्ञान है। शुद्ध पदार्थ शुद्ध रूप में और अशुद्ध पदार्थ अशुद्ध रूप में ज्ञेय होते हैं। आत्मा जब शुद्ध है तब वह शुद्ध रूप में जानने योग्य होती है, अशुद्ध आत्मा, कर्मों से युक्त संसारी आत्मा उसी रूप में जानने योग्य होती है।

मैं शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा, शक्ति की अपेक्षा शुद्ध रूप हूँ। मैं सामान्य ज्ञान के द्वारा नहीं परम ज्ञान के द्वारा प्रमेय हूँ। सामान्य ज्ञान के द्वारा तो अपरम पदार्थ भी ज्ञेय रूप होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा तो पौद्गलिक पदार्थ ग्रहण किए जाते हैं किन्तु मैं इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं हूँ। मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शन चेतना से युक्त सिद्धों के समान हूँ इसलिए मैं परम प्रमेय हूँ, उत्कृष्ट रूप से जानने के योग्य हूँ। मैं उत्कृष्ट परम वा केवलज्ञान के द्वारा जानने योग्य हूँ। मैं स्वयं केवलज्ञान वा सिद्धों सम ज्ञान से युक्त हूँ, मैं ही प्रमाता व प्रमाण हूँ।

जब मैं शुद्ध निश्चय नय से स्वयं को देखता हूँ तब मैं परम अवस्था से युक्त हूँ, परमात्मा हूँ व परम रूप होने से परम प्रमेय स्वरूपी हूँ।

परम-अगुरुलहुसरूवो हं॥12॥

अर्थ–मैं परम अगुरुलघु स्वरूप हूँ।

भावार्थ–अगुरुलघु अर्थात् अगुरु व अलघु। गुरु यानि वृद्धि लघु यानि घटना। जिसमें कभी घटना-बढ़ना ना हो। सभी द्रव्यों में यह अगुरुलघु गुण पाया जाता है, जिसके कारण उनमें परिणमन होता है, उस द्रव्य के गुण नष्ट नहीं होते और ना ही वृद्धि को प्राप्त होते। इसमें न कोई गुण घटता है, न बढ़ता है। इस अगुरुलघु गुण के कारण आत्मा असंख्यात प्रदेशी थी, है और रहेगी। इसका न कभी एक प्रदेश घट सकता है और न ही बढ़ सकता है। इस गुण के निमित्त से ही द्रव्य व उसके गुणों में प्रति समय षट्गुण हानि-वृद्धि होती रहती है।

षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारण विशिष्ट-गुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

षट् स्थान पतित वृद्धि हानि रूप परिणत हुआ जो वस्तु के निज स्वभाव की प्रतिष्ठा का कारण विशेष अगुरुलघुत्व नाम गुण स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति है।

जब आत्मा सर्व कर्मों को नष्ट कर लेता है तब अगुरुलघु गुण के कारण ही उस शुद्धात्मा में परिणमन होता है। अथवा गोत्र कर्म के नाश होने पर जो अगुरुलघु गुण सिद्धों में होता है, वह मेरा स्वरूप है।

सिद्धावस्था के योग्य विशेष अगुरुलघु गुण, नामकर्म के उदय से अथवा गोत्रकर्म के उदय से ढक गया है क्योंकि गोत्र कर्म के उदय से जब नीच गोत्र पाया तब तुच्छ या लघु कहलाया और उच्च गोत्र में बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया।[1] हे तत्त्ववेत्ता! अपने जिस गोत्र पर अभिमान या हीन भाव करते हो वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। तुम तो इन दोनों से रहित हो। सिद्धों में पाए जाने वाले उस अगुरुलघु गुण से तुम युक्त हो, वही तुम्हारा स्वभाव है।

1. प.प्र.टी. 1/61/62

परमसिद्धिसरूवो हं॥13॥

अर्थ–मैं परम सिद्धि स्वरूप हूँ।

भावार्थ–''सिद्धिश्चेदुपलब्धिमात्रम्।[1] उपलब्धि मात्र को सिद्धि कहते हैं। संसार में जीव अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ करता है। कभी किसी डिग्री को प्राप्त कर प्रसन्न होता है तो कभी पद-प्रतिष्ठा को प्राप्त कर आनंदित होता है। कभी किसी कॉन्ट्रैक्ट आदि की प्राप्ति को अपनी उपलब्धि मानता है तो कभी धन-स्वर्णादि के संचय को उपलब्धि मानता है। हे तत्त्ववेत्ता! ये सभी उपलब्धियाँ नश्वर हैं, कुछ तो संसार वर्द्धक भी हैं। ये सब तेरा स्वभाव नहीं है। तुम परम सिद्धि स्वरूप हो।

कर्मों के रहते जितनी भी ऋद्धि-सिद्धियाँ होती हैं वह सब परम नहीं हैं। संपूर्ण कर्मों के क्षय होने पर जिस सिद्धत्व, शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है वह परम सिद्धि है। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है, **''सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः''** निज शुद्ध आत्मा की उपलब्धि ही सिद्धि है।

अहो! मेरा स्वभाव उस परम सिद्धत्व दशा को प्राप्त करना ही है। वह दशा मुझे समस्त कर्मों का क्षय करके ही प्राप्त होगी, वह कर्मों का क्षय मुझे ही मेरे पुरुषार्थ से करना है। मेरे कर्मों का क्षय करने में मात्र मैं ही समर्थ हूँ। अतः सर्व कर्मों के क्षय के लिए मैं स्वयं तत्पर होता हूँ। संयम के द्वारा कषायों पर विजय प्राप्त करता हूँ।

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं।
सक्का काउं आउहकरेण रक्खा व चोराणं॥1836॥–भ.आ.

जैसे सशस्त्र पुरुष चोरों से अपना रक्षण करता है उसी प्रकार उपशम, दया और निग्रह रूप तीन शस्त्रों को धारण करने वाला कषायरूपी चोरों से अवश्य अपनी रक्षा करता है।

इस प्रकार कषायों को नष्ट कर निज स्वभाव की ओर गतिशील होता हूँ।

परमसंतो हं॥14॥

अर्थ–मैं परम शांत हूँ।

भावार्थ–अहो तत्त्ववेत्ता! जो शांति तुम्हारा स्वरूप है वह कषायों के शमन से आती है। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो लोक व्यवहार में कहते हैं कि वह शांत हो गया। यह लोक व्यवहार भी सर्वथा अनुचित नहीं है। जब तक व्यक्ति जीवित था तब तक कषायों के उद्रेक से कार्य कर रहा था, इंद्रियों में प्रवृत्ति कर रहा था अब जब आत्मा निकल गयी, पौद्गलिक शरीर पड़ा रह गया तब वह शरीर शांत है, कोई चेष्टा नहीं कर रहा।

1. स.वि. 1/2/6

ऐसे ही जो जीवात्मा निश्चेष्ट, शांत हो जाती है अर्थात् मोहनीय कर्मादि के नाश होने पर, कषायों का अभाव होने पर जो शांति आत्मा में उत्पन्न होती है वह उसका स्वभाव है। जब सर्व कर्मों का क्षय हो जाए तब वही आत्मा निःसंदेह परम शान्ति को प्राप्त करती है।

जिस प्रकार जलाशय में हवा या कंकड़ आदि के निमित्त से लहरें उठती हैं उसी प्रकार कर्मों आदि के निमित्त से जीव में अशांति विद्यमान रहती है। उबलते हुए जल में जीव को अपना चेहरा दिखाई नहीं देता उसी प्रकार कषायादि से युक्त चित्त में निज शुद्धात्मा का अवलोकन नहीं होता। शांत जल में चेहरा व शांत चित्त में निजात्म स्वरूप का अवलोकन संभव है।

अतः हे तत्त्ववेत्ता! निज कषायों का शमन करो। सर्व कर्मों का नाश होने पर जिस प्रकार आत्मा में शान्ति उत्पन्न होती है वही परम शान्ति तुम्हारा स्वरूप है, वही सदा चिन्तन के योग्य है।

शान्तं पुराणपुरुषं परमार्थसारं, आनन्दमेदुरमनन्तसुखं विरागम्।
चिद्रूपमुज्झितसमस्त-जगत्प्रपंचं, त्वां नौमि नित्यमजरं प्रसरत्प्रतापम्॥–पार्श्व.स्तो.8

जो शान्त है, परमार्थ से सारभूत है, आनंद से युक्त है, अनंत सुख संपन्न है, राग रहित है, चैतन्य रूप है, जगत् के समस्त प्रपञ्च से मुक्त है, नित्य है, अजर है तथा जिसका प्रताप फैल रहा है, उस पुराण पुरुष-अनाद्यनन्त आत्मतत्त्व की मैं स्तुति करता हूँ।

उसी परम शांत स्वभावी निज आत्मा की मैं सदा भावना करता हूँ।

परमसिवो हं॥15॥

अर्थ–मैं शिव हूँ।

भावार्थ–सिद्धत्व पद या निर्वाण को शिव कहते हैं अथवा सिद्ध परमेष्ठी को शिव कहते हैं।

शिवं परमकल्याणं, निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन, स शिवः परिकीर्तितः॥–द्र.सं./टी./14 पर उद्धृत

शिव यानी परम कल्याण निर्वाण एवं अक्षय ज्ञान रूप मुक्त पद को जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है।

सर्व कर्मों के क्षय होने पर इस शिव पद की प्राप्ति होती है। मैं शक्ति रूपेण निकल परमात्मा हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, शिव हूँ। मैं शक्ति की अपेक्षा शिव हूँ अतः मुझे उस स्वरूप की प्राप्ति या प्रकटीकरण का प्रयत्न करना चाहिए। इस शक्ति को प्रकट करना ही भव्य जीव की नियति है। अपनी यथार्थ शक्ति को पहचानकर एवं जिन्होंने यह शक्ति प्रकट की है उनके चिन्तन व ध्यान से उस शक्ति का प्रकटीकरण संभव है।

अहो तत्त्ववेत्ता! पुरुषार्थ के द्वारा ही उस शक्ति को प्रकट करना है। संयम को धारण कर, रत्नत्रय को अंगीकार कर आत्मा को शुद्ध कर परमात्मा बनाओ। तुम स्वयं परमात्मा हो बस उस शुद्ध दशा को प्रकट करना है।

पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।

तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः॥23॥–परमानंद स्तोत्र/परमात्म स्वरूप

कनक पाषाण में जिस प्रकार स्वर्ण है, दूध में घृत है, तिल में तेल है उसी प्रकार शरीर के मध्य शिव है।

अहो! मैं शिव स्वरूप हूँ, मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ। उसी की प्राप्ति के लिए मैं निज शिव स्वरूप का चिन्तन करता हूँ।

परमेसरो हं॥16॥

अर्थ–मैं परमेश्वर हूँ।

भावार्थ–जो ऐश्वर्यवान् होता है वह ईश्वर कहलाता है।

ईश्वरः इन्द्राद्यसंभविना अंतरंगबहिरंगेषु परमैश्वर्येण सदैव संपन्नः। –स.श.टी. 6/225

इंद्रादिक को जो असम्भव ऐसे अंतरंग और बहिरंग परम ऐश्वर्य के द्वारा जो सदैव सम्पन्न रहता है उसे ईश्वर कहते हैं।

केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। –द्र.सं.टी. 14/47

केवलज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, अतः वह परमात्मा ईश्वर होता है।

जिसने आत्मा के परम ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया वह परमेश्वर है। वही परमेश्वर स्वरूप मैं हूँ।

अहो तत्त्ववेत्ता! एक बार अपनी आत्मा में झांककर तो देखो, वह परम, श्रेष्ठ गुणों से युक्त है, परम शुद्ध ज्ञानादि ऐश्वर्य से युत है। जहाँ आत्मा के समस्त शुद्ध गुण प्रकट हो जाएँ, जब आत्मा चेतना के समस्त गुणों का भोग-उपभोग करने में समर्थ हो, अनंत गुण प्रकट हों उस अवस्था को प्राप्त करने वाली आत्मा ही परमेश्वर रूप है।

मैं सदैव चिन्तन करता हूँ कि मैं परम ईश्वर स्वरूप हूँ। यह आत्मा उसी परमात्म शक्ति, परम वैभव, परम सत्ता, परम गुणों से युक्त है। यह चिन्तन उस परम अवस्था की प्राप्ति में सहायक होगा। अतः परमेश्वर रूप निज अवस्था को मैं अपने चिन्तन का विषय बनाता हूँ, चर्चा व चर्या का विषय बनाता हूँ, जिससे भाव निक्षेप की अपेक्षा से उसे प्राप्त कर सकूँ।

परमक्खयसरूवो हं॥17॥

अर्थ–मैं परम अक्षय स्वरूप हूँ।

भावार्थ–क्षय का अर्थ है नष्ट होना। अक्षय शब्द का अर्थ है जो कभी भी नष्ट न हो। संसार में जितनी भी पर्याय हैं वे नष्ट होती हैं। पर्याय विनश्वर हैं किन्तु द्रव्य अविनश्वर एवं अक्षय है क्योंकि द्रव्य में ध्रौव्यता होती है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये छः द्रव्य अक्षय स्वरूप हैं। जीव द्रव्य की पर्यायें तो बदलती रहती हैं, एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, उससे तीन इन्द्रिय, चार इंद्रिय वा पाँच इंद्रिय। शरीर तो नष्ट होता है किन्तु आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। यह आत्मा अक्षय स्वरूप है।

आत्मा में जो-जो भी पर है, भव्य जीव के पुरुषार्थ के माध्यम से वह सब नष्ट हो जाएगा। ज्ञान, ध्यानाग्नि से सब नष्ट करते जाओ, सबका क्षय करते जाओ, जो नष्ट न हो पाए वही अक्षय स्वभावी आत्मा है। ध्यानादि से कर्म का ही क्षय होता है, आत्मा का एक प्रदेश भी कभी क्षय नहीं हो सकता।

हे तत्त्ववेत्ता! जब आत्मा का एक प्रदेश भी नष्ट नहीं किया जा सकता फिर भयभीत क्यों होते हो? निर्भीकता से मोक्षमार्ग पर अग्रसर होओ। तुम अक्षय नहीं परम अक्षय स्वरूप हो। क्योंकि अक्षय तो धर्म, अधर्मादि द्रव्य भी हैं किन्तु सभी द्रव्यों में आत्मा परम द्रव्य है, सभी अस्तिकायों में वह परम अस्तिकाय है, सभी तत्त्वों में परम तत्त्व है। परम रूप होने से यह आत्मा परम अक्षय स्वरूप है। इस परम अक्षय स्वरूपी आत्मा का मैं ध्यान करता हूँ क्योंकि इस शुद्धात्मा के चिन्तन के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

मृत्पिण्डेन विना घटो न च पटस्तन्तून् विना जायते,
धातुर्नैव विना दलं न शकटः काष्ठं विना कुत्रचित्।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजं बिना,
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुने! मोक्षस्तथा नैव च॥–स.श्लो.सं.

जिस प्रकार मृत्पिण्ड के बिना घट, तन्तुओं के बिना पट, दलखंड के बिना धातु, काष्ठ के बिना गाड़ी और बीज के बिना धान्य उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार हे मुने! अन्य साधनों के रहते हुए भी शुद्धात्म-स्मरण के बिना मोक्ष नहीं होता।

अतः मैं मोक्षमार्ग पर अनवरत चलता हुआ अपनी परम अक्षय स्वरूपी आत्मा का स्मरण करता हूँ।

परमधम्म-सरूवो हं॥18॥

अर्थ–मैं परम धर्म स्वरूप हूँ।

भावार्थ–लोकव्यवहार में धर्म के अनेक स्वरूप प्राप्त होते हैं। जो जिस पद पर आसीन है उसके अनुकूल कर्त्तव्यों का पालन करना धर्म है। लोकधर्म स्थान व काल के अनुसार परिवर्तित भी होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र भी धर्म है। पाँच महाव्रत रूप भी धर्म है, उत्तम समाधि रूप भी धर्म है, जीव दया आदि भी धर्म है, उत्तम क्षमादि भी धर्म है अथवा कहा–**'धम्मो-वत्थुसहावो'** वस्तु का स्वभाव धर्म है।

किन्तु हे तत्त्ववेत्ता! तुम परम धर्म स्वरूप हो। कर्म क्षय होने पर शुद्धात्म तत्त्व में लीनता परम धर्म है। उससे उत्कृष्ट धर्म अन्य कोई नहीं।

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू, धम्मो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो॥85॥–भाव पाहुड़

रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में ही रत होना धर्म है।

जो ज्ञानशरीरी हैं, चेतना के अनंत गुणों के भोक्ता हैं ऐसे सिद्धों ने उस परम धर्म को प्राप्त किया है, वही परम धर्म मेरी आत्मा का भी स्वभाव है। उस परम धर्म से परिणत आत्मा ही परम धर्म है, वही मैं हूँ।

हे प्रभुवर! देवाधिदेव! मुझे उस वज्रवृषभनाराच संहनन, उत्तम क्षेत्र, देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य इत्यादि प्राप्त हो और मैं उस परम धर्म स्वरूप हो जाऊँ, निज स्वभाव को प्राप्त कर सकूँ।

परमपइडि-सरूवो हं॥19॥

अर्थ–मैं परम प्रकृति स्वरूप हूँ।

भावार्थ–''पयडी एत्थ सहावो'' प्रकृति का नाम स्वभाव है। प्रकृति, शील और स्वभाव ये सब एकार्थ हैं। तत्त्व का स्वभाव ही उसकी प्रकृति कहलाता है। जैसे नीम की प्रकृति कड़वापन, शक्कर की प्रकृति मीठापन, नमक की प्रकृति खारापन इत्यादि। संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी अपनी-अपनी प्रकृति होती है किन्तु वह प्रकृति सदैव शुद्ध रूप हो ऐसा जरूरी नहीं, वह अशुद्ध रूप भी होती है। परम प्रकृति एक ही होती है और अपरम प्रकृति अनेक होती हैं।

संसारी आत्मा की प्रकृति कर्मों का बंध करना है। आस्रवादि ये जीव के तत्त्व हैं किन्तु यह आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं है, परम प्रकृति नहीं है। इस आत्मा की परम प्रकृति कर्मों से रहित अवस्था है। अहो! जो सिद्धों का स्वभाव है वही मेरा स्वभाव है, जो सिद्धों की प्रकृति है वही मेरी प्रकृति है। परम प्रकृति एक बार होने पर फिर वह कभी नष्ट नहीं होती। अत: उस शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के लिए हे तत्त्ववेत्ता! समस्त परपदार्थों का त्याग करो, बाह्य प्रपंचों को छोड़ो। यह सब

परिग्रहादि का संग्रह करना, पर में लीन रहना तुम्हें तुम्हारे स्वभाव से च्युत करने वाले हैं। अतः समस्त पर पदार्थों का त्यागकर शाश्वत आनंद को प्राप्त करने के लिए गतिमान् होओ।

परद्रव्यासनाभ्यासं कुर्वन् योगी निरन्तरम्।
कर्माङ्गादिपरद्रव्यं, मुक्त्वा क्षिप्रं शिवी भवेत्॥–स.श्लो.सं.

निरन्तर पर द्रव्य के त्याग का अभ्यास करने वाला योगी परद्रव्य का सम्बन्ध छोड़कर शीघ्र ही आनन्द रूप होता है, मोक्ष को प्राप्त होता है।

अतः मैं समस्त परद्रव्यों से संबंध को छोड़कर परम प्रकृति स्वरूप निजात्मा का स्मरण, चिन्तन व ध्यान करता हूँ।

परममंगल-सरूवो हं॥20॥

अर्थ–मैं परम मंगल स्वरूप हूँ।

भावार्थ–जो मंग को अर्थात् पुण्य को लाता है वह मंगल कहलाता है। अथवा मं-अर्थात् पाप को गलाता है वह मंगल है।

गालयदि विणासयदे, घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं, जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं॥9॥–ति.प.

यह ज्ञानावरणादि द्रव्यमल और अज्ञान, अदर्शन आदि भावमल- इन मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है इसलिए इसे मंगल कहा गया है।

उत्कृष्ट सुख को देने वाला मंगल कहा गया है।

पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वे, णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया॥8॥–ति.प.

पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगल के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

संसार में कई प्रकार के मंगल हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव ये सब मंगल के भेद हैं। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन नामों को नाम मंगल कहा है। जिन भगवान् के जो अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिबिम्ब हैं, वे सब स्थापना मंगल हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु के शरीर द्रव्य मंगल हैं। गुणपरिणत आसन क्षेत्र अर्थात् जहाँ योग आसनादि द्वारा ध्यानाभ्यास आदि अनेक गुण प्राप्त किए गए हों ऐसा क्षेत्र, दीक्षा केवलज्ञानादि का क्षेत्र मंगल है। केवलज्ञानकाल, दीक्षाकाल, निर्वाणकाल ये सब पाप रूपी मल के गलाने का कारण होने से कालमंगल हैं। मंगल पर्यायों से परिण

ात जीव द्रव्य (अर्थात् पंचपरमेष्ठी की आत्माएँ) भाव मंगल है। यहाँ कहा मैं परम मंगल स्वरूप हूँ परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट सर्वोत्तम मंगल स्वरूप।

वह आत्मा पूर्ण रूप से मंगल स्वरूप तब होती है जब आत्मा में किंचित् भी अमंगल रूप कर्मकालिमा शेष न रहे। जब आत्मा में किंचित् भी विभाव परिणति शेष न रहे, जब आत्मा पूर्णरूपेण निष्कर्म हो जाए, निरंजन हो जाए। यही परम मंगल स्वरूप मैं हूँ। इसलिए उसी दशा की प्राप्ति करने के लिए मैं अपनी उसी दशा का बार-बार चिंतन करता हूँ।

परमोत्तम-सरूवो हं॥21॥

अर्थ–मैं परमोत्तम स्वरूप हूँ।

भावार्थ–लोक में सभी द्रव्यों में आत्म द्रव्य उत्तम कहा गया है। सभी तत्त्वों में आत्म तत्त्व उत्तम है। सभी द्रव्यों, अस्तिकाय, पदार्थों में आत्मा ही उत्तम है। उन सभी जीवों, आत्माओं में भी तीन प्रकार की आत्मा उत्तम है–अरिहंत, सिद्ध व साधु (आचार्य, उपाध्याय व मुनि)। इनमें भी सिद्धात्मा परमोत्तम है। क्योंकि उनके घातिया व अघातिया एक भी कर्म आत्मा में शेष नहीं है इस सिद्धावस्था को प्राप्त करने के पश्चात् और कोई अवस्था प्राप्त करनी शेष नहीं रहती। इस दशा में जीव विकृत, विभाव, जघन्यादि अवस्थाओं से रहित हो जाता है। जो विभाव परिणति से युक्त है उसे परमोत्तम नहीं कहा जा सकता। निश्चय से उत्तम आत्मा ही है।

संसार में रहने वाली आत्मा उत्तम तो हो सकती है किन्तु परमोत्तम नहीं हो सकती। लोक में परम उत्तम मेरी शुद्धात्मा है। एक बार उस परमोत्तम अवस्था को प्राप्त हो करके आत्मा फिर स्वभाव से च्युत नहीं होती। अनंतकाल तक आत्मा अपने शुद्ध गुणों का भोग करती है। उस परमोत्तम स्वरूप आत्मा का मैं चिन्तन करता हूँ।

यथा वलाहके वृष्टे, जायन्ते हरिताङ्कुराः।
तथा मुक्तिप्रदोधर्मः शुद्धचिद्रूप चिन्तनात्॥

जिस प्रकार मेघ के बरसने पर हरे अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार शुद्ध चिद्रूप आत्मा के चिन्तन से मोक्षदायक धर्म उत्पन्न होता है।

अतः मैं शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करने को तत्पर होता हूँ।

परमसरणसरूवो हं॥22॥

अर्थ–मैं परम शरण स्वरूप हूँ।

भावार्थ–शरण का अर्थ है–आश्रय देने में समर्थ। शरण दो प्रकार की है–लौकिक और लोकोत्तर तथा वे दोनों ही जीव, अजीव और मिश्रक के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। राजा, देवता

आदि लौकिक जीव शरण हैं। कोट, शहर, पनाह आदि लौकिक अजीव शरण हैं और कोट, खाई सहित गाँव, नगर आदि लौकिक मिश्र शरण हैं। पाँचों परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण हैं। अरिहंत आदि के प्रतिबिम्ब आदि लोकोत्तर अजीव शरण हैं। धर्म सहित साधुओं का समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्र शरण हैं।[1]

यहाँ लोकोत्तर जीव शरण प्रासंगिक है। चार शरण कही जाती हैं–अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म। क्योंकि इनकी शरण प्राप्त कर भव्य जीव अपनी आत्मा की पापों से रक्षा कर लेते हैं, दुष्कर्मों से बच जाते हैं। इनकी शरण में आकर भव्य जीव पाप नहीं करते और जो पाप उदय में आते हैं उन्हें भी पुण्य रूप संक्रमित कर सकते हैं।

शरण वह है जहाँ आर्त्त, रौद्र रूप दुर्ध्यान न हों, कर्मादि का आस्रव न हो किन्तु मेरी यह आत्मा परम शरण स्वरूप है। परम शरण का आश्रय होता है–मेरी आत्मा सबको अवगाहन देने में समर्थ हो जाए। शरीरधारी सबको आश्रय नहीं दे सकते क्योंकि पौद्‌गलिक शरीर सबको अवगाहन नहीं दे सकता। किन्तु जब आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों से रहित हो जाती है, लोकाग्र में जाकर विराजमान हो जाती है, अमूर्तिक हो जाती है तब यह सबको शरण देने में समर्थ हो जाती है अर्थात् उस आत्मा में कितने भी जीव रहें, आत्मा उससे प्रभावित नहीं होती व अन्य को भी प्रभावित नहीं करती।

अहो! सिद्ध परमेष्ठी परम शरण रूप है। मेरा भी स्वभाव उन्हीं के समान है। अत: मैं भी परम शरण स्वरूप हूँ। मैं अपनी आत्मा की ही शरण को प्राप्त होता हूँ, उसी का चिंतन, मनन व ध्यान करता हूँ।

हंस! स्मरसि द्रव्याणि, पराणि प्रत्यहं यथा।
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा?

हे आत्मन्! तू जिस प्रकार प्रतिदिन अन्य द्रव्यों का स्मरण करता है उस प्रकार यदि शुद्ध चिद्रूप का स्मरण करे तो क्या मुक्ति तेरे हस्तगत न होगी? अवश्य होगी।

परमसमयसार-सरूवो हं।।23।।

अर्थ–मैं परम समयसार स्वरूप हूँ।

भावार्थ–'समय' शब्द के अनेक अर्थ हैं–काल, संप्रदाय, मत या धर्म, शास्त्र, आत्मा, पाँच अस्तिकाय का समवाय, उत्पाद-व्यय- ध्रौव्य का सिद्धान्त इत्यादि। यहाँ समय का अर्थ आत्मा ग्राह्य है।

1. रा.वा./9/7/2

बहिरंतरप्पभेयं, परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं, तब्भेयं जाण गुणठाणे॥147॥–रयणसार

जिनेन्द्र देव ने बहिरात्मा, अंतरात्मा को परसमय बतलाया है तथा परमात्मा को स्वसमय बतलाया है। इनके विशेष भेद गुणस्थान की अपेक्षा जानना चाहिए।

परद्रव्यों में आसक्त जीव परसमय है तथा निज आत्मा में लीन स्व समय कहलाता है। शाश्वत आत्मलीनता ही इस आत्मा का स्वभाव है। मैं परम समयसार स्वरूप हूँ हर वस्तु का कोई न कोई सार अवश्य होता है। ऐसे ही आत्मा का सार भी है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करना ही समयसार है।

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो॥142॥–समयसार

जीव में कर्मबंध हुए हैं या नहीं बंधे हुए हैं; इस प्रकार से दोनों ही कथन को तुम नयों का पक्ष समझो। पुनः जो दोनों पक्षों से रहित हो चुके हैं उन्हें समयसार कहा गया है।

सामण्णं परिणामी, जीवसहावं च परमसब्भावं।
झेयं गुब्भं परमं, तहेव तच्चं समयसारं॥355॥–न.च.वृ.

सामान्य, परिणामी, जीवस्वभाव, परमस्वभाव, ध्येय, गुह्य, परम तथा तत्त्व ये सब समयसार के अपर नाम हैं।

परम स्वभाव को प्राप्त करना, परम समयसार रूप होना ही मेरा स्वभाव है।

कार्य व कारण के भेद से समयसार दो प्रकार का है। जीव का शुद्ध स्वरूप कार्य समयसार है तथा उसका साधन कारण समयसार है।[1]

यहाँ परम समयसार से आशय कार्य समयसार से है। कार्य या परम समयसार रूप होने के लिए मैं इसी कारणसमयसार का ध्यान करता हूँ। यही कार्य या परम समयसार मेरा स्वभाव है।

किरियातीदो सत्थो, अणंतणाणाइसंजुदो अप्पा।
तह मज्झत्थो सुद्धो, कज्जसहावो हवे समओ॥362॥–न.च.वृ.

क्रियातीत, प्रशस्त, अनंतज्ञानादि से संयुक्त, मध्यस्थ तथा शुद्ध आत्मा कार्य (परम) समयसार है वही स्वभाव तथा समय है।

अर्थात् मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निर्विकार, निरंजन, निष्कलंक हूँ।

---

1. कारणकज्जसहावं, समयं काऊण होइ झायव्वं।
   कज्जं सुद्धसरूवं, कारणभूदं तु साहणं तस्स॥360॥ –न.च.वृ.

परमसुद्धप्पसरूवो हं॥24॥

मैं परम शुद्धात्म स्वरूप हूँ।

विशेषार्थ–आत्मा संसार में रहते हुए नाना अवस्थाओं को प्राप्त है। संसारी आत्मा अशुद्ध अवस्था को प्राप्त है इसलिए आत्मा नाना प्रकार की विभाव परिणति से परिणत होती है। यह कर्मों का आस्रव भी करती है, बंध को भी प्राप्त होती है, संवर-निर्जरा को भी प्राप्त होती है। अजीव तत्त्व के साथ यह अजीव भाव से युक्त होती है, इसका चैतन्य भाव दूषित हो जाता है। अतः यह अजीवतत्त्व आत्मा का स्वभाव नहीं, आस्रवादि आत्मा का स्वभाव नहीं है। ये विभाव परिणति से उत्पन्न होने वाले वैभाविक स्वभाव हैं। आत्मा का स्वभाव शुद्ध होना है।

''शुद्धं केवलभावम्'' शुद्ध अर्थात् केवलभाव।

जब आत्मा रागद्वेषादि से रहित होता हुआ अपने समस्त कर्मों का क्षय कर देता है, एक भी कर्म उसकी आत्मा में शेष नहीं रहता वही उसकी शुद्धावस्था है।

मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्युते।[1]

मिथ्यात्व, राग आदि भावों से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है।

हे तत्त्ववेत्ता! कर्मों से युक्त रहना तेरा स्वभाव नहीं है। कभी तो तुम कारणवश रागद्वेष करते हो कभी अकारण ही रागद्वेष करते हो और इस रागद्वेष के कारण अपनी आत्मा को, स्वयं को पीड़ित करते हो। संक्लेशित परिणाम करके स्वयं को दुःख सागर में क्यों डालते हो? अशुभ, निंद्य कार्य या परिणाम करके क्यों अपनी आत्मा का पतन करते हो।

अहो! अब इस आत्मा में से अशुद्धि अर्थात् कर्मों को दूर करने का प्रयास करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को स्वीकार करो, संयम धारण कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होओ।

विरम विरम सङ्गान् मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं,
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं,
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृत्तानन्दहेतोः॥15/41॥ –ज्ञानार्णव

हे आत्मन्! परिग्रह से विरत हो-विरत हो, प्रपंच को छोड़ो- छोड़ो, मोह को समाप्त करो, समाप्त करो-निज तत्त्व को जानो- जानो, चरित्र को स्वीकृत करो-स्वीकृत करो, निज स्वरूप को देखो- देखो और पूर्ण आनंद के हेतु पुरुषार्थ करो-पुरुषार्थ करो।

सर्व कर्मों से रहित अवस्था ही आत्मा की परम शुद्धावस्था है। एक बार यह प्राप्त हो जाए तो जीव अनंतकाल तक शुद्ध ही रहता है। हे जिनदेव! हे गुरुदेव! आपके प्रसाद से मैं अपने संयम का विशुद्धि व दृढ़ता के साथ पालन करता हुआ इस परम शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकूँ। मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति जागृत हो जिससे कठिन तपस्या कर ध्यानाग्नि में सर्व कर्मों को भस्म कर सकूँ।

॥ ''इति आचार्य भगवन् श्री वसुनंदी मुनिवर विरचित-''अज्झप्प-सुत्ताणि'' ॥

---

1 द्र.सं.टी. 28/80/1 की चूलिका

ग्रंथ के मूल सूत्र

1. पढमाहियारो

णमो सव्व-णिक्कम्माणं।।1।।	णमो जिणाणं।।2।।
णमो सव्वणिग्गंथाणं।।3।।	णमो बारसंगरूव-जिणवयणाणं।।4।।
णमो उसहसेणाइ-गणहराणं।।5।।	णमो पंचायार-णिउण-कुंदकुंदाइ-सव्वाइरियाणं।।6।।
णमो सुद-केवलीणं।।7।।	णमो सिरिसंतिपायसायरजयकित्तिदेसभूसण विज्जाणंदसूरीणं।।8।।
सुद्धप्पज्झाणस्स जिणुत्त-सुत्ताणि वोच्छामि।।9।।	मोहरहिदो हं।।10।।
पेज्जदोसरहिदो हं।।11।।	णाणावरणीयकम्मरहिदो हं।।12।।
दंसणावरणीयकम्म-रहिदो हं।।13।।	अंतरायकम्म-रहिदो हं।।14।।
वेयणीयकम्म-रहिदो हं।।15।।	आउकम्म-रहिदो हं।।16।।
णामकम्म-रहिदो हं।।17।।	गोदकम्म-रहिदो हं।।18।।
मिच्छत्तय-रहिदो हं।।19।।	सव्वपावपइडि-रहिदो हं।।20।।
सव्वपुण्णपइडि-रहिदो हं।।21।।।	सव्विंदियविसय-रहिदो हं।।22।।
सव्वकसायणोकसायरहिदो हं।।23।।	दंडत्तयरहिदो हं।।24।।
सल्लत्तय-रहिदो हं।।25।।	गारवत्तय-रहिदो हं।।26।।
चदुगदि-रहिदो हं।।27।।	सव्विंदिय-रहिदो हं।।28।।
सव्वसरीर-रहिदो हं।।29।।	जोगत्तय-रहिदो हं।।30।।
वेदत्तय-रहिदो हं।।31।।	सव्वपमाद-रहिदो हं।।32।।
सव्वखओवसमियणाण-रहिदो हं।।33।।	सव्व-खओवसमियदंसण-रहिदो हं।।34।।
पंचखओवसमियलद्धि-रहिदो हं।।35।।	सादा-असादा-वेयणीयकम्मजणिदसुहदुह-रहिदो हं।।36।।
पंचसंजम-असंजम-संजमासंजम-रहिदो हं।।37।।	दव्वभावलेस्सा-रहिदो हं।।38।।

भव्वाभव्वभाव-रहिदो हं।।39।।	उवसम-खओवसम-सम्मत्त-रहिदो हं।।40।।
सण्णित्त-असण्णित्त-रहिदो हं।।41।।	आहारगवत्था-रहिदो हं।।42।।
गुणट्ठाण-रहिदो हं।।43।।	जीवसमास-रहिदो हं।।44।।
मग्गणाठाण-रहिदो हं।।45।।	संठाणसंहणणबंधणसंघाद-रहिदो हं।।46।।
बादर-सुहुमावत्था-रहिदो हं।।47।।	भेद-तम-छायादवुज्जोद-रहिदो हं।।48।।
चदुपुरिसत्थ-रहिदो हं।।49।।	सत्तभयविमुत्तो हं।।50।।
दव्व-भाव-णोकम्म-रहिदो हं।।51।।	कम्मणोकम्मोजलेव-कवलमणसाहार-रहिदो हं।।52।।
संका-कंखाइ-सव्वदोस-रहिदो हं।।53।।	खंध-देस-पदेसाइ-रहिदो हं।।54।।
पुग्गलधम्माधम्मायासकाल-रहिदो हं।।55।।	सत्तुमित्तभाव-रहिदो हं।।56।।
चदुपाण-रहिदो हं।।57।।	पज्जत्तापज्जत्तावत्था-रहिदो हं।।58।।
चउसण्णा-रहिदो हं।।59।।	सव्वाजोणि-रहिदो हं।।60।।
सव्वकुल-रहिदो हं।।61।।	सव्वजादि-रहिदो हं।।62।।
सव्वज्झाण-रहिदो हं।।63।।	सुहासुहसुद्धुवजोग-रहिदो हं।।64।।
पंचविहसंसार-रहिदो हं।।65।।	जम्म-जरा-मरणरोय-रहिदो हं।।66।।
घादपडिघाद-रहिदो हं।।67।।	अजीवत्तपरिणाम-रहिदो हं।।68।।
सव्व-दव्वभावकम्मासव-रहिदो हं।।69।।	चउविहकम्मबंध-रहिदो हं।।70।।
सव्व-दव्व-भावसंवर-रहिदो हं।।71।।	सव्व-दव्व-भावणिज्जरा-रहिदो हं।।72।।
दव्वभावमोक्खरहिदो हं।।73।।	सव्वफास-रसगंधवण्णसद्द-रहिदो हं।।74।।
परदव्वखेत्तकालभाव-रहिदो हं।।75।।	णामट्ठावणाइ-णिक्खेव-रहिदो हं।।76।।
सत्तणयरहिदो हं।।77।।	दिट्ठसुदाणुभूदभोयकंखा-रहिदो हं।।78।।
सव्व-इड्ढिरहिदो हं।।79।।	सरागदंसणणाणचरित्तविमुत्तो हं।।80।।
णिंदकज्जभाव-रहिदो हं।।81।।	सुद्धणयादो संसारस्स सव्वपज्जाय-रहिदो हं।।82।।
पदिट्ठिदापदिट्ठिद-भावरहिदो हं।।83।।	चदुगदिभवभमणभाव-रहिदो हं।।84।।
लहुदीहभाव-रहिदो हं।।85।।	एगाणेगभाव-रहिदो हं।।86।।

सुण्णपुण्णभाव-रहिदो हं।।87।।	गब्भ-जम्म-सेसव-किसोर-जोव्वण-पोढ-वुड्ढ-मरणावत्था-रहिदो हं।।88।।
सद्दंसण-सण्णाण-सच्चारित्तेसु उप्पज्जमाण अदिक्कम-वदिक्कम-अदियार-अणायाराइ-सव्वदोस-रहिदो हं।।89।।	कत्ता-कम्म-करण-रहिदो हं।।90।।
णिम्ममो हं।।91।।	चिच्चिंतामणिसरूवो हं।।92।।
संसयविब्भमविपज्जय-रहिदो हं।।93।।	धीरत्तभीरुत्तवीरत्तगंभीरत्त-इदरमिस्सभाव-रहिदो हं।।94।।
सव्वायार-रहिदो हं।।95।।	णिद्दंदो हं।।96।।

विदियाहियारो

अणंतणाणसरूवो हं।।1।।	अणंतदंसणसरूवो हं।।2।।
अणंतवीरियसरूवो हं।।3।।	अणंतसुहसरूवो हं।।4।।
परमवीयरायो हं।।5।।	वीयदोसो हं।।6।।
अणंतसम्मत्तसरूवो हं।।7।।	अमुत्तो हं।।8।।
गदि-आगदि-विमुत्तो हं।।9।।	सव्ववियप्पसुण्णो हं।।10।।
अणाइ-अणंत-सरूवो हं।।11।।	परमविसुद्धो हं।।12।।
परमसहजाणंद-सरूवो हं।।13।।	सव्वकालक्खयरूवो हं।।14।।
परमसुद्धप्परूवो हं।।15।।	अखंडसरूवो हं।।16।।
अद्दइद-परमाणंदसरूवो हं।।17।।	सयलसब्भावसरूवो हं।।18।।
परमसुद्धचेयणसरूवो हं।।19।।	सद्ददारेण अव्वत्तसरूवो हं।।20।।
जो हु सो हु चेव सरूवो हं।।21।।	असुह-चिंतण-विवक्खा-कायचेट्ठा-रहिदो हं।।22।।
कुमदि-कुसुद-विभंगोहिणाणरहिदो हं।।23।।	परमचेयणरयणायरसरूवो हं।।24।।
णियाणंदसरूवो हं।।25।।	सयाणंद-सरूवो हं।।26।।
णिय-परमप्प-लद्धि-सरूवो हं।।27।।	सुइ-असुइ-भावरहिदो हं।।28।।

भवजणगसव्वभावरहिदो हं।।29।।	अज्झप्पसारसरूवो हं।।30।।
असमाहि-संकिलेसपरिणाम जुदमरण-रहिदो हं।।31।।	सगदव्वखेत्तकालभाव-सरूवो हं।।32।।
कोहमाणमायालोह-असच्चवयण-असंजमातवाच. ागासत्तिमेहुणभाव-रहिदो हं।।33।।	परमसमाहिभाव-सरूवो हं।।34।।
परमसुद्धपारिणामियभाव-सरूवो हं।।35।।	परमसामाइयभाव-सरूवो हं।।36।।
सुद्धणिच्छयरयणत्तय-सरूवो हं।।37।।	परमवीयरायसम्मत्त-सरूवो हं।।38।।
परमवीयरायचरित्त-सरूवो हं।।39।।	णिव्वियप्प-सुद्दणिच्छयज्झाण सरूवो हं।।40।।
सुद्धणिच्छयतवभाव-सरूवो हं।।41।।	सव्वपरमसरूवो हं।।42।।
णिच्छयभेय-विण्णाण-सरूवो हं।।43।।	परमवीयदोसो हं।।44।।
णाण-दंसणाइ-अणंतगुणपुंजो हं।।45।।	पासट्ठ-सिहिलायार-रहिदो हं।।46।।
दिव्वादिव्व-बहिरब्भंतरसंगरहिदो हं।।47।।	सुद्धजीवत्थिकायसरूवो हं।।48।।

तिदियाहियारो

परमबंभो हं।।1।।	परमतच्चं हं।।2।।
परमगुरू हं।।3।।	परमज्झाणं हं।।4।।
परमदंसणं हं।।5।।	परमणाणं हं।।6।।
परमसुहं हं।।7।।	परमसत्तिपिंडो हं।।8।।
परम-अत्थि-सरूवो हं।।9।।	परमवत्थुत्तसरूवो हं।।10।।
परमपमेय-सरूवो हं।।11।।	परम-अगुरुलहुसरूवो हं।।12।।
परमसिद्धिसरूवो हं।।13।।	परमसंतो हं।।14।।
परमसिवो हं।।15।।	परमेसरो हं।।16।।
परमक्खयसरूवो हं।।17।।	परमधम्म-सरूवो हं।।18।।
परमपइडि-सरूवो हं।।19।।	परममंगल-सरूवो हं।।20।।
परमोत्तम-सरूवो हं।।21।।	परमसरणसरूवो हं।।22।।
परमसमयसार-सरूवो हं।।23।।	परमसुद्धप्पसरूवो हं।।24।।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य

1. प्राकृत वाणी भाग-1, 2, 3
2. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
3. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
4. अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
5. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
6. जदि-किदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
7. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
8. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
9. तच्चसारो (तत्त्व सार)
10. धम्म-सुत्तं (धर्म सूत्र)
11. रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
12. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13. अप्पणिब्भर भारदो (आत्मनिर्भर भारत)
14. विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्या वसु श्रावकाचार)
15. अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
16. अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
17. णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
18. मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
19. मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
20. विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
21. विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
22. समवसरण सोहा (समवशरण शोभा)
23. वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
24. अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
25. कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
26. को विवेगी (विवेकी कौन)
27. पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
28. तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
29. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
30. धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)
31. कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
32. खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33. सिरि सीयलणाह चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
34. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
35. समणायारो (श्रमणाचार)

भावार्थ

1. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
2. णिग्गंथ-थुदि (निर्ग्रंथ स्तुति)
3. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
4. रट्ठसंति-महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
5. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
6. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)

टीका ग्रंथ

1. प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)
2. वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3. नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)

इंग्लिश साहित्य

Inspirational Tales Part- 1 & 2

वाचना साहित्य

1. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)
2. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
4. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
4. उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)
5. उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग 1-16
15. चूको मत
16. जय बजरंगबली
17. जीवन का सहारा
18. ठहरो! ऐसे चलो
19. तैयारी जीत की
20. दशामृत
21. धर्म की महिमा
22. ना मिटना बुरा है न पिटना
23. नारी का धवल पक्ष
24. शायद यही सच है
25. श्रुत निर्झरी
26. सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
27. सीप का मोती (महावीर जयंती)
28. स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. अच्छी बातें
3. आज का निर्णय
4. आ जाओ प्रकृति की गोद में
5. आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान
6. आहारदान
7. एक हजार आठ
8. कलम पट्टी बुद्धिका
9. गागर में सागर
10. गुरु कृपा
11. गुरुवर तेरा साथ
12. जिन सिद्धांत महोदधि
13. डॉक्टरों से मुक्ति
14. दान के अचिन्त्य प्रभाव
15. धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)
16. धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17. निज अवलोकन
18. वसु विचार
19. वसुनन्दी उवाच
20. मीठे प्रवचन (भाग 1-6)
21. रोहिणी व्रत कथा
22. स्वप्न विचार
23. सद्गुरु की सीख
24. सफलता के सूत्र
25. सर्वोदयी नैतिक धर्म
26. संस्कारादित्य
27. हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1. अक्षरातीत
2. कल्याणी
3. चैन की जिंदगी
4. ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5. मुक्ति दूत के मुक्तक
6. हाइकू
7. हीरों का खजाना
8. संस्कार वाटिका

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. चौसठऋद्धि विधान
4. णमोकार महार्चना
5. दुःखों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)
6. यागमंडल विधान
7. समवशरण महार्चना
8. श्री नंदीश्वर विधान
9. श्री सम्मेदशिखर विधान
10. श्री अजितनाथ विधान
11. श्री संभवनाथ विधान
12. श्री पद्मप्रभ विधान
13. श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)
14. श्री चंद्रप्रभ विधान
15. श्री पुष्पदंत विधान
16. श्री शांतिनाथ विधान
17. श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान
18. श्री नेमिनाथ विधान
19. श्री महावीर विधान
20. श्री जम्बूस्वामी विधान
21. श्री भक्तामर विधान
22. श्री सर्वतोभद्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य जी)
3. आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)
4. कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)
6. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7. चार श्रावकाचार संग्रह
8. जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9. जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)
10. जिन सहस्रनाम स्त्रोत
11. तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)
12. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13. तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)
14. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15. तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)
16. तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17. धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
18. धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)
20. नीतिसार समुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदी स्वामी जी)
21. पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)
22. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23 पंचरत्न
24. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी जी)
25. मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)
26. भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी जी स्वामी)
27. भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)
28. मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्ति स्वामी जी)
29. योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबालचंद्र जी)
30. योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31. रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)
32. वसुऋद्धि
    - रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)
    - स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
    - पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)
    - इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
    - लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)
    - वैराग्यमणि माला (आ. श्री विशाल कीर्ति जी)
    - अर्हत प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)
    - ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33. सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगति स्वामी जी)
34. सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35. समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
36. समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37. सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय जी)

प्रथमानुयोग साहित्य

1. अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)
2. आराधना कथा कोष (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3. करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)
4. कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)
6. चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7. चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)
8. चेलना चारित्र
9. चंद्रप्रभ चरित्र
10. चौबीसी पुराण
11. जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
12. त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
14. धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15. धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
16. नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17. नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)
18. प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19. पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)
20. पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21. पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)
22. पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23. भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)
24. भद्रबाहु चरित्र
25. मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
26. महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27. महापुराण (भाग 1-2)
28. महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29. मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)
30. यशोधर चरित्र
31. रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)
32. रोहिणी व्रत कथा
33. व्रत कथा संग्रह
34. वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35. विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)
36. वीर वर्धमान चरित्र
37. श्रेणिक चरित्र
38. श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39. श्री जम्बूस्वामी जी चरित्र (श्री वीर कवि)
40. शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41. सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)
42. सम्यक्त्व कौमुदी
43. सती मनोरमा
44. सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45. सुरसुंदरी चरित्र
46. सुलोचना चरित्र
47. सुकुमाल चरित्र
48. सुशीला उपन्यास
49. सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बैरया)
50. सुभौम चरित्र
51. हनुमान चरित्र
52. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण
   - मृत्युंजय (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्त्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्त्रानाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   - भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल))
   - शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   - सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)
5. कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)
6. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला) (पुं. प्रवर दौलतराम जी)
7. दिव्य लक्ष्य (संकलन-हिंदी पाठ, स्तुति आदि)
8. धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
10. भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11. विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13. संसार का अंत
14. स्वास्थ्य बोधामृत

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1. आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)
2. अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3. पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)
4. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5. दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्वनंदनी, वर्चस्वनंदनी)
6. स्मृति पटल से भाग 1-2 (आ. श्री वर्धस्वनंदनी)
7. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
8. गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)
9. परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
10. स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)
11. स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
12. हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)
13. वसु सुबंध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद्र जी जैन)
14. समझाया रविन्द न माना (सचिन जैन 'निकंज')